बहिरङ्ग–योग

(FIRST STEPS TO HIGHER YOGA)

ब्र० स्वामी व्यासदेव

ॐ

बहिरङ्ग-योग

अर्थात्

यम : नियम : आसन : प्राणायाम : प्रत्याहार
सम्बन्धी पुरातन व पूर्ण विज्ञान

('आत्म-विज्ञान' प्रथम खण्ड)

प्रणेता

राजयोगाचार्य

बाल-ब्रह्मचारी श्री स्वामी व्यासदेव जी महाराज

'आत्म-विज्ञान' के प्रणेता

प्रकाशक

योग निकेतन ट्रस्ट

गंगोत्री

उत्तरकाशी (हिमालय)

स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश (उत्तराखण्ड)

प्रकाशक

योग निकेतन ट्रस्ट

गंगोत्री

उत्तरकाशी, (हिमालय)

स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश (उत्तराखण्ड)

प्रथम संस्करण

१९६१

मूल्य

रुपये १०)

मुख्य विक्रेता

गोविन्दराम हासानन्द

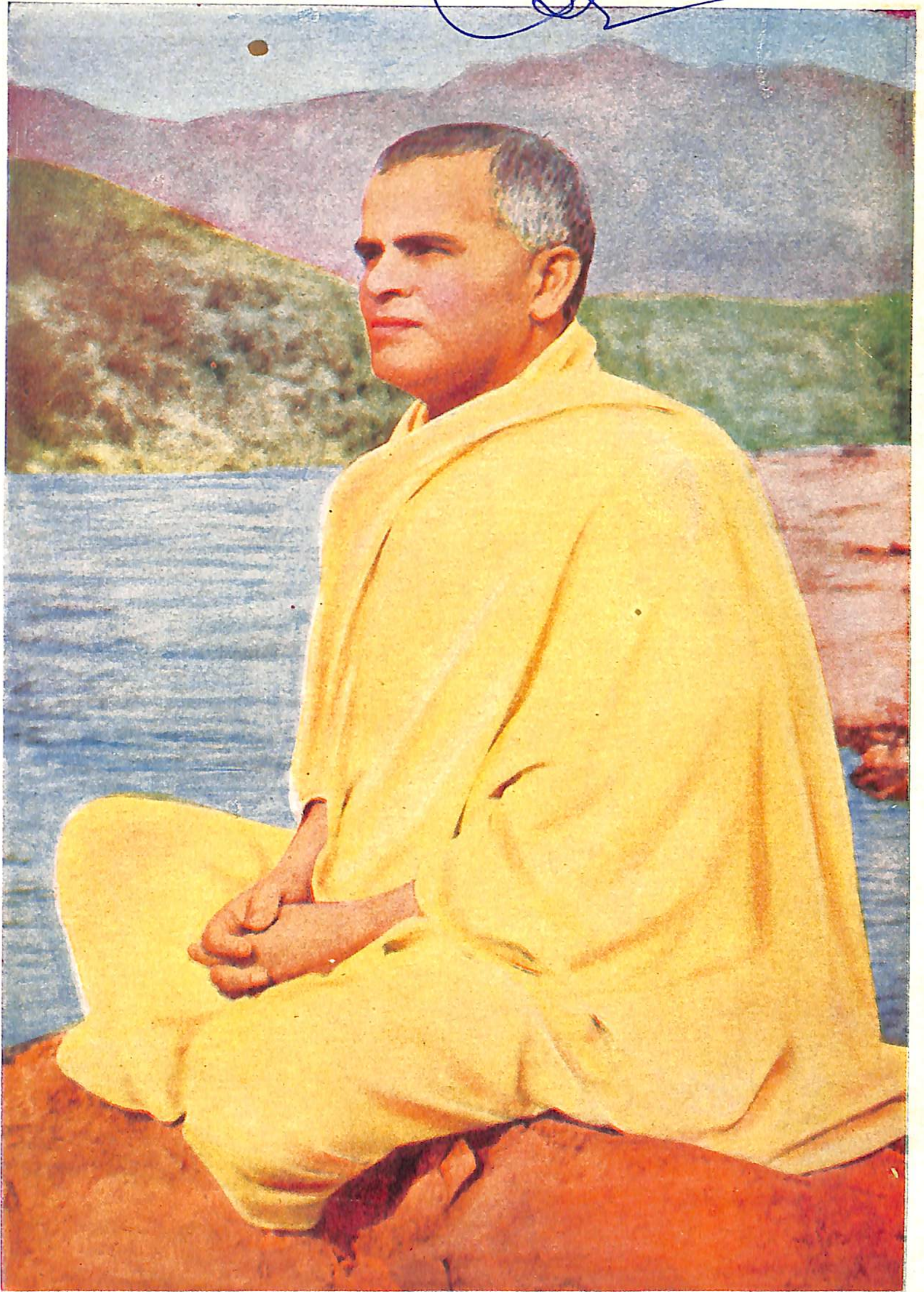
४४०८, नई सड़क दिल्ली

मुद्रक

हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वीन्स रोड, दिल्ली

व

न्यू इंडिया प्रेस, कनाट सर्कस, नई दिल्ली



ब्रह्मचारी श्री स्वामी व्यास देव जी महाराज

ॐ

प्रकाशक की ओर से

वेदों में आत्मा-परमात्मा, जड़-चेतन, लोक-परलोक, धर्माधर्म आदि लौकिक-अलौकिक विषयों के सम्बन्ध में कथित यथार्थता का दर्शन योग के द्वारा मानव कर सकते हैं; तथा त्रिगुणों के विकारों-सहित प्रकृति और आत्मा के स्वरूपों का 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' के द्वारा निर्भ्रान्त निश्चय कर सकते हैं। धर्माधर्म, पुण्यापुण्य, शुभाशुभ कर्मों के फल देने की रीति आदि को प्रत्यक्ष करके निजी जन्मान्तर का भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है। योग हमें वह 'दिव्यदृष्टि' प्रदान करता है जिसके द्वारा हम सांसारिक बाह्य-समस्याओं के साथ आन्तरिक शङ्काओं का समाधान यथार्थतः प्राप्त करते हुए, अतीन्द्रिय तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रचलित विविध मान्यताओं से उत्पन्न विवादों को सरलता से समाप्त कर सकेंगे; क्योंकि अन्तिम एक सत्य का निर्भ्रान्त-अटल साक्षात्कार हो जाने पर मतमतान्तरों के विवाद, झगड़े, फिर स्वतः शान्त हो जाएँगे। योगानुष्ठान का मुख्य फल यही मिलता है कि योगी को भौतिक-अभौतिक पदार्थों का साक्षातकार होकर, प्रकृति-पुरुष के यथार्थ-स्वरूपों के दर्शन से, प्रकृति के कष्टमय बन्धन से छूटकर, परमानन्दमय धाम 'मोक्ष' में स्थान मिल जाता है।

योग के ऊपर-कथित इस उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग देने की दृष्टि से ही 'आत्म-विज्ञान' ग्रन्थ लिखा गया था, जो सम्प्रति उपलब्ध होनेवाले योग के ग्रन्थों में सर्वथा अनूठा तथा शिरोमणि-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता बालब्रह्मचारी श्रद्धेय स्वामी श्री व्यासदेव जी महाराज, योगीराज, गङ्गोत्री वाले हैं। 'आत्म-विज्ञान' क्या है? "आन्तरिक सूक्ष्मतम गूढ़ रहस्यों की ऐसी उत्तम, सरल, सरस, मनोरम तथा स्पष्ट व्याख्या" है, जिसे देखकर अपने पास रखने की प्रबल इच्छा हो जाती है। योगनिकेतन-ट्रस्ट ने इसे प्रकाशित करके अपना कर्तव्य पूर्ण कर दिया था; इसमें अष्टाङ्गयोग के अन्तरङ्ग धारणा, ध्यान, समाधि, संयम अङ्गों पर विशेष प्रकाश डाला गया है; जिससे योग के उच्चसाधक 'आत्म-विज्ञान' ग्रन्थ को अपना पथ-दर्शक बना सकें।

परन्तु जनता की माँग पर, साधकों की सुविधा के लिए योग के प्रथम पाँच बाह्य अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार का व्याख्यान, 'आत्म-विज्ञान'

के प्रथमखण्ड इस 'बहिरङ्ग-योग' नामक ग्रन्थ में है। इसे प्रकाशित करते हुए 'ट्रस्ट' को हर्ष है कि उसने साधकों की एक अन्य आवश्यकता की पूर्ति की है। जैसे दृढ़ नींव पर ही नूतन निर्माण चिरस्थायी रहता है, इसी प्रकार इन पाँच अङ्गों का यथार्थ-रूप से आचरण करने वालों के लिए योग का यह दुर्गम-पथ सुगम्य बन जाता है। इसलिए इन अङ्गों का अभ्यास करना अनिवार्य है। यह जानकर पाठकों को भी हर्ष होगा कि 'बहिरङ्ग-योग' ग्रन्थ के रचयिता भी श्री योगीराज व्यासदेव जी महाराज ही हैं।

साधारण गृहस्थ नर-नारी जो अपनी दुर्बल रोगी काया, निस्तेज इन्द्रियगण, चञ्चल मन-बुद्धि के कारण दैनिक सुख-शान्ति से भी वञ्चित हैं, वे इस ग्रन्थ-कथित साधनों से अपने थके-माँदे देहों को आसनों के दैनिक अभ्यास से दृढ़ तथा स्फूर्तिमान् बना कर; प्राणायामों को करते हुए इन्द्रियों की क्षीण हुई शक्तियाँ पुनः प्राप्त करके; मन, बुद्धि की खोई हुई एकाग्रता को— जोकि प्रत्येक छोटे-बड़े दैनिक धन्धों में भी प्रयुक्त होती है, सम्पादित करते हुए सांसारिक सुख का उपभोग कर सकें, इस ग्रन्थ के प्रकाशन का यह भी एक प्रयोजन है। इस प्रकार रोगी रोगमुक्त होकर, दुर्बल सबल बनकर, तथा बलिष्ठ व्यक्ति शीघ्र गति से चलकर योग के द्वारा अपने अन्तिम लक्ष्य आत्मा-परमात्मा को प्राप्त कर सकेंगे, हम ऐसी आशा करते हैं।

ऐसा सूचित करते हुए भी हमें हर्ष हो रहा है कि इस ग्रन्थ से बालक, वृद्ध, युवक, रोगी, स्वस्थ, गृहस्थ, वनस्थ, संन्यासी, ब्रह्मचारी तथा सर्वसाधारण-जन लाभान्वित हो सकेंगे।

परमदेव !

ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

—योगनिकेतन ट्रस्ट

शुभ आशीर्वाद

प्रस्तुत 'बहिरङ्ग-योग' ग्रन्थ के निर्माण में निम्नलिखित मेरे शिष्यों ने निम्न रूप में सहयोग दिया है। तीन वर्ष की कठिन योग-साधना के अनन्तर आसन-प्राणायाम आदि के चित्रों में प्रिय ब्र० प्रेमवर्णी जी, प्रिय ब्र० श्रीकण्ठ जी, प्रिय ब्र० सुन्दरानन्द जी ने कार्य किया है। ग्रन्थ संशोधन तथा प्रतिलेखन प्रिय ब्र० जगन्नाथ जी 'पथिक' ने किया है। मुद्रण-कार्य प्रिय विश्वेश्वरनाथ जी दत्त, प्रिय ओम्प्रकाश जी सूरी (दैनिक मिलाप, नई दिल्ली) तथा प्रिय रामकिशोर जी ने किया है। मैं हार्दिक आशीर्वादसहित अन्तर्यामी भक्तवत्सल भगवान् से इनके कल्याण की प्रार्थना करता हूँ।

दीपमाला सं० २०१७ वि०
योग-निकेतन, उत्तर काशी

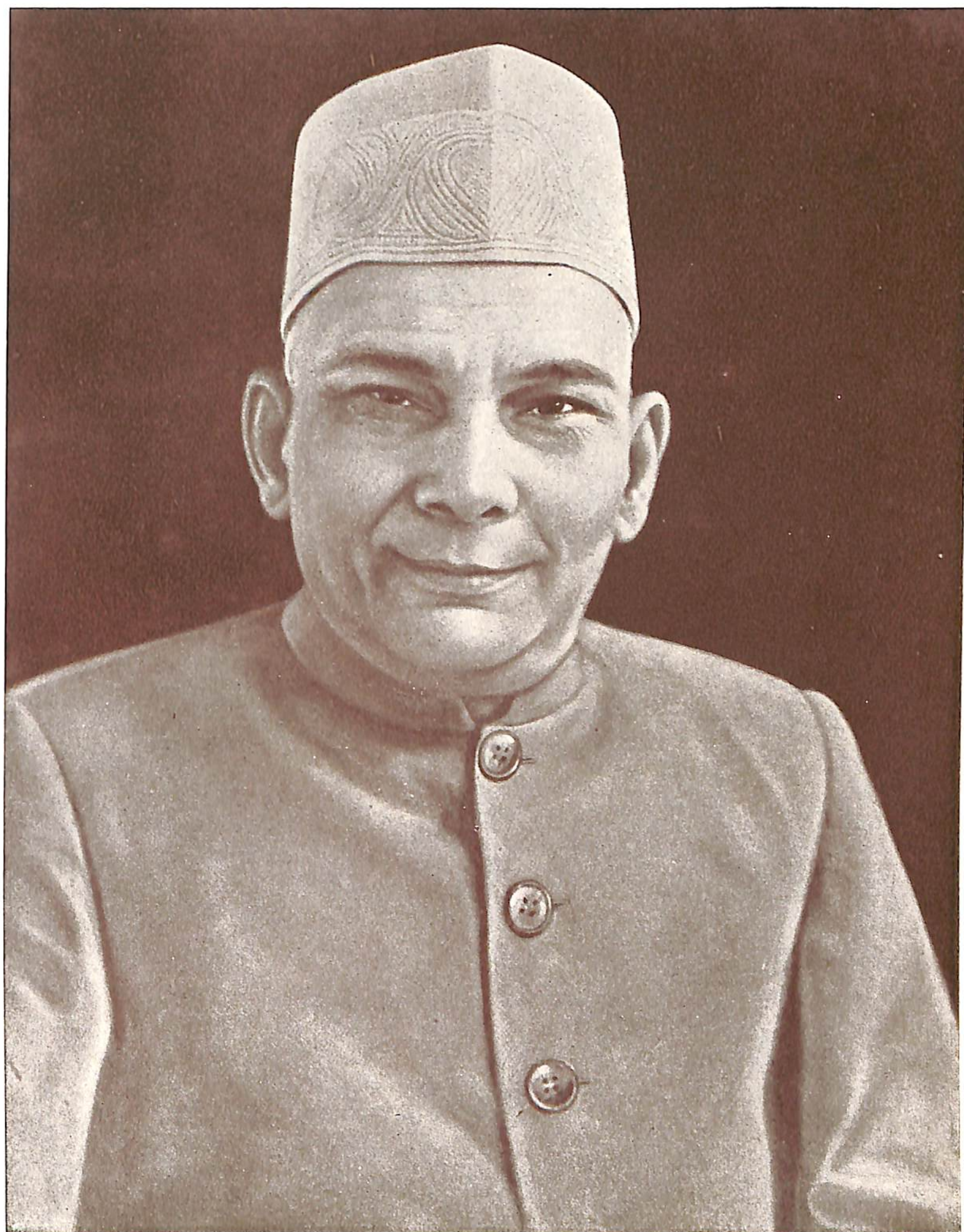
—व्यासदेव

विशेष आशीर्वाद

गृहस्थ-शिष्यों में मेरे सर्वप्रथम शिष्य सेठ तुलसीराम देवीदयाल जी बम्बई निवासी थे। आप अच्छे धनाढ्य होते हुए भी धर्मात्मा, दानी, योगमार्ग के पथिक तथा ईश्वर-भक्त भी थे। जोकि ९ अप्रैल सन् १९६० में परलोक गमन कर गए। इस 'बहिरङ्ग-योग' ग्रन्थ के प्रकाशन का सब व्यय श्री सेठजी अपने जीवन काल में ही दे गए थे। इन दिवङ्गत आत्मा की सद्‌गति के लिए भगवान् से प्रार्थना करता हूँ। सेठजी के सुपुत्र तथा अपने प्रिय शिष्य ओम्प्रकाश जी और प्रिय अमीरचन्द आदि के कल्याण की मैं हार्दिक कामना अन्तर्यामी, भक्तवत्सल प्रभु से करता हूँ।

दीपमाला सं० २०१७ वि०
योग-निकेतन, उत्तरकाशी

—**व्यासदेव**



स्व० सेठ तुलसीराम जी

विषय-सूची

ॐ

बहिरङ्ग-योग

प्राक्कथन

चिरपरिचित तथा अपरिचित अनेक मुमुक्षु ईश-भक्तों के आग्रह पर अष्टाङ्गयोग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार अङ्गों पर विशेष व्याख्यान करने के लिए प्रवृत्त होना पड़ा; और यह सत्य भी है कि साधारण बुद्धिवाले नर-नारी, चाहे वे युवक हों अथवा वृद्ध, उनकी योग में प्रगति इन अङ्गों पर आचरण किये बिना हो ही नहीं सकती। आत्म-विज्ञान नामक ग्रंथ तो वस्तुत: उन उच्च अधिकारियों की आवश्यकताओं को सामने रखकर लिखा गया था, जो इन बाह्य-अङ्गों का आचरण करके विशेष रूप से धारणा ध्यान, समाधियों के विषय में पथ-प्रदर्शन के इच्छुक हैं।

इस ग्रंथ में यम-नियमों के व्याख्यान के साथ आसन प्राणायामों में सहायक होने वाली उन षट्-क्रिया तथा मुद्राओं का वर्णन भी कर दिया गया है जोकि हठयोग से सम्बन्ध रखती हुई इनके लिए उपयोगी हैं। यम-नियम जहाँ योग की आधारशिला हैं वहाँ ये सार्वभौम-धर्म भी हैं; इन्हें जीवन में चरितार्थ किये बिना न तो सांसारिक अभ्युदय का दर्शन हो सकता है और न मोक्ष-साधक आत्मदर्शन ही। इसी कारण यम-नियमों का समादर प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक सम्प्रदाय में समान रूप से किया जाता है। साधन चतुष्टय तथा षट्-सम्पत्ति इनके अन्तर्गत आ जाती हैं; इन अङ्गों के जीवन में चरितार्थ हुए बिना अनेक महापुरुष आध्यात्मिक-पथ से भ्रष्ट होकर पुनः सांसारिक-विषयी जीवन के गर्त में जा गिरे, ऐसा इतिहास, पुराण तथा दन्त-कथाओं से ज्ञात होता है।

महामुनि पतञ्जलि ने जनसाधारण का योग में प्रवेश कराने के लिए योग दर्शन का दूसरा पाद क्रिया-योग के वर्णन से प्रारम्भ किया है। इसी पाद में अष्टाङ्ग-

योग का वर्णन आता है तथा पांच यम और पांच नियमों को जीवन में पूर्णतया चरितार्थ कर लेने पर, इनसे प्राप्त होने वाली विभूतियों का वर्णन भी इसी पाद में है। योग के ये आठ अङ्ग आठ सीढ़ियों के समान हैं। यम-नियमों का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के साथ सम्बन्ध है, किन्तु 'आसन' का सीधा सम्बन्ध अगले सभी अङ्गों के साथ है। आसन के दृढ़भूमि हुए बिना योग (समाधियों) की सिद्धि नहीं हो सकती। समाधियों की सिद्धि के लिए स्वस्तिक, सिद्ध, पद्मासनों में से किसी एक आसन को सिद्ध कर लेना पर्याप्त है। परन्तु 'धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूल-मुत्तमम्' के अनुसार धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि का मुख्य साधक आरोग्य है। उस आरोग्य तथा दीर्घायु की और बल, पौरुष, स्फूर्ति आदि की प्राप्ति एवं संरक्षण के लिए २५० आसनों के चित्र व्याख्या सहित दिये जा रहे हैं। कुल ३०३ चित्र हैं इनके दैनिक अभ्यास से देह बलिष्ठ, कान्तियुक्त, तेजस्वी बना रहकर समाधि में बैठने की सामर्थ्य-युक्त बना रहकर––व्याधि आदि की बाधाओं को सहन करने में शक्त, पाचन शक्तियुक्त, बुढ़ापे के चिह्न––पीठ झुकने, झुर्रियाँ पड़ने आदि अनेक कष्टों से मुक्त रह सकता है। इसी दृष्टि से इतने आसनों का उल्लेख इस ग्रंथ में किया गया है।

जैसे धारणा, ध्यान, समाधियों के लिए आसन उपयोगी हैं, वैसे ही हठ-योग के षट्कर्म तथा मुद्राएं भी आसन तथा प्राणायाम-सिद्धि में अत्यन्त उपयोगी हैं। इसीलिए आसनों के साथ इनका वर्णन किया गया है। इन क्रियाओं के द्वारा देह, प्राण, इन्द्रियों की विशेष शुद्धि होती है; जिसका प्रभाव मन-बुद्धि पर भी पड़ता है, और धारणा ध्यानादि में प्रगति शीघ्रता से होने लगती है। दीर्घकाल तक समाधि में बैठने के पूर्व––वस्तिकर्म के द्वारा मल को, वज्रोली क्रिया के द्वारा मूत्र को बाहर निकाल दिया जाता है और ब्रह्मदातन-कुञ्जरक्रिया-धौतिकर्म के द्वारा आमाशय तथा अन्न-प्रणाली को स्वच्छ किया जाता है। यदि इन क्रियाओं को न किया जाय तो देह में पड़ा हुआ मल-मूत्र विकार उत्पन्न करके शरीर को रोगी बना देगा। अतः इन क्रियाओं का करना अत्यावश्यक होता है। इन क्रियाओं से होने वाले लाभ यथास्थान दिये जाएँगे।

चौथे अङ्ग प्राणायाम में ५० प्रकार के प्राणायामों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। प्राणायाम प्रकाश पर पड़े तम के आवरण को नष्ट करके मन की एका-ग्रता सम्पादन करने में अति सहायक होता है। इसके अन्यान्य लाभ भी प्राणायाम के प्रकरण में विस्तार से वर्णित होंगे। इसका प्रभाव इन्द्रिय वशित्व पर पड़ता है।

पाँचवाँ अङ्ग प्रत्याहार है। प्रत्याहार का सम्बन्ध विशेषरूप से इन्द्रिय

तथा इन्द्रियों के विषयों से है। जितना-जितना अधिकार इन्द्रियों पर होता जाता है; मन और वुद्धि पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। फलतः इन्द्रियगण पर वशित्व प्राप्त साधक समाधि का अधिकारी बन जाता है। स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियों के दिव्यादिव्य भोगों पर पूर्ण विजय इस प्रत्याहार की सिद्धि से प्राप्त होती है। परिणामतः मन, भी बिना प्रयोजन स्थूल-सूक्ष्म विषयों की ओर न स्वयं जाता है न इंद्रियों को उधर प्रवृत्त करता है——प्रत्याहार का यही स्वरूप है। अतः योगी का कर्तव्य है कि वह इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त करके आवागमन के नाशक आत्मज्ञान को प्राप्त करे। तदनन्तर, वह स्वतः ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनकर निर्वाण को प्राप्त कर लेगा।

——व्यासदेव

ॐ

यम-अहिंसा

प्रथम अङ्ग—यम

योगाङ्ग—योग के अङ्गों के विषय में आचार्यों की भिन्न-भिन्न धारणायें हैं। जैसे—

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा,
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गोयोग उच्यते।

दक्षस्मृति, अ० ७, श्लोक २।

अर्थात्—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क और समाधि ये ६ अङ्ग योग के हैं। अन्यत्—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारोऽथ धारणा,
ध्यानं समाधि योगस्य षडङ्गानि समासतः।

विष्णुपुराण, अ० ३७, श्लोक १६।

अर्थात्—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये ६ योग के अङ्ग हैं।

यम— यम कितने हैं इस विषय में भी भिन्न मत हैं। यथा—

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः,
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम्।

भागवत, सं० ३३, अ० २०, श्लो० २३।

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असङ्गता, लज्जा, संग्रह न करना, वेद-ईश्वर-आत्मा में विश्वास, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा, अभय ये १२ यम माने हैं। अन्यत्—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमाधृतिः,
दयाऽर्जवं मिताहारः शौचं चैव यम दशः। पाराशर संहिता।

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, सरलता, थोड़ा

आहार, पवित्रता ये १० यम हैं। एवम्––

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम्,
सिद्धान्त वाक्य श्रवणं ह्री मति च तपो हुतम्।
नियमा दश सम्प्रोक्ता योगशास्त्र विशारदैः।

हठयोग प्रदीपिका, उ० प्र० ३-२।

अर्थात्––तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर-आराधन, सिद्धान्त वाक्यों का सुनना, लज्जा, मति, तप यज्ञ ये नियम हैं। परन्तु हमारा प्रतिपाद्य विषय पातञ्जल योगसूत्रोक्त अष्टाङ्ग योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार हैं। (**यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि;** योग २-२९)। तथा––

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। योग, २-३०।

अर्थात्––योगदर्शनकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये ५ यम मानते हैं; हमें इन्हीं का व्याख्यान करना है। इनको सार्वभौम महाव्रत भी कहा गया है। ये महाव्रत तभी बनते है जब इन्हें जाति, देश, काल तथा समय की सीमा में न बाँधा जाय (योग, २-३१)। इसमें सर्वप्रथम अहिंसा है।

अहिंसा––अहिंसा का अर्थ है––सदा और सर्वथा किसी प्राणी का अपकार न करना––कष्ट न देना। इसीको याज्ञवल्क्य संहिता का यह श्लोक अधिक स्पष्ट करता है––

मनसा वाचा कर्मणा सर्वभूतेषु सर्वदा,
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः।

अर्थात्—देह, वाणी, बुद्धि से किसी प्राणी को किसी प्रकार से कष्ट न देना, उसका वध करना तो दूर रहा। इस कारण अहिंसा का क्षेत्र अति विस्तृत है और इसका परिपालन करना अति कठिन है। भाष्यकार व्यास का कथन है कि––

नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति,
हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशयः। (२-३५)

अर्थात्—बिना हिंसा के संसार में किसी भोगजन्य पदार्थ की उपलब्धि ही नहीं होती और शारीरिक कोई कर्म भी बिना हिंसा के नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में यह महाव्रत पूर्णरूप से आचरण में कहाँ तक आ सकता है, यह विज्ञजन स्वयं विचार सकते हैं। योग की मान्यता है कि अगले सत्य आदि अङ्ग अहिंसा-सिद्धि के लिए हैं; अर्थात् मोक्षार्थी योगी प्रमाद से भी हिंसा न कर सके, इसलिए सत्य आदि का पालन आवश्यकीय होता है। इसी कारण अहिंसाव्रत अति सूक्ष्म तथा गहन है।

महाराज मनु ने अहिंसा को मोक्ष का परम साधन कहा है, यथा——

वेदाभ्यास तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः,

अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयस्करं परम्। अ० १२, श्लो० ८३।

अर्थात्—वेदाभ्यास-पठन-पाठन तथा आचरण, तपश्चरण, आत्मज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, गुरुसेवा ये मोक्ष के परम साधक हैं।

अहिंसा का विभागशः व्याख्यान निम्न प्रकार है।

'बौद्धिक-अहिंसा'——अहिंसा-हिंसा आदि का मुख्य स्रोत 'बुद्धि' है। यही भले-बुरे का निर्णय करके, वचन तथा कर्म में मन को प्रवृत्त करती-कराती है। अतः बौद्धिक-वाचिक-कायिक हिंसा का सर्वथा परित्याग कर देना ही पूर्ण अहिंसा है। **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** ऐसा साक्षात्कार हो जाने पर ही योगी पूर्ण अहिंसक बनता है। ऐसी अनुभूति से जब जीवन रंग जाता है तब किसी प्राणी के द्वारा कष्ट-अपमान-हानि पाकर भी बुद्धि में उत्तेजना नहीं होती। बदला लेने का——अपराधी को दण्ड देने का——अत्याचारी को राजदण्ड दिलाने का——अन्यायी के प्रति द्वेष का——शत्रुता करने वाले के प्रति घृणा का——आश्रम तथा वाटिका आदि को हानि पहुँचाने वाले मनुष्य, पशु, पक्षियों के वध का भाव तक उत्पन्न नहीं होता। अपना अन्न-वस्त्र-भूमि-धन-पशु आदि हरण कर लेने वाले चोर और डाकुओं के प्रति हिंसा का भाव उत्पन्न न होकर दया तथा क्षमा का भाव ही उत्पन्न होता है। तब ऐसे महानुभाव के अन्दर किसी के द्रव्यादि हरण की, बदला लेने की, अपकार करने की तथा किसी प्रकार का अनिष्ट करने की भावना उत्पन्न होगी ही क्यों? पाठकों ने अहिंसा-सिद्धि के अनेक दृष्टान्त पुस्तकों में पढ़े तथा उपदेशकों-वृद्धजनों से सुने होंगे; इसीकी पुष्टि में कुछ-एक आँखों देखे दृष्टान्त उपयोगी ही रहेंगे।

अमृतसर उच्चकोटि के महात्माओं का कभी निवास स्थान रहा है। मेरे निवासकाल में वहाँ 'झण्डू' नाम के एक महात्मा रहते थे। एक बार वे मेरे आगे-आगे सड़क पर जा रहे थे। पीछे से एक तांगा दौड़ता आ रहा था। उसे देखकर मैं एक ओर को बच गया, किन्तु झण्डू शीघ्रता से एक ओर न हट सके। पास पहुँचकर तांगेवाले ने उन पर ४-५ चाबुक जड़ दिए और गालियाँ भी देने लगा। 'अन्धा' आदि अनेक अपशब्द कहकर उन्हें अपमानित भी किया। मैंने दौड़कर घोड़े की लगाम पकड़कर तांगा रोक लिया और तांगेवाले से इस दुर्व्यवहार करने का कारण पूछ ही रहा था कि तांगेवाले को नीचे उतरा देखकर महात्मा झण्डू तांगेवाले से क्षमा मांगते हुए बोले, "मुझ से भूल हो गई जो आपका मार्ग मुझ से रुक गया।" मैं चकित रह गया और महात्माजी को कहा कि आप भी विचित्र हैं, अप-

राध तांगेवाले का है, जिसने आपको गालियाँ दीं, मारा; और उसीसे आप क्षमा मांग रहे हैं। मुस्कराते हुए झण्डू महात्मा ने उत्तर दिया, "योगदर्शन कथित महाव्रत अहिंसा के पालने का यत्न कर रहा हूँ। अहिंसाव्रत अति विस्तृत और गहनतम भी है," ऐसा कहकर मुस्कराते हुए वे चले गए।

एक दूसरे महात्मा भी अमृतसर-नहर पर रहा करते थे। इनसे भी परिचित था। उनकी जाँघ पर एक फोड़ा हो गया, जिसमें कीड़े पड़ गए थे। चिकित्सा के लिए उनसे अनुनय-विनय की परन्तु उन्होंने एक न मानी। बैठे-बैठे वे उन कीड़ों को उसी फोड़े में डालते रहते थे जो नीचे गिर पड़ते थे। मैंने एक दिन पूछा, "ऐसा आप क्यों करते हैं?" तो वे कहने लगे, "देखो भाई! किसीको उसके घर से यदि निकाल दिया जाय और उसका भोजन भी छीन लिया जाय तो उसे कष्ट न होगा? ऐसे ही इनका यह घर बन गया है और यह रक्त-मांस ही इनका भोजन बना हुआ है। इनके आहार को छीनकर घर से बाहर निकाल फेंकने से अथवा औषध द्वारा मार देने से क्या हिंसा न होगी? इनका और मेरा प्रारब्ध-भोग ऐसा ही है, समय पाकर ये स्वयं ही चले जायँगे।" और यथार्थ ही कुछ दिनों में स्वयं व्रण सूख गया। कीड़ों के पालन-पोषण के लिए ये महात्मा भिक्षा करने भी न जाते। भोजन बैठे-बैठे स्थान पर ही आ जाया करता। इन अकिंचन तथा घातक कीटों के प्रति भी दया का भाव बुद्धि में उत्पन्न हो चुका था; यह भूत-मात्र के प्रति दयाभाव-अहिंसक होने का आँखों देखा दृष्टान्त है। इस प्रकार सर्वदा, सर्वथा स्वप्न में भी हिंसा का भाव बुद्धि में उत्पन्न न होने देना अहिंसा-सिद्धि के लिए आवश्यक है। मन को कर्मप्रधान यन्त्र मानने के कारण हमने इसे बौद्धिक-अहिंसा कहा है। विवेचन करनेवाली ज्ञानप्रधाना बुद्धि का ही हिंसा-अहिंसा में विवेक करना धर्म है। 'आत्म-विज्ञान' ग्रंथ में इसका विस्तार से विवेचन कर दिया गया है। अन्तःकरण चतुष्टय के प्रकरण में यह विषय लिखा गया है। हिंसा-अहिंसा आदि के भाव चित्त में संस्काररूप से रहते हैं, बुद्धि में आकर वे अंकुरित होते और क्रमशः वाणी तथा शरीर के क्षेत्र में आकर विस्तार को प्राप्त होते हैं।

वाचिक-अहिंसा——वाचिक-हिंसा भी कई प्रकार से की जाती है; कटु वाणी से किसी का अपमान करना, गाली-गलौच करना——उत्तेजक वचन बोलना, किसीके वध की आज्ञा देना, किसीके अनिष्ट करने का परामर्श देना, आदि वाचिक-हिंसा है। ऐसी हिंसाके निवारण का उपाय है——अहिंसा का उपदेश देना, अनुद्वेग कर मधुर-स्निग्ध वचन बोलना, निश्छल वाणी का सदा प्रयोग करना तथा यथा-सामर्थ्य और समयानुसार मौन रखना। दृष्टान्तों से यह सब स्पष्ट कर देते हैं।

यथा, कटु-कठोर वचनों से प्रत्येक मनुष्य को आघात पहुँचता है, यह सभी जानते हैं। किसी शस्त्र से पहुँचा आघात समय पाकर भर जाता है परन्तु वचन-जन्य आघात जीवन पर्यन्त नहीं भरता। अपमानित होकर हमने अनेक युवक-युवतियों को आत्म-घात करते देखा और सुना तो बहुत है; पाँडवों के माया-महल को देखते समय भ्रम से दुर्योधन ने एक स्थान पर जल समझकर धोती कुछ ऊपर कर ली, दूसरे स्थान में मस्तक पर चोट लगी, तब अटारी में बैठी द्रौपदी ने अट्टहास करके कहा था कि 'अन्धों के पुत्र अन्धे ही होते हैं' इस अपमान का प्रतिकार द्रौपदी को भरी सभा में नग्न करके किया गया था। महाभारत का श्लोक है––

रोहते सयार्कैर्विद्धं व्रण परशुना हतम्,
वाचा दुरुक्तं वीभत्सं न संरोहते वाक्क्षतम्।

महाभारत, उद्योग-पर्व, ३४-७०

अर्थात्—वाणों के घाव भर जाते हैं, कुल्हाड़ी से कटा बन भी हराभरा हो जाता है, परन्तु कठोर वाग्-वाण का घाव जीवन भर नहीं भरता।

इसी प्रकार महाभारत में **'अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा'** इस वाक्-छल के द्वारा द्रोणाचार्य का हनन कराया गया था। रोगी बछड़े को, गांधीजी के आदेश से मरवाया जाना भी हिंसा थी। जब कीट-पतङ्ग से लेकर हस्तिपर्यन्त जीव-मात्र का हनन पाप है, तब छोटे-बड़े का प्रश्न छोड़कर जीवमात्र की रक्षा करना ही **'अहिंसा व्रत'** है। जीवात्मा प्राणिमात्र में एक ही समान है––किसीमें छोटा-बड़ा नहीं है। किसी कीट में और दरिद्र भिक्षुक में छोटा तथा हस्ति और धनाढ्य में जीवात्मा बड़ा नहीं है। सर्वत्र सबमें आत्मीयभाव की अनुभूति का समानभाव से होना आवश्यक है। तभी अहिंसा का सार्वभौम रूप से पालन हो सकता है। जब युधिष्ठिर ने गाण्डीव धनुष को धिक्कारा था और प्रतिज्ञाबद्ध अर्जुन युधिष्ठिर का वध करने के लिए उद्यत हुआ तब कृष्णजी ने समझाया था कि––**यत् स्यात् अहिंसा संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः'** अर्थात् जो अहिंसायुक्त है, निश्चय ही वह धर्म है।

अमृतसर में जब मैं शीतकाल में ठहरा करता था तब काष्ठमौन कर लिया करता था। काष्ठमौन के नियमानुसार अपनी किसी चेष्टा से भी किसी प्रकार के सुख-दुःख का भाव प्रकट नहीं किया जाता। अतः, मैं सायं समय जब भ्रमण के लिए निकलता, मार्ग देखने के योग्य छिद्र रखकर मुख-शिर एक कपड़े से लपेट लेता, और किसीसे बिना आँख मिलाए एकान्त-निर्जन की ओर चला जाता था। एक दिन सायं समय इसी अवस्था में ४-५ जाट मिल गए। मौनव्रत के कारण मैं उनके किसी प्रश्न का उत्तर न तो मुख से दे पाया न किसी चेष्टा से ही। इस धृष्टता से क्रोधित होकर

वे मुझे अपने ग्राम में ले आए और वहाँ के गुरुद्वारे के ग्रंथी को सौंपकर कहा कि इसे रातभर यहाँ रखो सवेरे देखेंगे। ग्रंथी साधु ने मेरे मुख पर से जब कपड़ा हटाया तो चौंक पड़ा। उनसे कहा, "बन्तासिंह तुमने महापाप किया। यह तो मोतीराम की बगीचीवाले मौनी सन्त हैं, इन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था। इन्हें तो मैं वर्षों से जानता हूँ'। वे बहुत लज्जित हुए। ग्रंथी उन्हीं के घर से दूध लाया और बिस्तरा दिया और कहने लगा, "ये बड़े गुण्डे हैं, आप आराम करके प्रातः चले जाएँ।" मैं प्रातः अपने स्थान पर चला आया। तात्पर्य यह है कि अहिंसा का प्रभाव लुटेरों पर भी पड़ता है। अतः यदि बोले तो सदा अहिंसा से युक्त, मधुर, प्रिय, स्निग्ध, हित-कारी, हर्षदायक, उत्साहवर्द्धक वचन ही बोले; अन्यथा **'मौनं सर्वार्थ साधकम्'** के अनुसार मौन रहे। मौन से वाचिक-हिंसा से बचत रहती है।

शारीरिक-अहिंसा—यदि बौद्धिक और वाचिक- अहिंसा का अभ्यास हो जाय तब शारीरिक-हिंसा रुक जाती है। शारीरिक-हिंसा का तात्पर्य है, किसी प्राणी को शरीर से पृथक् कर देना—मार डालना। किसी प्राणी का वध किया जाता है किसी स्वार्थवश; जैसे अन्न के अभाव में भूख मिटाने के लिए किसीको मार डालना, आत्मरक्षा के लिए वध कर देना, स्वाद लोलुपतावश जीव हिंसा करना, अर्थ तथा कामपूर्ति के लिए प्राणघात करना-कराना आदि-आदि। मनु महाराज का आदेश है—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्म सुखेच्छया,
स जीवंश्च मृतश्चैवं न क्वचित्सुखमेधते। मनुः ५-४५।

जो हिंसा न करनेवाले जीवों का आत्मसुख के लिए वध करता है वह न तो इस जीवन में सुख पाता है और न मरने के पीछे ही। यह श्लोक बहुत-कुछ हिंसा के विषय को स्पष्ट कर देता है। खालें बेचकर धन कमाने के लोभसे; जिह्वा-लौल्यवश मांस खाने के लिए; कामतृप्ति के लिए किसी का वध करना अथवा कराना, पाप ही नहीं 'महापातक' है। जब पैर में काँटा व फाँस चुभ जाने मात्र से इतना बड़ा शरीर काँप उठता है तब प्राणघात के समय उस प्राणी को कितना कष्ट होता होगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

एक बार मैं कश्मीर गया हुआ था। भ्रमण के समय २-४ पण्डित भी साथ थे। अचानक हम वहाँ जा निकले जहाँ सैंकड़ों बकरे-बकरियाँ मांस-आहारियों के लिए काटी जाती थीं। हमने उस कसाई को बुलाकर पूछा कि तुम हमारे सवाल का जवाब खुदा को हाज़िर-नाज़िर समझकर दो तो हम एक बात तुमसे पूछें। उसके हामी भरने पर मैंने पूछा, "इन जीवों को काटते समय तुम्हें कभी डर या दिल

में कुछ दर्द या रहम भी पैदा होता है ?" उसने उत्तर दिया, "साईंजी, होता तो सब-कुछ है; लेकिन बीवी बच्चों और इस पेट को पालने के लिए करना पड़ता है। मेरी रूह तो इस बात से काँपती है।" मनुस्मृति में आठ प्रकार के कसाई (बधक) गिनाये हैं--

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेतिघातकाः॥ मनु: ५-५१।

अर्थात्—मारने में अनुमति देनेवाला, मृतक के अङ्गों को काटनेवाला, प्राण से मुक्त करनेवाला, मोल लेने और देनेवाला, पकाने तथा खाने वाले ये सभी पापी और अपराधी हैं।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैर त्यागः। योग, २-३५

सूत्र कहता है कि अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा जीवन का अङ्ग बन जाने पर, उस व्रती के सम्पर्क में आने से हिंस्र पशु भी हिंसा त्याग देते हैं; यह अहिंसा का माप-दण्ड है। इस माप-दण्ड के अनुसार गांधीजी भी अहिंसा में पूर्ण प्रतिष्ठित नहीं हुए थे; अन्यथा हत्यारे का पिस्तौल हाथ से छूट जाता, गांधीजी बच जाते यदि उनकी पूर्णरूप से अहिंसा में प्रतिष्ठा हुई होती। यदि महात्मा ईसा की पूर्णरूप से अहिंसा में प्रतिष्ठा होती तो उनको सूली पर चढ़वाने का साहस न होता।

दूसरी ओर, पूज्यगुरुदेव श्री परमानन्द जी अवधूत के साथ हम दोनों ब्रह्मचारी घूमने निकले। हाथों में रक्षार्थ बड़े-बड़े दण्ड उठाये देखकर पूछने लगे, "इनका क्या करोगे?" "रक्षा के लिए", ऐसा उत्तर सुनकर चुप हो रहे। पहाड़ी पर चढ़ते हुए हम गुरुजी से पीछे रह गए। इतने में एक भालू झाड़ी से निकला और हम पर टूट पड़नेवाला ही था कि गुरुजी ने देख लिया। समीप आकर भालू की ओर संकेत करके कहा "जाओ बच्चा जाओ"। भालू हमें छोड़ कर नाचता-कूदता चला गया। केदारनाथ और बद्रीनाथ की यात्रा करते हुए तुङ्गनाथ के पास ही वन में बने एक कुण्ड से मैं जल लेने जा निकला। वहां एक महात्मा भी मुख-हाथ धो रहे थे। दूसरी ओर पानी पीने के लिए एक बाघ भी खड़ा था। मुझे देखकर बाघ दहाड़ उठा। महात्मा ने मुझे अपने पास बुला लिया और तब हाथ उठाकर बाघ को कहा, 'बच्चा शान्त हो जाओ', वह शान्त हो गया। मैं उनके पीछे-पीछे चलता कुटिया पर पहुँचा और पूछा कि यह बाघ क्या आपका पालतू है, जो आपके हाथ के इशारे से ही चुप हो गया? वे बोले, "पालतू नहीं है। प्रायः यह इसी जलाशय के किनारे मिला करता है, । मुझे आज तक इसने कुछ नहीं कहा। जब हम इसका अनिष्ट नहीं चाहते तो यह हमारा अनिष्ट क्यों चाहेगा? प्रतीत होता है आप पूर्ण अहिंसा व्रती नहीं बने हैं।"

आज से लगभग ९-१० वर्ष पूर्व की बात है। ऋषिकेश स्वर्गाश्रम में ही रह रहा था। प्रातः वन में भ्रमण करने नित्य जाया करता था। भ्रमण से लौट रहा था। प्रातः के ९ बजे थे, मार्ग से कुछ हटकर एक बाघ मारी हुई गाय को खा रहा था। जब मैं उन दोनों के पास पहुँचा तब मांस खाना त्याग कर वह बाघ मुझे देखता रहा। फिर कुछ देर के पीछे कुछ दूरी पर जाकर खड़ा हो गया। मैं भी कुछ दूर जाकर फिर वहाँ पर आया तो वह उस गौ को छोड़कर कुछ दूर पर जा बैठा। मुझे उसने कुछ नहीं कहा, अन्यथा ऐसे अवसर पर ऐसे हिंस्र पशु तुरंत आक्रमण कर देते हैं।

हरिद्वार में, मोहन आश्रम के पास बने पातंजल आश्रम में रह रहा था। आश्रम पुराना होने के कारण जीर्ण हो गया था, बिच्छू आदि अधिक रहने लगे थे। रात्रि को लालटैन जलाकर जब मैं दूध गरम करता तब लालटैन के पास ५,७,१० और कभी-कभी इससे भी अधिक बिच्छू आ जाते और खेलते रहते। मैं भी उनकी क्रीड़ा देखता रहता। वर्षा ऋतु भर ऐसा होता रहा, पर मुझे उनमें से किसी ने भी नहीं काटा।

योग सूत्रोक्त सार्वभौम अहिंसा व्रत का प्रतिपादन केवल उन मोक्षार्थी जनों के लिए किया गया है जो इहलौकिक भौतिक भोगों से परितृप्त वा विरक्त होकर केवल आत्म-परमात्म-चिन्तन में रत रहना चाहते हैं। यही कारण है कि अन्यत्र धर्म-ग्रन्थों में अहिंसा के लिए ही नहीं, यम-नियमों के विषय में भी वर्ण-आश्रम तथा जाति, देश, काल के भेद से इनके आचरण करने का विधान मिलता है। मोक्षार्थी संन्यासी के लिए आवश्यक है कि वह जाति, देशकाल का, हानि-लाभ का, मान-अपमान का, जीवन-मरण का विचार किये बिना अहिंसा आदि व्रतों का पालन मन, वचन, कर्म से करे। परन्तु गृहस्थी योगी इतना नहीं कर सकता; उसके लिए ऐसा कर सकना सम्भव ही नहीं हैं। चक्की, चूल्हा, अन्न भण्डार, जल स्थानों में कीट-पतङ्ग-चीटियों का बध अनायास, अति सावधानी बरतने पर भी होता रहता है। ऐसी हिंसा की निवृत्ति के लिए शास्त्रों में पंचमहायज्ञों को नित्य करने का विधान है; अग्निहोत्र करने वाला ब्राह्मण, प्रजारक्षक राजा और राजपुरुष, कृषि और व्यापार करने-कराने वाला वैश्य, सेवा-कर्म निरत शूद्र तथा लोहार-तरखान (तक्षक) इंजिनियर, सेना आदि ये सब अहिंसक रह ही नहीं सकते। इसीलिए स्मृतियों में इनके वर्ण-धर्म पृथक्-पृथक् हैं; आश्रम-धर्म भी पृथक्-पृथक् नियत हैं। हिंस्र तथा खेती-बाड़ी को नष्ट करने वाले पशु-पक्षियों को मार देना राजपुरुषों के लिए धर्म है। यदि नहीं मारते तो स्मृतिकारों की दृष्टि में ये अपराधी हैं। गृहस्थी, राजा आदि को हानि-लाभ का

सन्तुलन करना होता है । मनुष्य वा पशु-भक्षक सिंह व्याघ्र आदि को प्रजा की रक्षार्थ मार देने में लाभ है एवं कृषि को उजाड़ने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि का वध करना श्रेष्ठ है । प्रजा पीड़क दस्यु-डाकू, शत्रु आदि को मारकर अनन्त प्रजा की रक्षा में धर्म अधिक है--पाप अति-न्यून है । इस प्रकार सर्वत्र लाभ-हानि का सन्तुलन करते हुए ही संसारी जनों को चलना होता है । इसी बात को दृष्टि में रखकर आप्तजनों ने व्यक्ति और समाज के कर्तव्य कर्मों का विस्तार से स्मृति आदि शास्त्रों में वर्णन कर दिया है । यथा **'आयान्तं आततायिनं हन्यात्'** तथा वेदों में भी अपनी तथा प्रजा की रक्षा करना धर्म है--अनेक सूत्र ऐसा ही प्रतिपादन करते हैं । कई बार किसी महा-पुरुष की, राजा-राजपुरुष-सेनानायक की, किसी वैज्ञानिक, योगी आदि की रक्षार्थ अनेक प्राणियों की आहुति दे देनी पड़ती है । कई बार सैंकड़ों की अपेक्षा एक व्यक्ति का महत्त्व तुच्छ हो जाता है । इस भाँति सांसारिक क्षेत्र में यम-नियमों का महत्त्व प्रायः हानि-लाभ को समक्ष रखकर आंका जाता है; परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसा नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोत्तम अहिंसापालक संन्यासी होता है--हो सकता है; दूसरी श्रेणी में ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी, तृतीय श्रेणी में गृहस्थी, और चौथी श्रेणी में राजकर्मचारी तथा राजा को गिना जा सकता है ।

वितर्का हिंसादयः कृतकारित अनुमोदिता, लोभ क्रोध मोह पूर्वका,
मृदु मध्याधिमात्रा, दुःखाज्ञानानन्त फला, इति प्रतिपक्षभावनम् ।

यह योग के दूसरे पाद का ३४वां सूत्र है । यम नियमों के विरोधी हिंसा, असत्य आदि को इस सूत्र में 'वितर्क' कहा गया है--अर्थात् ये धर्म के विरोधी अधर्म हैं । ये वितर्क तीन प्रकार के होते हैं, स्वयं करना--किसी दूसरे से कराना तथा दूसरे से किये का अनुमोदन करना--उसे सराहना । इनके कारण लोभ, क्रोध, मोह, उत्पन्न होते हैं अथवा ये हिंसादि कुकर्म, लोभ, क्रोध, मोह से उत्पन्न होते हैं। ये हिंसा आदि थोड़ी तथा लघुमात्रा में होने से मृदु, मध्यम तथा उग्र अति कठोर अवस्था वाली अधिमात्र कही जाती हैं; जिनका अनन्त फल अति अज्ञान, कष्टादि रूपों में मिलता है । इस प्रकार के विवेचन से योगी पाप-कर्म से बचा रहता है। इस प्रकार हिंसादि करने से पूर्व योगी को इन सब प्रकारों को समक्ष लाकर इन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । इसे यों समझिए कि यह हिंसा, स्वयं किसी को मारना तथा दूसरे से वध करा देना, फिर उसकी प्रशंसा करना, इस रूप से तीन प्रकार की है। फिर यह नौ प्रकार की हो जाती है जैसे, मृगचर्म आदि के लोभ से, हानि पहुँचाने वाले को क्रोध से, तथा अपने परिवार, देवी-देवता की बलि के लिये अथवा यज्ञादि के लिए मोहवश किसी पशु आदि का वध कर देना । फिर यह २७ प्रकार की हो जाती है जैसे,

मृदु, मृदुमध्य, मृदु अधिमात्र ; मध्यमृदु, मध्य-मध्य, मध्य अधिमात्र ; अधिमात्र मृदु, अधिमात्र मध्य, अधिमात्र-अधिमात्र; किसी प्रकार के हिंसक संस्कारों के वितर्क उपस्थित होने पर इन के विपरीत ऊपर के सूत्र में कथित विपरीत भावनाओं को दृढ़ करने के प्रयत्न तथा सात्त्विक धारणा से ये कुसंस्कार हटते चले जायेंगे; अन्यथा अज्ञान तथा अनन्त कष्ट बने ही रहेंगे। आत्म-ज्ञानार्थियों को तो **'प्राणघान्निवृत्ति'** पर सदा-सर्वदा, सोते-जागते आचरण करना चाहिए, ऐसा आदेश आप्तजनों का है। ऐसा करने से **'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम्'** इस श्रुतिवचन के अनुसार सब प्राणी आपको, और आप सब प्राणियों को मित्रवत् जानेंगे, तब भय रहेगा ही कहां! इस प्रकार अहिंसा में स्नात योगी के हृदय से, वचन और कर्म से जब प्राणीमात्र के लिए स्नेह, कोमलता, मधुरता, दया, अभय, कल्याण का प्रवाह बहेगा––बहता रहेगा। यजुर्वेद की इस श्रुति के अनुसार उच्च स्थिति प्राप्त होगी––

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूतविजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ यजु:, ४०-७।

अर्थात्—अहिंसक व्रती योगी जब सर्वभूतों-प्राणियों के प्रति आत्मभाव भावना दृढ़ कर लेता है, तब उससे ऐसा कोई कर्म नहीं होता जिसके लिए उसे शोक अथवा मोह—सन्देह उत्पन्न हो। ऐसी उच्च अवस्था प्राप्त करना मानव-मात्र का लक्ष्य होना चाहिए।

द्वितीय अङ्ग—सत्य

—सत्य यमों का दूसरा अङ्ग है। योग, पाद २, सूत्र ३० पर भाष्य करते हुए सत्य का लक्षण तथा स्पष्टीकरण इस प्रकार करते हैं––

सत्यं यथार्थे वाङ् मनसे; यथा दृष्टं यथाऽनुमितं तथा वाङ् मनश्चेति। परञ्च स्वबोध संक्रान्तयेवागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्ति-वन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, इत्यादि।

जिसका अर्थ है कि––मन-वचन-कर्म में जो समान रहे; अर्थात् अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होना, जैसा देखा और अनुमान करके बुद्धि से निर्णय किया अथवा सुना हो वैसा ही वाणी से कथन कर देना और बुद्धि में धारण करना। अपने ज्ञान के अनुसार दूसरे व्यक्ति को ज्ञान कराने में कहा हुआ वचन, यदि धोखा देनेवाला अथवा भ्रम में डालनेवाला न होकर निर्भ्रान्त ज्ञान करानेवाला हो, तभी वह सत्य होता है। यह वचन प्राणीमात्र के लिए उपकारी भी होना चाहिए, भूतघातक

न हो। जिस वचन से भूतों का घात होता हो वह सत्य नहीं माना जा सकता, वह पाप ही है। ऐसे पुण्य दीखने वाले सत्य से कष्ट की प्राप्ति ही होगी। अतः सब प्रकार से परीक्षा करके सर्वभूत हितकारी वचन बोलना ही सत्य है। सत्य का स्पष्टीकरण इससे और अधिक क्या हो सकता है? फिर भी अनेक अवसर ऐसे उपस्थित हो जाते हैं जब बुद्धि भ्रमित हो जाती है, सत्यासत्य का निश्चित् नियर्ण नहीं कर पाती। वहाँ पर शास्त्र तथा ज्ञानवृद्ध जनों से सहायता लेना उपयोगी रहता है और यही साधुता है, कहा है––**'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'** अर्थात् बुद्धि, वचन और कर्म-व्यवहार में एकता होना महात्मापन है। इससे विपरीत आचरण दुरात्माओं का होता है। इस प्रकार किसी बात को बुद्धि से निश्चय करना, फिर उसे वाणी द्वारा प्रकट करना और अन्त में वैसा ही व्यवहार करना पूर्ण सत्य होता है। इनमें से प्रथम है––

बौद्धिक-सत्य–––जब तक सब प्रकार से निश्चय करके बुद्धि किसी बात को स्वीकार नहीं कर लेती, तब तक बोलना तथा व्यवहार करना कई बार असम्भव हो जाता है। रजस्-तमस् प्रधाना बुद्धि सत्यासत्य का पूर्ण-निश्चयात्मक निर्णय नहीं कर पाती। जिन महापुरुषों ने अपने साक्षात्कार के आधार पर तथा तर्क और आप्त प्रमाणों के आधार पर सत्य को जाना और माना, वे सांसारिक प्रलोभनों अथवा भयों में भयंकर मृत्यु-भय दिखाने पर भी उसे त्यागने को उद्यत न हुए; ऐसे उदाहरणों की न्यूनता नहीं है। लौकिक तथा पारलौकिक क्षेत्रों में ऐसे ज्वलन्त जीवन प्रत्येक जाति, देश और काल में देखे जाते हैं––इतिहास तथा दन्तकथायें इनका यशोगान करते आ रहे हैं; इनके दृष्टान्तों पर तो एक पृथक् महान् ग्रंथ लिखा जाय तब भी अनेक उज्ज्वल जीवन बच रहेंगे। धर्म, देश, जाति, राष्ट्रों के नेता अपने बौद्धिक सत्य के आधार पर सांसारिक पाशविक महान् शक्ति के समक्ष भी न झुककर प्राणों की आहुति प्रसन्नतापूर्वक देने से कभी न हिचके, न झिझके। बुद्धि और शरीर से प्रौढ़, बलिष्ठ पुरुषों को छोड़ भी दें तो बालक हकीकत जैसे तेजस्वी जीवनों को तो कभी ओझल नहीं किया जा सकता, जो बुद्धि, बल और देह से सुकुमार था। यहाँ निश्चयात्मिका-स्थितप्रज्ञा ही कार्य कर रही थी। राग-द्वेष से रहित बुद्धि द्वारा किया गया निश्चय यथार्थ अथवा सत्य होता है; ऐसे सत्य के आधार पर किया गया लेन-देन का, क्षमा और दण्ड का, वचन आदि का व्यवहार प्रशस्त एवं प्रशंसनीय होता है, निर्भयता तथा यश और आत्म-सन्तोष देनेवाला––धर्म होता है। धर्माधर्म, सत्यासत्य, वाद-प्रतिवाद आदि में सन्तुलन करके निर्णय कर लेना ही सत्य है, और यह काम बुद्धि का है। अतः बुद्धि में निश्चयात्म हो जाना बौद्धिक

सत्य है। इसीके आधार पर आगामी दोनों प्रकार के सत्यों का अस्तित्व है। बौद्धिक-सत्य-निष्ठा पर ही वचन और व्यवहार में सत्य की प्रतिष्ठा होती है; पर आधार-शिला तो बुद्धि ही है। इसलिए योगी हो या भोगी, जो भी सत्यासत्य का निर्णय करके वचन बोलेगा, तदनुसार कर्म करेगा, वह सफल होगा, यशस्वी तथा श्रद्धेय बनेगा।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम् । योग २-३६ ।

यह सूत्र स्पष्ट कह रहा है कि सत्यनिष्ठ व्यक्ति का वचन सदा फलीभूत होता है। अतः अब वाचिक-सत्य के विषय में लिखते हैं।

वाचिक-सत्य––बौद्धिक-सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर ही निर्भयता से सत्य भाषण भी हो सकता है; अन्यथा लोभ, क्रोध, मोह, राग, द्वेष, भय के वशीभूत होकर मनुष्य मिथ्या-भाषण तथा मिथ्या-आचरण करते देखे और सुने जाते हैं। अतः सत्य-भाषण के व्रती को यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए कि वह सत्य, मित, एवं हितभाषी हो। शास्त्रों में इसके लिए अनेक विधि-वाक्य मिलते हैं। जैसे––

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥ मनु

अर्थात्—सत्य बोले, परन्तु प्रिय शब्दों में बोले, परन्तु प्रिय लगने के लिए असत्य भाषण न करे, ऐसा पुरातन विधान है। जैसे नेत्रहीन को अन्धा कह देना सत्य है, चोर को चोर कह देना भी सत्य है––किन्तु यह अप्रिय सत्य है, इसीलिए नेत्रहीन को सूरदास, प्रज्ञाचक्षु आदि शिष्ट शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। महाभारत शान्तिपर्व में––

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम॥

ऐसा कहा है कि सत्य-भाषण तो श्रेष्ठ है ही, परन्तु प्राणीमात्र का हितकारी वचन (सत्य) कहना अधिक श्रेष्ठ है; जिससे भूतमात्र का वास्तव में हित होता है, मेरे मत में वही सत्य है। यह तो सर्वविदित तथ्य है कि सत्य-वक्ता का सब स्थानों में, सर्वसम्प्रदायों में बिना भेद-भाव के सम्मान होता है। अनुमानतः, आज से २२ लाख वर्ष पूर्व सत्यव्रती महाराज हरिश्चन्द्र भारत में हुए थे। अपने स्वप्न में वे किसी अज्ञात और अदृष्टपूर्व महात्मा को अपना सार्वभौम राज्य समर्पित कर चुके। प्रातः उठकर उन्होंने अपने मन्त्रि-मण्डल पर अपना स्वप्न प्रकट कर दिया और उस महात्मा के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे कि वे महात्मा आ पहुँचे। उन्हें राज्य सौंप कर चलने लगे तो महात्मा ने दक्षिणा का भी आग्रह किया, जो पत्नी और पुत्र को तथा निज को चाण्डाल के हाथों बेच कर अंततः पूर्ण किया गया। और भाग्य

की विडम्बना देखिए कि मरे पुत्र के दाह-कर्म के लिए श्मशान का कर भी पत्नी से माँगना पड़ा। इतने पर भी उन्होंने बौद्धिक-सत्य को नहीं त्यागा। फलतः, वचन और कर्म में सत्यपरायण सिद्ध हुए। इसी उत्कृष्ट सत्यनिष्ठा के कारण उनका अक्षय यश चला आ रहा है——और सम्भवतः प्रलय तक चलता रहेगा। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, इन्हीं के वंशज थे। महर्षि बाल्मीक ने उनके आचरण के विषय में लिखा है—**'रामो द्विर्न भाषते।'** अर्थात् राम कभी असत्य नहीं बोलता। महाभारत में ऐसा लिखा है कि धर्म-पुत्र युधिष्ठिर की सत्यनिष्ठा के प्रभाव से उनके रथ के पहिए पृथिवी-तल को नहीं छूते थे; परन्तु जब उन्होंने श्रीकृष्णजी के आदेशानुसार **'अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा'** कहा, तब से इस वाक्-छल के कारण उनका रथ भी अन्य सामान्य रथों के समान पृथ्वी से स्पर्श करता हुआ चलने लगा था। वाक्-स्खलन, असत्य-भाषण न हो, इसके लिए ही सत्य, मित, हित पर ध्यान रखना विशेष रूप से योगी, संन्यासी-ब्रह्मचारी और आत्मज्ञान के इच्छुकों के लिए आवश्यक है। वाणी का अधिक प्रयोग करनेवाले वक्ता, उपदेष्टा, अध्यापक, वकील, शास्त्रार्थी आदि, अत्युक्ति, हीनोक्ति, वितण्डा, वाक्-छल आदि के रूपों में असत्य बोल जाते हैं, जिनका उन्हें अपने आवेश में भान तक नहीं होता। भान होने पर वे गर्व के कारण उसे स्वीकार भी नहीं करते। लोभादि के बुरे अभ्यास तथा दण्ड के भय से——माता-पिता के सामने पुत्र-पुत्रियाँ, आचार्य के सामने शिष्य, स्वामी के सामने भृत्य, राज्य-पुरुष तथा न्याया-धीशों के सामने अपराधी तथा पति-पत्नी परस्पर असत्य बोल दिया करते हैं; परन्तु इन सबका सुधार हो जाता है, जब एकबार भी अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। प्राणघात के अपराध को छोड़कर राजपुरुष तथा न्यायाधीश भी, जोकि राष्ट्रनियम में बंधे होते हैं, प्रायः छोटे-मोटे अपराधों को क्षमा कर देते हैं। खेल-कूद, उपहास आदि में भी असत्यभाषण दूषण है। इसका अहितकर परिणाम भी देखने में आता है। चाटुकारिता खुशामद से दूसरों को प्रसन्न करने के लिए, रोते-हठीले बालकों को बहलाने के लिए बोले असत्य को प्रायः अपराध नहीं माना जाता, यह भूल है। इससे बालक, युवा, वृद्ध सभी के संस्कार दूषित हो जाते हैं। शास्त्र का आदेश है, निर्णय है——**'सत्यमेव जयते नानृतम्'** अर्थात्—सत्य की ही सदा जय होती है झूठ की नहीं। भूल से, प्रमाद-आलस्य से, अज्ञान तथा भय से भी अपराध हो जाते हैं। जैसे, मार के भय तथा कष्ट से झूठी साक्षी देने के लिए उद्यत हो जाना आदि अप-राध सत्य बोलने पर क्षमा कर दिए जाते हैं। यदि क्षमा न भी मिले और थोड़ा-बहुत दण्ड मिले भी तो वह सुधार का कारण बन जाता है। सत्य का परिपालन करनेवाले व्यक्ति को अपने दिये वचन का, समय का कठोरता से, दृढ़ता से पालन

करना चाहिए। हो सकता है बस तांगा आदि के अभाव में या बिगाड़ में वचन भङ्ग हो जाए, ये आकस्मिक-विघ्न तो क्षम्य होते हैं, परन्तु अपना प्रयत्न होना चाहिए। वचन देने से पूर्व, भावी के विषय में पूर्वापर का विचार कर लेना उचित होता है; परन्तु वचन दे चुकने पर ननुनच करना, अवस्था देश, काल भेद से उसे पूर्ण न करना अधर्म है––पाप है। वचन देकर पूरा न करना विश्वासघात में सम्मिलित है। सुभाषित रत्न भाण्डागार में ऐसा लिखा है––

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च तथा विश्वासघातकाः,
त्रयस्ते नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ।

अर्थात्—मित्र से द्रोह करनेवाला, कृत उपकार को न मानने वाला, विश्वास दिलाकर उससे मुकर जाने वाला, ये तीनों प्रकार के व्यक्ति जब तक चन्द्र-सूर्य उदय-अस्त होते रहेंगे। सदा नारकीय कष्ट पाते रहेंगे। वर्तमान समय में असत्य की कितनी प्रबलता है, इसे स्पष्ट करने के लिए पृथक् एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। ५०-६० वर्ष पूर्व के व्यक्ति इसे भली प्रकार जानते हैं। थोड़े में इतना ही कहा जा सकता है कि छोटे-छोटे स्वार्थों की पूर्ति के लिए छल-कपट करना, रिश्वत देना, विश्वासघात करना, समय पर वचन का पालन न करना आदि दुष्कर्मों के करने में रत्ती भर भी भय, शंका, लज्जा उत्पन्न नहीं होती। दिया समय और वचन तो नदी के जल के समान बह जाते हैं, इनका तनिक भी महत्त्व नहीं रह गया है। विशेष रूप से ऐसी घृणित अवस्था भारत-विभाजन के समय से ही दीखने लगी है। तभी से सब प्रकार के कष्ट टूट पड़े हैं, और आश्चर्य है कि इन कष्टों से पिसता हुआ भी मानव-समाज मिथ्याचार भ्रष्टाचार को त्यागने के स्थान में उससे अधिकाधिक चिपटता जा रहा है। सत्य की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है––

अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्,
अश्वमेध सहस्राद्हि सत्यमेव विशिष्यते।

अर्थात्—एक हजार अश्वमेध यज्ञों के पुण्यफलों को यदि सत्य के साथ तुला में रख कर तौला जाय तो सत्य ही भारी निकलेगा। पुराकाल में चक्रवर्ती पद पाने और दिग्विजय करने के लिए बड़े-बड़े महाराजे अश्वमेध यज्ञ किया करते थे जिनमें दी जानेवाली दान-दक्षिणा महान् होती थी।

सत्य-भाषण में अनेक गहन समस्यायें भी उपस्थित हो जाती हैं। ऐसा एक दृष्टान्त प्रायः सुनने में आता है और वह यह है––किसी बनवासी साधु के सामने से एक हरिण भागता हुआ चला गया, इसी समय एक शिकारी उसका पीछा करता हुआ आया और उसने हरिण के जाने की दिशा के विषय में पूछा। महात्मा ने हरिण

को जाते हुए देखा है, ऐसी दशा में यदि वह व्याध को हरिण का पता देता है तो हरिण मारा जाता है, यदि नहीं बताता तो असत्यवादी बनता है (मौनं अर्द्धस्वीकारे)। इस प्रकार बतलाने पर हरिण और न बतलाने पर व्याध भूखा मरता है। हरिण को देख कर मौन हो जाने पर भी व्याध भूखा मरता है। ऐसी अवस्था में **'यथा दृष्मट'** के अनुसार वह महात्मा यदि हरिण का पता बता देता है तो यह सत्य ही है। उसे लाभ-हानि देखे बिना सत्य कह देना चाहिए। दूसरी अवस्था में व्याध यदि बच जाय तो भविष्य में ऐसे पापकर्म को त्याग कर वह सुधर भी सकता है; जैसे बाल्मीकी, ऋषि बन गये थे।

एक बार अमृतसर स्टेशन पर सहस्रों नर-नारियों के समक्ष महात्मा गांधीजी ने कहा था कि पाकिस्तान बनेगा तो मेरी क़ब्र पर। दैवयोग देखिये; पाकिस्तान बन गया, परन्तु उनकी समाधि (कब्र) भारत में ही बनी है। सत्यव्रती योगी तथा सत्यव्रती गृहस्थी के व्रत में यही भेद पड़ जाता है।

शारीरिक-सत्य––शारीरिक सत्य का अभिप्राय है, विचार में तथा भाषण में आये सत्य का शरीर (कर्म) द्वारा आचरण करना। बुद्धि, वचन, कर्म इन तीनों में समान रूप से बना रहने वाला 'सत्य' कहा जाता है। सत्य-कर्म वा सत्कर्म के लिए एक राजपथ है **'महाजनो येन गतः स पन्था'** अर्थात् जैसा आचरण महान् पुरुष करते आये हैं––कर रहे हैं वही आचरण श्रेष्ठ है––करने योग्य है, वही कर्तव्य तथा धर्म है। विद्या समाप्ति पर स्नातक बनते समय, संसार के कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट होने से पूर्व, प्रत्येक आचार्य अपने सीधे-सरल, सांसारिक व्यवहार से अनभिज्ञ शिष्यों को ऐसा उपदेश तथा आदेश देकर घरों को भेजते थे कि–– **यान्यस्माकं सुचरितानि तान्यु-पास्यानि नो इतिराणि'**... इत्यादि; अर्थात् हमारे जो आचार-विचार धर्मानुकूल हैं, उनका ही तुम अनुकरण करना, दूसरों का नहीं। घर जाकर अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धवों के, जाति के नेताओं के धर्माचरण का अनुकरण करना––अधर्म का नहीं। ऐसी परम्परा से व्यक्ति तथा समाज का जीवन मधुर, शान्त एवं सुखी बना रहता है। नीति-वचन भी है कि––**'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः'** अर्थात् सब प्रकार से छान-बीन कर बुद्धि द्वारा अपना लिये गये सत्य को, वाणी और कर्म के द्वारा आचरण में लाने से धीर पुरुष कभी पीछे नहीं हटा करते। तुलसीकृत रामायण में **'रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जायँ पर बचन न जाई'** ऐसा कह कर उन धीर पुरुष 'राम' के उदात्त चरित्र का दर्शन कराया गया है, जिनकी वंश परम्परा ही विचार, वचन, आचरण में सदा एकता रखने की थी। जहाँ हिंसा, असत्य, स्तेय, अशौच का अभाव तथा अहिंसा-सत्य-अस्तेय-पवित्रता की बहुलता

हो वहां सब कर्म सत्कर्म समझने चाहिएं। **ऐसे कर्मों को करते समय भय, शंका, लज्जा उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत प्रसन्नता और उत्साह उत्पन्न होता है।** सत्य-सत्कर्मों का बुद्धि तथा शरीर दोनों पर ही उत्तम प्रभाव पड़ता है। अनाचार, व्यभिचार और असत्कर्म पापकर्म हैं, क्योंकि इनसे शरीर का बल—तेज, क्षीण होकर सत्यासत्य की निर्णायिका बुद्धि भी कुण्ठित पड़ जाती है, और कुकर्मों से उत्पन्न कष्टों में फँसा मानव मरण समान बन जाता है। हिंसक पशुओं के समान ही, व्याध, डाकू आदि के देह भी बड़े क्रूर, भयंकर एवं डरावने बन जाते हैं; कोमलता तथा स्निग्धता तो इनसे कोसों दूर भाग जाती है। सभी जानते हैं कि सत्कर्मी महात्माओं के दर्शन-मात्र से बाल-वृद्ध-युवकों में जहाँ प्रसन्नता, शान्ति और अभय का प्रादुर्भाव हो उठता है, वहां डाकू, शिकारी, व्यभिचारी को देखते ही घृणा, भय, क्रोध उत्पन्न हो जाता है।

जिनके आचार-विचार और वाणी में एकता होती है, उन महापुरुषों की वाणी में एक प्रकार का जादू—सम्मोहन-सा भर जाता है। उनके वचनों से प्रभावित तथा आकर्षित जनता क्या कुछ नहीं कर डालती ? उनके इंगित पर बाल, वृद्ध, युवा, सब नर-नारी अपने जीवनों का सहर्ष उत्सर्ग कर दिया करते हैं। पिछले स्वातन्त्र्य-संग्राम में—सत्याग्रहों में सम्मिलित होकर भारतीय जनता ने क्या कुछ नहीं किया था ? परन्तु जब आचार-विचार-वाणी में से किसी एक में भी शिथिलता आ जाती है, यह प्रभाव कर्पूरवत् उड़ जाता है; आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिये किये जाने वाले जप, तप, नियम, संयम आदि सत्कर्मों के पालन करते समय मन-वचन-कर्म में से किसी एक स्थल में न्यूनता आ जाने वा रह जाने से इनका प्रभाव न्यून हो जाता है; अन्यथा पूर्णसिद्धि प्राप्त होती है। अमृतसर में, अमरदास जी एक उच्चकोटि के सन्त हुए हैं, उनके सत्सङ्गों में एक बाल-विधवा युवती भी जाया करती थी। विधवा की माता को यह अच्छा न लगता था। एक दिन विधवा की माता ने सन्तजी को भोजन का निमन्त्रण देकर घर बुलाया। भोजन परोसकर विधवा के भाई ने गालियों से उनका अपमान वा सत्कार किया। इन कठोर वचनों से किये गये अपमान से सन्तजी के मुख पर तनिक-सा भी विकार नहीं आया। भोजन करके बोले, 'माताजी और कुछ कहना है ?' यह सुनकर वह भी उन्हें गालियाँ देने लगी। उसके चुप हो जाने पर सन्तजी बड़ी शान्ति के साथ मधुर शब्दों में बोले, "माताजी, आपकी पुत्री दैववश से बाल्यावस्था में ही विधवा हो गई। उसको अपना इतना लम्बा जीवन बिताने के लिए कोई सहारा चाहिए। यदि यह पथ-भ्रष्ट होकर मुसलमान वा ईसाई बनकर कहीं चली जाती वह अच्छा था अथवा सन्तों के सङ्ग में रहकर भगवान् का भजन-पूजा पाठ करके अपना लोक-परलोक सुधारना अच्छा

है। मैं तो इसे अपनी पुत्री के समान समझकर इसके कल्याण की कामना करता हूँ।" माता ने सन्त के चरण पकड़ लिए और बहुत क्षमायाचना की। यह आँखों देखा दृष्टान्त है! इस प्रकार सत्यनिष्ठ महापुरुषों के सत्सङ्ग से सदा ही कल्याण हुआ करता है। ऐसे दृष्टान्त अनेक दिए जा सकते हैं। एक दृष्टान्त हो वा अनेक—सबका प्रयोजन यही होता है कि मनुष्यमात्र वैसा बनकर सुखी हो जाय।

जैसे अहिंसा का पूर्णरूप से परिपालन क्रमशः संन्यासी, वनस्थ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा राजा-राजपुरुष कर सकते हैं उसी प्रकार से सत्य का सम्पूर्णरूप से पालन—आचरण संन्यासी कर सकता है। उससे दूसरी श्रेणी पर वानप्रस्थी तथा ब्रह्मचारी; उससे न्यून गृहस्थी, उनसे न्यून राजपुरुष और राजा। ऐसा ही नियम सर्वत्र समझ लेना चाहिए। जहाँ जितना व्यवहार अधिक है वहाँ पर ये सार्वभौम धर्म—व्रत उतने ही न्यूनरूप में पालन किये जा सकते हैं; यह प्रवृत्ति, निवृत्तिमार्ग में सदा बाधक रहती है।

तृतीय अङ्ग अस्तेय

● अस्तेय यम का तीसरा अङ्ग है। स्तेय का अर्थ है अनधिकृत पदार्थ को अपना लेना। इसे भी बुद्धि, वचन और कर्म से त्याग देना 'अस्तेय' है। भाष्यकार व्यास अस्तेय का लक्षण करते हैं—

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्,
तत्प्रतिषेधः; पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । योग २-३०।

अर्थात्—शास्त्राज्ञा के विरुद्ध, दूसरों से पदार्थों का ग्रहण करने रूप स्तेय का त्याग कर देना, उनकी इच्छा भी न करना यह अस्तेय है। किसी वस्तु को लेने न लेने की इच्छा चित्त में उठकर बुद्धि में प्रकट होती है। अतः बौद्धिक अस्तेय को दिखाते हैं।

● **बौद्धिक-अस्तेय—'पर द्रव्येषु अनभिध्यानम्'** दूसरों के पदार्थों की ओर ध्यान भी न करना—विचार भी न करना—दृष्टिपात भी न करना, अर्थात्, अन्न, वस्त्र, द्रव्य, भूमि, सम्पत्ति, नारी, विद्या, विचार आदि किसी भी ऐसे पदार्थ को लेने का विचार स्वप्न में भी उत्पन्न न होना, जिसे हमने पुरुषार्थ से उपार्जित नहीं किया, अथवा किसी ने हमें भेंट वा पुरस्कार में नहीं दिया यह 'अस्तेय' का पूर्ण स्वरूप है। इनसे विपरीत प्रवृत्ति लोभ के कारण उत्पन्न होती है। विलासिता रहित

तपस्वी जीवन व्यतीत करनेवाले ब्रह्मचारी, संन्यासी, वानप्रस्थी तो इस वृत्ति से बहुत कुछ मुक्त हो जाते हैं, गृहस्थी भी यदि अति तृष्णा न करें तो इस दोष से बहुत कुछ मुक्त हो सकते हैं। परन्तु राजा का इस वृत्ति से मुक्त होना असम्भव नहीं तो कठिनतर अवश्य है; ऐसे दृष्टान्त दुर्लभ अवश्य हैं। चोरी या पर द्रव्य हरण का विचार बुद्धि से यदि हटा दिया जाय तो वचन और कर्म में वह आएगा ही नहीं। अतः लोभ, मोह, तृष्णा, क्रोधादि के वशीभूत होकर भी परद्रव्यादि हरण का विचार तक बुद्धि से निकाल फेंकना चाहिए। लोभ, मोह, क्रोध, ईर्ष्यादि के वशीभूत होकर सत्य, विद्या, विज्ञानादि के विचारों को छिपाकर रखना भी बौद्धिक-स्तेय है।

वाचिक-अस्तेय––अपने कथन से भी किसीको चोरी, डाके आदि में प्रवृत्त न करना; वाचिक-अस्तेय है। कोई किसीको हानि पहुँचाता है। वह स्वयं उसका प्रतिकार करने में अशक्त है, तब वह कुछ गुण्डों को द्रव्यादि का लोभ देकर वा किसी विषय के मोह में फँसाकर उस व्यक्ति के यहाँ चोरी करा देता वा डाका डलवा देता है, ये सब वाचिक-चोरी है। इसी प्रकार से––उपदेश करते समय अथवा विद्यार्थियों को पढ़ाते समय किसी तत्त्व को जानते हुए भी उसे उचित रूप से न समझाना, प्रश्न का अधूरा उत्तर देकर टाल देना; दूसरे के विचारों को अपना बनाकर कहना, जैसा देखा-सुना है उसे अन्यथारूप में प्रकट करना यह असत्य तो है ही परन्तु वाणी का भी स्तेय है। बुद्धिगत किसी गोप्य विचार को, किसीके पूछने पर स्पष्ट प्रत्याख्यान न करके 'कुछ भी नहीं' ऐसा कहकर टाल देना, **'मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्'** के अनुसार स्तेय है। जैसा जाना-समझा, सुना, उसे वैसा ही समझा देना, कह देना, छल से छिपा न रखना ही समस्त पवित्र व्यवहार वाणी का अस्तेय है।

वाचिक-अस्तेय के परिपालन करने में काष्टमौन अति सहायक बनता है; मैंने ऐसा अनुभव किया है। मुमुक्षुजन तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पुण्य धर्मों का पालन हानि-लाभ का विचार किये बिना; काम-क्रोध-लोभ-मोह-भय-द्वेषादि से अडिग रहकर, मन-वचन-कर्म में एकता रखते हुए सदा करते हैं। परन्तु गृहस्थी को लाभ-हानि, परिस्थिति, सुख-दुःख का विचार भी करना पड़ता है; क्योंकि उसके सांसारिक व्यवहार का पसारा (प्रसार) जो अधिक है; और धनिकों, राजा-महाराजों का प्रसार इनसे भी अधिक होता है। अतः वे ऐसे कर्म कर सकें तो अवश्य प्रशंसा के योग्य हैं।

शारीरिक-अस्तेय—विचार तथा वचन के अनुसार शारीरिक व्यापार से भी किसीके पदार्थ की चोरी-लूट आदि न तो स्वयं करना न दूसरे से कराना, यह शारीरिक-अस्तेय है। छल-बल-दल प्रयोग से, स्वामी की आज्ञा के बिना उनके पदार्थ

को अपना लेना तो स्पष्ट ही घृणित-निन्दनीय स्तेयकर्म (चोरी और डाका) है। ऐसा कर्म व्यक्ति तथा समाज, किसी देश, किसी काल में कर सकते हैं; वे सब चोर तथा डाकू ही कहे जाएँगे। भविष्य में बन जाने वाले महापुरुषों के जीवनों में भी ऐसी घटनाएँ घटित हो जाया करती हैं; बाल अवस्था में माखन चुराने और यौवन में रुक्मिणी हरण करने से कृष्णजी का उदात्त चरित्र धूमिल हो गया। **'अदत्तानां उपादानम्'** स्वयं दिये बिना, छल-बल-दल से किसीके पदार्थ को हथिया लेना चोरी-डाका-स्तेय कर्म है, इस लक्षण के अनुसार जो भी ऐसा करेगा—चोर वा डाकू ही कहा जाएगा। पेशे के रूप में इन कर्मों को करने वाले तो स्पष्ट रूप से चोर और डाकू ही कहे जाते हैं परन्तु राजा आदि के भय से उन्हें यह नाम नहीं दिया जाता। वर्तमानकाल में तो बुद्धि, वचन, कर्म इन तीनों ही प्रकारों का स्तेयकर्म इतने भयंकर रूप में बढ़ गया है कि इनके समाचारों से समाचारपत्र भरे रहते हैं; कोई राष्ट्र, कोई देश, प्रान्त, ग्राम, घर ऐसा नहीं बचा जो तस्कर वृत्ति का शिकार न हो। ऐसे समस्त पाप कर्मों की वृद्धि शासन की दुर्बलता से, शासकवर्ग के भ्रष्टाचारी होने से, अपराधियों को कठोर दण्ड न देने से होती है। मनु का स्पष्ट आदेश है—

दण्डः शास्ति प्रजा सर्वाः, दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।

अर्थात्—न्याययुक्त प्रयुक्त दण्ड प्रजा का शासन करता है, न्याययुक्त दण्ड ही धर्म का रूप है। अपराधों की रोकथाम करने वाली शिक्षा का प्रसार जबतक न हो तबतक कठोर दण्ड का प्रयोग अनिवार्यरूप से होना चाहिए—शान्ति की स्थापना के लिए। भारत के उज्ज्वल इतिहास में ऐसे समय भी आए हैं जब व्यक्ति वा समाज ही नहीं प्रत्युत राष्ट्र ही निर्दोष और पवित्र होता था। महाराज दशरथ के राज्यकाल का वर्णन है—

नचापि क्षुद् भयं तत्र न तत्र तस्कर भयं तथा;

तथा

नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः;

कश्चिदासीद् अयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः। वाल्मी० रामा०

अर्थात्—अयोध्या में कोई भूखा, चोर, अयाज्ञिक, वर्णसंकर, भयत्रस्त, नीच, तथा बेरोज़गार व्यक्ति नहीं था। तथा महाराज शिरोमणि केकय अश्वपति ऋषियों के समक्ष प्रतिज्ञा करते हैं—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो,

नानाहिताग्निर्न चाविद्वान् न च स्वैरी स्वैरिणी कुतः।

अतिथिरूप से पधारे ऋषियों को राज्य की ओर से दिए गए भोजन को

ग्रहण करने में आपत्ति करते देखकर (राजा का अन्न दूषित कहा गया है) अश्वप्रति ने कहा था--'मेरे राज्य में चोर, कायर, नशा करने वाला—मद्यप, अयाज्ञिक, मूर्ख, दुराचारी नर-नारी देखने-सुनने को भी नहीं मिलेगा, आप घूम-फिरकर देख सकते हैं, ऐसा आदर्श राज्य कब देखने को मिलेगा ?

प्रश्न होता है, आहार के अभाव में जब शरीर छूट जाने की अवस्था आ पहुँचे तो भी क्या कहीं से येन-केन प्रकारेण अन्न प्राप्त करके प्राणरक्षा करले वा नहीं ? जैसाकि विश्वामित्र ऋषि ने चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुराकर-खाकर प्राण-रक्षा की थी। योगयुक्त बुद्धि का निर्णय तो यही कहता है कि मुमुक्षु को किसी भी काल में कैसी भी आपत्ति में इन सार्वभौम व्रतों का परित्याग नहीं करना चाहिए; जिन्हें धर्म की अपेक्षा देह अधिक प्रिय है वे ही धर्म-व्रत का परित्याग करेंगे।

एक उपाख्यान है : लम्बी यात्रा से थके-हारे लिखित-मुनि ने अपने भ्राता के आश्रम में प्रवेश किया। भूख की व्याकुलता में उन्होंने आश्रम के वृक्षों से कुछ फल तोड़कर खा लिए। पीछे ध्यान आया कि बिना आज्ञा फल खाना तो चोरी है। इस घटना को कहकर दण्ड लेना चाहा। भाई ने इसे अदण्ड्य बताया। तब लिखित राजा के पास पहुँचे। राजा ने कहा कि जिसके फल हैं वही इसे चोरी नहीं मानते तब मैं कैसे दण्ड दूँ ? निराश लिखित मुनि ने उस हाथ को स्वयं काट डाला जिससे तोड़कर फल खाये थे। बुद्धि और वचन से सर्वथा अस्तेय का पालन करते हुए भी प्रमाद व शीघ्रता से हो गए इस शारीरिक-स्तेय का इतना उग्रदण्ड स्वतः लिया, कितनी उच्चता है तथा सबके लिए शिक्षाप्रद घटना है।

काश्मीर में वैरीनाग के समीप मैं रहा करता था। पास में ही 'अज़ीज़ा' नाम का चोर-गुण्डा-डाकू भी रहा करता था। पड़ोसियों ने मेरी कुटिया के आस-पास चक्कर काटते अनेक बार देखकर, मुझे उसकी भावना से सूचित कर दिया। दूसरे किसी दिन जब अज़ीज़ा मिला तो मैं उसे अपनी कुटीर में ले गया; और बड़े स्नेह से उसे कहा कि--'मेरी कुटिया में रखी जो वस्तु तुम्हें पसन्द आए बेधड़क ले लो; मैं किसीको नहीं बताऊँगा। कुछ रुपये भी हैं ये भी ले सकते हो; इससे नित्य यहाँ पर आने का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा; सामान चुन लो मैं स्वयं तुम्हारे घर जाकर छोड़ आता हूँ।' इस व्यवहार और कथन का उस पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह मेरे पैर पकड़कर कहने लगा, 'साईंजी ! मुझे अब माफ़ कर दो, ख़ुदा को हाज़िर-नाज़िर समझकर आपके कदमों की कसम खाकर कहता हूँ कि आज से मैं यह चोरी-डकैती नहीं करूँगा।'

अमृतसर में निवास करते समय में लालसिंह नाम का व्यक्ति कभी-कभी

आ जाया करता था। पता लगा कि वह अपनी पार्टी को साथ लेकर दूर-दूर तक चोरी करने जाया करता था। एक दिन मेरे पास दोपहर में आया और मेरी कुटिया में इधर-उधर ताक-झाँक करने लगा। यह देखकर मैंने कहा, 'लालसिंह, तुम रात्रि को यहाँ आने का कष्ट मत करना, अभी ले जाओ जो कुछ तुम्हें लेना हो।' उसने लज्जित होकर उत्तर दिया, 'और दुनिया थोड़ी पड़ी है चोरी के लिए, क्या अब महात्मा ही रह गये हैं।' मैंने प्रेम से थोड़ी देर तक समझाया-बुझाया। दैववशात् उसपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उस कर्म को त्याग कर निर्मला साधु बनकर पटियाला में किसी महन्त का चेला बन गया। पश्चात् मिलने पर उसने यह सब बताया और कृतज्ञता प्रकट की।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैव विधानता,
पर दारोप सेवा च······।

इत्यादि श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि––स्वयं उपार्जित न किए हुए अथवा दूसरे से न दिए गए पदार्थ को देह के द्वारा ग्रहण करने वाला 'चोर' होता है। अतः––

मनसा वाचा कर्मणा परद्रव्येषु निस्पृहः,
अस्तेयमिति सम्प्रोक्तं ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। या० सं०।

बुद्धि, वचन, कर्म से पर-द्रव्य की इच्छा भी न करना ही अस्तेय है। सांसारी गृहस्थीजन सब कर्मों में हानि-लाभ का सन्तुलन करके ही प्रायः सब कार्य किया करते हैं; परन्तु मोक्षार्थी प्रभुभक्त हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश का विचार किए बिना ही यम-नियम रूप शुक्लधर्मों का बुद्धि-वचन-कर्म से पालन किया करते हैं। उन्हें कोई परिस्थिति तथा लोभ, क्रोध, मोहादि भी अस्तेय-धर्म से पथ-भ्रष्ट नहीं कर पाते। इस प्रकार जिस किसी की भी 'अस्तेय' में पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है तो उसकी वस्तु का कोई हरण नहीं करता। इतना ही नहीं; योग इससे भी महान् फल की प्राप्ति का कथन करता है––

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। योग २-३७।

अर्थात्—अस्तेय की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर संसार का ऐश्वर्य उस महापुरुष के पीछे-पीछे भागता फिरता है। श्रुति इससे भी उच्च अवस्था दर्शाती है––

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्। यजु० ४०-१।

अर्थात्—सर्वोत्तम बात यही है कि मानव भगवान् के द्वारा दिए गए द्रव्यादि का ही उपभोग करे, अन्यथा माता-पिता-आचार्य तथा अन्यों के द्वारा मिले द्रव्य पर सन्तोष करे; परद्रव्य की अभिलाषा कभी न करे। बलवती बनी अभिलषाा ही स्तेय आदि अधर्म में प्रवृत्तकराती है। फिर अन्याय-अत्याचार—सब प्रकार से—

मनुष्य स्तेय करने लगता है। धन-अन्न-वस्त्रादि पास होते हुए भी पात्र को न देना भी स्तेय है। अतः सावधानी से अस्तेय-धर्म का सर्वदा पालन करना चाहिए--ऐसा ही महान् पुरुषों तथा श्रुति-स्मृतियों का आदेश है।

यम का चतुर्थ अङ्ग—ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य--यम का यह चौथा अङ्ग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ऐसा आचरण करना जिससे भगवान् की समीपता अधिक से अधिक प्राप्त रहे। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुऐ वेद, शास्त्र, स्मृति, इतिहास, पुराणों में इसकी महिमा का गान है। मनुष्य की साधारण आयु १०० वर्ष की मानी जाती है। मानव-कल्याण के लिए जीवन चर्या बनाते हुए हमारे पूर्वजों ने इस आयु के तीन भाग मुख्य रूप से ब्रह्मचर्यानुष्ठानपूर्वक तथा एक भाग गौण रूप से भोगात्मक रूप से व्यतीत करने का विधान किया है। भाष्यकार व्यास ने **'ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः'** ऐसा लक्षण किया है; अर्थात् गुप्तेन्द्रिय-मूत्रेन्द्रिय का संयम रखना ब्रह्मचर्य है। स्मृति आदि धर्मशास्त्रों में इसकी व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि--५-६ वर्ष के बालक-बालिकाओं को ऐसे शिक्षणालयों में भेज दिया जाता था जो ग्राम तथा नगरों से ३-४ मील की दूरी पर होते थे। वहाँ सांसारिक अनुभव प्रवीण वानप्रस्थी नर-नारियाँ बालक-बालिकाओं के शिक्षणालयों के अध्यक्ष तथा अध्यापक होते थे। इन त्यागी, विद्वानों के संरक्षण में रहकर २५ वर्ष की आयु तक बालक तथा १६-१७ वर्ष की आयु तक बालिकाएँ, पृथक्-पृथक् बने अपने-अपने गुरुकुलों में रहकर सांसारिक तथा पारमार्थिक जीवनोपयोगी शिक्षाग्रहण करते थे। राजा हो वा रङ्क, सबके बालक प्रायः भिक्षा से अन्नवस्त्रादि ग्रहण करते तथा मनु स्मृति कथित नियमानुसार पालन करते हुए अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का परिपालन करते हुए स्नातक बनते थे। मनु का आदेश है--

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौवसन्,
सन्नियम्येन्द्रिय ग्रामं तपो वृद्ध्यर्थमात्मनः मनुः, २-१७५;

अर्थात्—ब्रह्मचारी गुरु के समीप रहकर सब इन्द्रियों पर यम-नियमों के आचरण द्वारा अधिकार प्राप्त करके आत्मकल्याण का यत्न करें तथा स्नानादि से

पवित्र होकर नित्य सन्ध्या, अग्निहोत्र, आचार्य के चरणों में अभिवादन-नमस्कार करें। पृथक्-पृथक् अपने आसनों पर शयन करें। असत्याचरण, चोरी, हिंसा-मांस-भक्षण, सुगन्धि, इतर, सेन्ट, चन्दन, माला आदि; तेल की मालिश, खट्टे-तीखे पदार्थ तथा गुड़, मधु, रेचक पदार्थ; जुआ, अंजन, छाता, जूता, नाच, गान, मादक-द्रव्य, सिनेमा-नाटक तथा वीर्यनाश में सहायक काम, क्रोध, लोभ, मोह, मैथुन तथा कामजनक स्त्रीदर्शन—सम्भाषण आदि का त्याग करें—इनका कभी भी सेवन न करें (स्वप्न में भी वीर्य का क्षरण न होने दें)। **'सन्नियम्य इन्द्रिय ग्रामम्'** ये शब्द स्पष्ट प्रकट कर रहे हैं कि केवल उपस्थ का संयम करना ही ब्रह्मचर्य नहीं है; समस्त इन्द्रियों का संयम करना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है, अन्यथा ब्रह्मचर्यनिष्ठान पूर्णरूप से न हो सकेगा। उपरिकथित नियमों का पालन करते हुए वेदाङ्गों सहित वेद, शास्त्र, उपनिषदादि आध्यात्मिक ग्रंथों के तथा अन्य लौकिक विज्ञानों के अध्ययन के साथ नित्य आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यानादि योगसाधन भी करें; अन्यथा अगले तीनों आश्रमों में आध्यात्मिक भोजन का अभाव होने से मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ हो जाएगी। शिष्टाचार के विषय में भी विधान है। जैसे—

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः,
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्। मनु० २-१२१।

अर्थात्—प्रातःकाल जागने और रात्रि को सोने से पूर्व आचार्य आदि वृद्ध-पूज्यजनों को प्रणाम किया करे, वृद्धजनों के आशीर्वाद से व्रती के आयु, विद्या, यश, बल की वृद्धि होती है। इसी प्रकार गुरुजनों के साथ करने योग्य अन्य व्यवहारों का विधान भी मनु० अ० २ में यत्र-तत्र आया है। जैसे, सदा गुरु की आज्ञा पालन करे, उन्हें भोजन कराकर स्वयं करें, समिधा, स्नानार्थ जलादि लाये तथा अन्य सेवाओं के साथ उनसे ऊँचे तथा उनके समान आसन पर न बैठे, उनसे विवाद, उनकी निन्दा न करे, न सुने। कहा है—

परीवादात् खरो भवति श्वावै भवति निन्दकः,
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी। मनु० २-२०१।

अर्थात्—गुरुजनों के दोषकथन से गधा और निन्दा करने से कुत्ता एवं गुरु को धोखा देकर अनुचित उपाय से धन और विद्या लेने वाला—भोक्ता मरकर कीट तथा गुरु का उत्कर्ष सहन न करने वाला—डाह करने वाला शिष्य कीट-पतङ्ग बनता है। वर्तमानकाल में घर तथा नगरों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों को भी यथा-शक्ति ये नियम पालन करने उचित हैं। यद्यपि पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली ने प्राचीन उदात्तभावों को नष्टप्राय कर दिया है फिर भी जितना हो सके गुरुजनों का आदर-

सम्मान करना चाहिए। माता-पिता का ऋण तो येन-केन प्रकारेण इस जन्म में समाप्त भी हो सकता है; परन्तु मनुष्य बनाने वाले गुरुजनों के ऋण से उऋण होना इस जन्म में तो सम्भव नहीं बनता; क्योंकि गुरुजन इस जन्म को सुधारने के साथ ब्रह्मविद्यादान से परलोक भी सुधार देते हैं। इस प्रकार इस २५ वर्ष के 'वसु' नाम के ब्रह्मचर्यकाल में लौकिक-पारलौकिक विद्या में प्रवीण, बल-वीर्य-पराक्रम-तेज से तेजस्वी होकर स्नातक बन जाने पर, ऐसे ब्रह्मचारी-स्नातक के लिए फिर तीन मार्ग हैं। यदि वह इसी जन्म में मोक्ष पाना चाहता है तो आजन्म ब्रह्मचारी रहकर विशेष योग साधन के द्वारा आत्मदर्शी तथा ब्रह्मदर्शी बनने के लिए चाहे आजन्म ब्रह्मचारी रहे अथवा संन्यास ले ले। दूसरा मार्ग है यदि वह तुरन्त गृहस्थ न बनकर अपने ज्ञान की विशेष उन्नति करना चाहे तो क्रमशः 'रुद्र', 'आदित्य' नाम के ब्रह्मचर्यों की प्राप्ति करता जाय; तीसरा फिर चाहे गृहस्थ बने अथवा जैसा उसे जँचे करे। ये दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्यव्रत क्रमशः ३६, ४८ वर्ष के होते हैं। जो यावत्-जीवन ब्रह्मचारी रहता है उसे 'नैष्ठिक-ब्रह्मचारी' कहते हैं। इस प्रकार जीवन का यह २५ वर्ष का ऊषाकाल उपरिलिखित नियम-संयम में व्यतीत करने वाले को 'वसु-ब्रह्मचारी' कहा जाता है; यह अगले जीवन की नींव है। इस परिपक्व नींव पर बनने वाला अगला प्रासाद भी पक्का हो जाता है। यदि अब अधिक विद्याध्ययन नहीं करना है तो उस व्यक्ति को अगला जीवन किस प्रकार व्यतीत करना है, इसका विधान निम्न प्रकार है।

गृहस्थ-जीवन

गृहस्थ-जीवन—संस्कार भेद से मनुष्यों में ही नहीं, पशु-पक्षी-कीट-पतङ्गों में भी भेद दीखता है। इसी दृष्टि को लेकर यह द्वितीय आश्रम बनाया गया है। इस आश्रम के विषय में मनुजी की सम्मति है कि—

सर्वेषामपि चैतेषां वेद स्मृति विधानतः,
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः सं त्रीनेतान् बिभर्ति हि।
यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्,
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।

अ० ६, श्लोक ८९—९०।

अर्थात्–जैसे छोटी नदियाँ और बड़े नद सभी सागर में आश्रय पाते हैं, इसी भाँति ब्रह्मचारी, वनस्थ, संन्यासी आदि गृहस्थी से ही भोजन-वस्त्रादि पाकर जीवन-यापन करते हैं। इस कारण गृहस्थाश्रम को वेद-स्मृति आदि श्रेष्ठ मानते हैं। इससे स्पष्ट हो रहा है कि अन्य आश्रमी अपने आश्रम पर गर्व न करें; यह आश्रम किसी अन्य आश्रम से हीन नहीं वरन् श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता का कारण कह ही दिया गया है, किन्तु यह अन्यान्य कारणों से भी श्रेष्ठ है। महामति पूर्वजों ने इस आश्रम को एक विज्ञानशाला का रूप दिया है; जिन मोक्षार्थियों की विषयों में सुख-बुद्धि बनी हुई है, उनके तथा पितृ-ऋण की निवृत्ति के लिए ही इस आश्रम की व्यवस्था की गई है, विलासितापूर्ति के लिए नहीं। वेद तथा स्मृतिकारों ने इसका उद्देश्य यही बतलाया है। धर्म और मोक्ष-प्राप्ति में बाधक बने इन अर्थ और काम की भली प्रकार परीक्षा तथा तृप्ति करके आगे निर्बाध गति से मोक्ष की ओर बढ़ सकें, दृष्टि रखी गई है। इसके साथ भावी सन्तति भी धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की यथार्थ रूप से प्राप्ति करती चली जाय, इसलिए १६ वर्ष की स्नातिका से––जो सब प्रकार से श्रेष्ठ हो, २५ वर्ष का स्नातक वेद-स्मृति उक्त प्रतिज्ञाओं के साथ इस गृहस्थ में प्रविष्ट हो। इस आयु के अनुपात से यह भी ध्वनित होता है कि ब्रह्मचारिणी की विद्या-बुद्धि-बलादि ब्रह्मचारी की अपेक्षा न्यून होती है, ब्रह्मचारी की विद्या-बुद्धि-बलादि डेढ़-गुणा अधिक होती है। गृहस्थ के लिए जहाँ अनेक प्रकार के अहिंसादि कर्मों के प्रायश्चित के रूप में नित्य पंचमहायज्ञों के करने का विधान है, वहाँ पर रति-सम्बन्धी नियमों का बड़ी कठोरता से पालन करने का विधान है। गर्भाधान एक पवित्र यज्ञ माना गया है तभी स्मृतिकारों ने इसे करने से पूर्व अपने कुटुम्बियों को बताकर–– विधिवत् यज्ञादि के द्वारा करने का विधान किया है। वर्तमान के समान समझे जाने वाला विलासिता का हीन कर्म नहीं है जो गुप्तरूप से किया जाता है। गर्भाधान का तात्पर्य है एक महान् आत्मा को अपने कुल में जन्म लेने के लिए आह्वान करना। ऐसे कृत्यों का नाम 'संस्कार' इसीलिए रखा गया है कि इस प्रक्रिया से आने-वाले जीव सुसंस्कृत हों, भले हों। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि––आम की कुछ गुठलियों को सोंफ, कर्पूर, अजवायन के पानी में, कुछ एक को नीम-करेले के रसों में डुबोकर पृथक्-पृथक् बो दें और अंकुरित होने पर फिर सप्ताह में एक बार इन्हीं के जलों से सींच दिया करे; तो आप भी देख लेगें और हमने तो देखा ही है कि वह आम अपनी आयु पर्यन्त वैसे ही आम उत्पन्न करता रहता है जैसी वस्तु के जल से उसे सींचा गया था, संस्कृत किया गया था। इसी नियम के अनुसार वैद्य गण भी किसी धातु की भस्म को विशेष गुणों से युक्त करने के लिए उचित ओषधियों

के रसों से भावनाएं देकर अग्नि देते हैं; अग्नि पाकर उन ओषधियों के गुण संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं, यह बात सभी जानते हैं। यह नियम सन्तानोत्पत्ति में भी कार्य करता है।

इस प्रकार गर्भाधान हो जाने के पीछे उन्हें सर्वथा ब्रह्मचर्य का कठोरता से तब तक पालन करना चाहिए जब तक कि बालक माता का दूध पीता रहे। इससे विपरीत आचरण करने से जहां अपने शरीर की क्षति होगी वहां इस दुराचार अथवा व्यभिचार के कारण सन्तति भी दुर्बलेन्द्रिय, कामादि दुर्गुणों से युक्त उत्पन्न होगी, यह निश्चित है। क्योंकि काम क्रोधादि के समय देह का एक-एक कण इनसे व्याप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में कामातुर दम्पतियों के सम्मिलन से गर्भस्थ बालक के रक्त का एक-एक कण काम से भरा हुआ होगा; फलतः बालक प्रारम्भ से ही कामवासना की प्रधानता लिए होगा, कामवासना से ओत-प्रोत होगा। अनेक वर्ष हुए मैं बम्बई में ला० विशनदास जी के पास ठहरा हुआ था। विशनदास जी ने एक दिन आकर कहा, 'आइए महाराज! आपको कलियुग का चमत्कार दिखाऊं।' उनके साथ जाकर देखा कि लगभग ४-४ वर्ष के बालक-बालिका नग्न खड़े मैथुन की नकल कर रहे थे; वे बालक पड़ोसी के थे। पड़ोसी को बुलाकर पूछा कि गर्भाधान हो जाने के पीछे फिर आप कितने समय तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं? उत्तर मिला, साल या मास की तो बात ही नहीं, हम तो एक सप्ताह भी सहवास के बिना नहीं रह सकते। इस पर उन्हें उन्हीं के बालकों की कुचेष्टा का दृश्य सुनाया। इससे लज्जित होकर भविष्य के लिए प्रतिज्ञा की कि गर्भावस्था में कभी सहवास नहीं करूंगा।

वर्तमान में प्रचलित की गई 'सहशिक्षा' जिसमें प्रथम कक्षा से लेकर उच्च कक्षा तक बालक-बालिकाएं इकट्ठे पढ़ते हैं, महाविनाश की ओर ले जाने वाली कुप्रथा है। इस पद्धति में बाल्यकाल से ही ब्रह्मचर्य व्रत पर कुठाराघात करने वाली चरित्रहीनता तथा अनाचार के संस्कार पड़ने लगते हैं। भारत तथा विदेशों के समाचारपत्रों में ऐसी अनेक दुर्घटनाएं पढ़ने में प्रायः आती रहती हैं। अमृतसर राजकीय कन्या पाठशाला का एक बार निरीक्षण हुआ। परिणाम जो निकला वह इस प्रकार था: १०० में ३० बालिकाओं के चरित्र दूषित थे। अमेरिका में डाक्टर बरोस राबन्स बच्चों की पाठशालाओं के निरीक्षक नियुक्त किए गए। उनका कथन है कि न्यूयार्क एन० जी० हाई स्कूल में १५ हज़ार कुमारियाँ पढ़ती हैं। निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि ५ हज़ार बालिकाएं ऐसी थीं जिन्हें कुमारी होते हुए भी ब्रह्मचारिणी नहीं कहा जा सकता, अन्य दो हज़ार गर्भवती थीं; परन्तु

ये अविवाहित थीं । सारांश, वह यह कहते हैं कि ४ कुमारियों में से केवल एक को ही ब्रंह्मचारिणी कहा जा सकता है । यह परिणाम विदेशी शिक्षणालयों का है जहां प्रत्येक व्यवस्था के लिए प्रचुर धन, शक्ति व्यय की जाती है । भारतीय शिक्षा तथा शिक्षणालयों की अवस्था-व्यवस्था किससे छिपी है ? पहले सदाचार की दृष्टि से भारत सर्वश्रेष्ठ गिना जाता था; परन्तु वर्तमान बौद्धिक दासता के कारण पश्चिमीय-प्रणाली की नकल ने भारत की प्राचीन सभ्यता-संस्कृति के गौरव को सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है । प्राचीन वैदिक-संस्कृति एवं स्मार्त धर्म-कर्म लुप्त होते जा रहे हैं । यह अत्युक्ति न होगी यदि यह कह दिया जाए कि इन्हें जान-बूझकर नष्ट किया जा रहा है जिससे हमें कोई साम्प्रदायिक न कह दे; क्या धर्म-निरपेक्षता का अर्थ नास्तिकवाद है ? धर्म क्या है, जिसके भय से राष्ट्र आज कांप रहा है ।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्व च प्रियमात्मनः,
एतच्चतुर्विधंप्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् । मनु०,२-१२

अर्थात्—वेद तथा स्मृतियों के द्वारा कथित व्यक्ति तथा समाज के कर्मों पर आचरण करना धर्म है, कर्तव्य है । जो शिष्ट पुरुषों से अनुमोदित तथा अपने को भी उचित प्रतीत हों । शिक्षा के विषय में, जो कि सदाचार का मूल है, वेद-स्मृति, शिष्ट जनों का तथा अपना भी यही निर्णय है कि बालक-बालिकाओं की शिक्षा, पृथक्-पृथक् गुरुकुल प्रणाली के द्वारा ही होनी चाहिए जिससे भारत की भावी सन्तति विद्या, आचार, बल, बुद्धि, पराक्रम, विज्ञान तथा आध्यात्मिकता आदि के सभी क्षेत्रों में संसार में सर्वश्रेष्ठ व सर्वमान्य हो सके ।

जो गृहस्थ इस आश्रम का, वेद-स्मृति कथित धर्म-कर्मों का अनुष्ठान मन-वचन-कर्म से करते हुए पालन करते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ-उत्कृष्ट एवं सम्माननीय हैं । इनके कथन का सार यही है कि पितृ-ऋण पूर्ण करने के लिए २-३ सन्तानें उत्पन्न करना ही पर्याप्त है । फिर जितेन्द्रिय रहकर समाज, जाति, राष्ट्र की सेवा जो अपने से बन सके करें, इसमें भी मुख्यता आध्यात्मिक उन्नति की रहनी चाहिए । वे पुरुष सराहनीय तथा शूर हैं जो कामोद्दीपक सामग्री गृहस्थ को प्राप्त करके भी ब्रह्मचर्य व्रत का परिपालन करते हैं; अन्यथा इन साधनों की अप्राप्ति में तो सभी अपने को यति-ब्रह्मचारी मान लेते हैं । मैथुन में शुक्र का क्षय अति मात्रा में होता है । शुक्र ही देह का राजा है, इसीलिए सभी महापुरुषों ने मुख्य रूप से शारीरिक ब्रह्मचर्य पर अत्यधिक बल दिया है । सुश्रुतकार कहते हैं—

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बल पुष्टिकरं स्मृतम्,
गर्भबीजं वपुसारो जीवस्याश्रय उत्तमः । १

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्,
हृदयस्थमपि देह स्थिति निबन्धनम् । २

अर्थात्––यह शुक्र पवित्र, शीतल, चिकना, बलपुष्टिदायक है, इस बीज से बालक-बालिका उत्पन्न होते हैं; जीवन का सार और जीवन का मुख्याश्रय वा ज्योति है। देह को स्थिर रखने वाले रस, रक्त-मांस-मज्जा आदि सात धातुओं का सार शुक्र है और शुक्र तेज एवं ओज है। यह समस्त देहव्यापी पदार्थ देह की स्थिति का स्थापक है, अतः इस अमूल्य निधि की सर्व प्रकार रक्षा करनी चाहिए। मनु ने ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ के लिए भी चेतावनी दी है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्,
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति । मनु० २-२१५

अर्थात्—युवावस्था की माता (विमाता), बहिन, पुत्री के साथ भी एकान्त में एक आसन पर न बैठें। इन्द्रिय-समूह बलवान् होता है, अच्छे पढ़े-लिखों की बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देता है। इस प्रकार अपने जीवन-सार की रक्षा करते हुए गृहस्थाश्रम को भोग-विलास की क्रीड़ा-स्थली न बनाएँ। आप्तजनों का अनुभव है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति,
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते । मनु० २-९४

अर्थात्—संसार के भोगों से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती, ज्यों-ज्यों भोग भोगता है, तृष्णा अधिक बढ़ती है जैसे अग्नि में घृत डालने से ज्वाला अधिक प्रचण्ड होती है। इसी प्रकार संयमी पुरुष, जो केवल सन्तति के लिए स्त्री का सहवास करते हैं, और गर्भाधान हो जाने पर ब्रह्मचारी रहते हैं; एवं जो पालन-पोषण शिक्षण कर सकने योग्य २-४ सन्तानें हो जाने पर फिर ब्रह्मचारी ही रहते हैं, वे देव-तुल्य हैं, उनकी सन्तति भी देवतुल्य तथा आदरणीय होती हैं। किसी स्मृति में ऐसा भी कहा गया है कि जब स्त्री रज-निवृत्त हो, सहवास अवश्य करे, तथा संतानें भी १० तक उत्पन्न कर ले। यह विधान उत्क्रृष्ट कोटि का नहीं जँचता, हीन कोटि का है। मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठकर मनुष्य तथा उससे भी उच्च देवता बनना है। अतः अपनी दृष्टि सदा देवता बनने की ओर ही रखनी चाहिए। कामुकता की पूर्ति का तो कहीं अन्त नहीं है। महाराज भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित् प्रचण्ड मृगराज वधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्प-दर्प दलने विरला मनुष्याः ॥

उन्मत्त गजराजों के मस्तक का मर्दन करने वाले तथा सिंहों को मारने में दक्ष शूर संसार में मिलते है, किन्तु काम को दमन करने में समर्थ मनुष्य विरले ही मिलते हैं, ऐसा निश्चय से कहा जा सकता है। कीट-पतंग से लेकर दानव-देव तक इसके दास देखे जाते हैं; सांसारिक प्रवृत्ति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में मानो अन्य कोई कृत्य करने को नहीं रहा, यही एक कर्म मुख्य है। इसके शमन तथा सामाजिक शान्ति के गठन के लिए विवाह ही एक परम औषध ढूंढ़ पाई है; परन्तु विवाह की चिकित्सा से काम का दमन करने के साथ अन्य सहस्रों रोग मोल लेते हैं। काम के दमन से अथवा कामपूर्ति से उत्पन्न हुए पुत्र-पुत्रियों का पालन-पोषण-शिक्षण करके अर्थ उपार्जन के योग्य बनाकर फिर उनके विवाह, उनकी सन्तति में रागमोहादि के कारण आयु-भर कष्ट ही भोगते रहते हैं। देखा है, अनेक विवाहों से भी काम-तृप्ति नहीं होती। भारत में भी एक काल ऐसा आया जब धनिक व्यक्ति तथा विशेषकर राजे-महाराजे अनेक पत्नियों के साथ-साथ विलासिता के लिए अनेक दासियां भी रखते थे। अरब में स्त्रियां भेड़-बकरियों के समान रक्खी जाती थीं, उसी परम्परा को मुसलमान राजों ने यहां पर लागू कर दिया था। अब तो यह प्रथा राजों के साथ-साथ समाप्तप्राय हो गई है।

कर्मेन्द्रियों में गुप्तेन्द्रिय सबसे बलवान है, इस पर विजय पाना अति कठिन है। इसी कारण 'गुप्तेन्द्रिय-संयम' को ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने में मुख्यता दी गई है। इतिहास-पुराण तथा प्रत्यक्ष दर्शन से ऐसे दृष्टान्त अति न्यून मिलते हैं कि जो आत्मकल्याण को मुख्यता देकर आजन्म ब्रह्मचारी रहे हों। यदि गणना की जाय तो सम्भव है सृष्टि के आदि से लेकर अब तक कुछ एक सौ ही निकल सकें। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्यव्रत का अनुष्ठान करना अति कठिन कर्म है। इसी कारण आप्त-ऋषियों-मुनियों ने इसे सर्वोत्कृष्ट माना तथा इसके अनुष्ठान करने के लिए मानव-समाज की उचित व्यवस्था का निर्माण किया। अतः स्मृतिकारों ने वेदानुमति के अनुसार नियम बनाया कि—पुत्र के भी जब पुत्र हो जाय तो गृहस्थाश्रम का अन्य समस्त भार ज्येष्ठ पुत्र पर सौंपकर दम्पति अथवा एकाकी पुरुष वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करे। यदि पत्नी साथ रहे तो भी इन्हें पूर्ण ब्रह्मचर्य के समस्त नियमों का कठोरता के साथ पालन करते हूए, आत्मज्ञान की जिज्ञासा करते हुए, भिक्षा करके अथवा अन्य आश्रम वा गुरुकुलों में रहकर जीवन व्यतीत करना होता है। ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणियों के गुरुकुलों में ये स्त्री-पुरुष पृथक्-पृथक् रहकर उनके उत्तम शिक्षक बन सकते हैं तथा अपनी साधना भी कर सकते हैं। बालकों को जैसी शिक्षा ये वानप्रस्थी दे सकते हैं वैसी ब्रह्मचारी आदि नहीं दे सकते; क्योंकि

इन्होंने गृहस्थ में रहकर बालकों का पालन-पोषण-शिक्षण आदि किया-कराया होता है; इन्हें बालकों की कठिनाइयों का पूर्ण ज्ञान होता है। इसी दृष्टि को रखकर प्राचीन गुरुकुलों के संचालक ये वानप्रस्थी ऋषिगण होते थे और इनके आश्रमों वा गुरुकुलों में कई-कई हज़ार ब्रह्मचारी निवास करके अनेक विद्याओं का अध्ययन किया करते थे। सन्ध्या, अग्निहोत्र, स्वाध्याय, ग्रन्थ-लेखन आदि का कार्य करते हुए आत्मिक उन्नति की ओर मुख्य ध्यान देना आवश्यक है। स्मृतियां, उपनिषद्, दर्शन-शास्त्र, इतिहास-पुराणादि प्रायः इन अरण्यवासियों की कृतियां ही हैं। इस प्रकार सांसारिक विषयानुभूति के पश्चात् का जीवन भी आत्म-परमात्म प्राप्ति के लिए ही व्यतीत किया जाता रहा है; तभी उस समय का भारत, जो धन-धान्य में ही नहीं वरन् सांसारिक पूर्ण अभ्युदय के साथ आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान में भी अग्रणी था, विश्व का पूज्य था—सर्व प्रकार से सुखी-संतुष्ट था। यदि वर्तमान में भी इसी प्राचीन पद्धति को अपना लिया जाय तो निश्चय ही लोक-संग्रह के साथ सुख-शान्ति तथा आत्म-परमात्मानन्द का उपभोग कर सकेंगे। इस भांति ७५ वर्ष की आयु के पश्चात् आगे चलना चाहिए—जो 'संन्यास' कहा जाता है।

संन्यास आश्रम—मनु का विधान है—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः,
चतुर्थमायुषोभागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्। मनु० ६-३३।

अर्थात्—जीवन शेष रहने पर, आयु का तीसरा भाग नाना प्रकार के तप, व्रतों में विषयानुराग को शान्त करके सब प्रकार के संगों को त्याग कर, सम्प्राप्त आत्म तथा ब्रह्मनिधि का वितरण करने के लिए, भिक्षाचर्या करता हुआ लोकोपकारार्थ विचरण करे। संन्यास का अर्थ ही सर्व प्रकार का त्याग है; अतः अन्य सब प्रकार के त्याग के साथ जीवन-मरण की चिन्ता का त्याग करके, शरीर को प्रारब्ध पर सौंपकर वैराग्य को धारण करते हुए विचरण करे। मनु का कथन है—

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः,
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह। मनु० ६-४९

अर्थात्—आत्मा द्वारा ब्रह्मचिन्तन में लीन हुआ संन्यासी समस्त भोग-पदार्थों से विरक्त होकर विषयाभिलाषा तथा देहाध्यास को त्यागकर मोक्ष की एकमात्र इच्छा को लेकर विचरण करे। तथा—

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहः स्थानासनेन च,
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्त्तयेत्। मनु० ६-५९

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च,
अहिंसायां च भूतानाममृतत्वाय कल्पते। मनु० ६-६०
सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत् योगेन परमात्मनः।

अर्थात्—संन्यासी स्वल्पाहार करता हुआ बहिर्मुखी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके इन्हें राग-द्वेष से मुक्त कर दे; तब पूर्ण अहिंसक होकर प्राणि-मात्र में आत्म-भाव रखने से मोक्षभागी बन जाता है तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म का धर्ममेघ समाधि द्वारा साक्षात्कार करके वह मोक्षगामी होता है। इस प्रकार यह चौथी आयु भी ब्रह्मचर्य व्रत में ही व्यतीत हुई; और मनुष्य ने अपने अन्तिम लक्ष्य को ब्रह्मचर्य-साधना के द्वारा ही प्राप्त किया।

याज्ञवल्क्य संहिता में—

मनसावाचा कर्मणा सर्वावस्थासु सर्वदा,
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्य प्रचक्षते

ऐसा कहा है। अर्थात्—बुद्धि, वचन, और कर्म के द्वारा सब अवस्थाओं में सदा सब जगह मैथुन का त्याग देना पूर्ण ब्रह्मचर्य कहा जाता है। ऐसा नियम विशेषरूप से संन्यासी, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी के लिए पालनीय है; क्योंकि गृहस्थ को सन्तानोत्पत्ति के लिए शास्त्र की आज्ञा है कि वह इस 'काम' का नियम से उप-भोग करे। इस भांति मानव के ७५ वर्ष ब्रह्मचर्य-साधना-उपस्थ के संयम में ही व्यतीत करने का विधान पाया जाता है। मन-वचन-कर्म के द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत कैसे पालन किया जा सकता है, अब इसे स्पष्ट करते हैं।

बौद्धिक ब्रह्मचर्य—किसी भी प्रकार से रति-भावना बुद्धि में उत्पन्न न होने देना बुद्धि द्वारा ब्रह्मचर्य पालन करना है, गीता का कथन है—

विषयान् ध्यायतो पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते,
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। २।६२

अर्थात्—विषयों का विचार करने से उन विषयों के संग की इच्छा-पूर्ति की कामना उपजती है, और उस सङ्ग से काम की इच्छा जाग्रत होती है। इससे स्पष्ट है कि ऐसा साहित्य न पढ़ें, ऐसा दृश्य न देखें, ऐसी बातें न सुनें जो कामवर्द्धक एवं उत्तेजक हों। काम का मुख्य रूप में सम्बन्ध स्त्री से माना जाता है; अतः आर्ष-कथन ऐसा है कि—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुप्तभाषणम्,
संकल्पाध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। १

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः,
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्। २, सुश्रुत

अर्थात्—नारी का स्मरण, स्त्रियों की चर्चा करना, उनके साथ खेलना-कूदना, यौवन और सौन्दर्य से आकृष्ट होकर बार-बार देखना, एकांत में बातें करना, भोग-विलास की बातें सोचना तथा करना, फिर नारी की प्राप्ति की कामना करना और इस कामना को पूर्ण करना, मैथुन करना अब्रह्मचर्य है तथा इनका पूर्णतया त्याग ब्रह्मचर्य है। इन श्लोकों में तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्यों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। ऐसे अनाचार से विचार से भ्रष्ट हूई बुद्धि अनेक प्रकार के पापों का कारण बन जाती है, और ये अनिष्ट विचार ही मनुष्य को वचन तथा कर्म में प्रवृत्त करने को उकसाते रहते हैं। इस विषय में एक दृष्टांत स्मरण हो आया है। कपूरथला-निवासी पालारामजी अपनी दो पत्नियों को अन्य सम्पत्ति के साथ छोड़कर, विरक्त होकर अमृतसर में आ गए थे। स्थिति इतनी उच्च थी कि कई-कई दिन समाधिस्थ रहते। परीक्षार्थी जनों ने एक बार समाधि में बैठे हुए इनकी जाँघ पर अङ्गार रख दिया। ये उसी प्रकार बैठे रहे और जाँघ पर घाव हो गया। गृहस्थी इनकी सेवा करते ही थे, किन्तु पेशावर की एक देवी अच्छे-अच्छे व्यन्जन और भोजन नित्य लाने लगी। इसकी एकान्तिक सेवा से सन्त पालारामजी को मोह उत्पन्न हो गया और वे इस देवी को लेकर नमक-मण्डी में एक मकान लेकर रहने लगे। फलतः, वह समाधि और वैराग्य कर्पूरवत् उड़ गए। अनुराग बुद्धि का विकार है, इसलिए मनु ने युवा माता, बहिन, पुत्री तक के साथ एकान्त में बैठने का निषेध किया है। कुसंस्कार न जाने कब उभरकर गर्त्त में गिरा दें; इसीलिए बौद्धिक रूप से सदा सचेत रहने की आवश्यकता है।

वाचिक-ब्रह्मचर्य—इसमें विशेष रूप से वाणी का संयम ही किया जाता है। अश्लील गीतों का गाना, एकान्त वार्तालाप, अश्लील वा अशिष्ट उपहास, सौन्दर्य की स्तुति वा निन्दा आदि करना नर-नारियों के लिए त्याज्य हैं; इनसे कामुकता को प्रोत्साहन मिलता है, और इसे क्रिया में लाने की प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलती है। पूर्वकाल में सिनेमा नहीं था। जो सदाचारी ब्रह्मचारी रहना चाहें, उन्हें अब भी त्याग देना चाहिए। हम तो इतना परामर्श ही दे सकते हैं।

शारीरिक ब्रह्मचर्य—जो विचार और वचन से ब्रह्मचर्य का पालन करते रहते हैं उनके लिए शारीरिक ब्रह्मचर्य पालन करना अति कठिन नहीं रहता। इसमें विशेष रूप से उपस्थ आदि कर्मेन्द्रियों सहित शरीर के द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। स्त्रियों का स्पर्श, आलिङ्गन, चुम्बन, पर-नारियों के साथ

घुल-मिलकर बैठना, यात्रा करना, मेले-ठेलों में स्त्रियों के संघों में जाना, रोगी अवस्था में नर्सों से सेवा लेना आदि शारीरिक कर्म ब्रह्मचर्य के नाशक हैं। पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करते हुए नारियों के साथ नाचना, चूमना आदि व्यवहार शास्त्र असम्मत तथा आर्य-संस्कृति के विपरीत आचरण है; इसके अनेक दुष्परिणाम देखने सुनने में आए हैं। ऐसे सब कर्म आठ प्रकार के मैथुनों में सम्मिलित हैं। शरीरशास्त्र के अनुसार आहार सदा सात्विक, सुपच, पुष्टिकर होना चाहिए; शुक्र को पतला, दूषित करने वाला आहार सबके लिए त्याज्य है। यत्न करें कि स्वप्न में भी शुक्र क्षय न होने पाए; मूत्रेन्द्रिय का अनावश्यक स्पर्श एवं हस्तमैथुन तो घृणित कर्म हैं; कौपीन वा लंगोट धारण करना उत्तम है। कामोद्दीपन में विशेष रूप से शरीर का स्पर्श तथा सौन्दर्य-दर्शन सहायक होता है। शिव-पुराण में पढ़ा था कि विख्यात विश्व सुन्दरी 'सन्ध्या' के सौन्दर्य तथा यौवन पर सन्ध्या के पिता ब्रह्मा तथा भ्राता वशिष्ठ दोनों आसक्त हो गए। ऐसी चर्चा सुनकर शिवजी ने दोनों को फटकार डाला। सन्ध्या को जब यह सब समाचार मिला तो वह दुखित होकर घर त्यागकर वन में जाकर तपःलीन हो गई थी। दूसरी बात यह भी प्रायः सभी को ज्ञात है कि सर्वगुण सम्पन्न, बलिष्ठ शूर महाराज भर्तृहरि को दृष्टि से ओझल कर, रानी पिंगला कोचवान—ड्राइवर पर आसक्त हो गई थी; इस आसक्ति का ज्ञान होने पर भर्तृहरि विरक्त हो गए थे। उन्होंने जब शतक लिखे तब सर्वप्रथम इस अनङ्ग 'काम' को तथा कामाभिभूत नर-नारियों सहित अपने को भी धिक्कारा है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्य सक्तः।
अस्मत् कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् ताञ्च तञ्च मदनञ्च इमा च मा च। नीति० शत० २

अर्थात्—संसार की गति कैसी आश्चर्यमयी है; मैं अपनी जिस पत्नी को सदा हृदय से प्रेम करता हूं वह मुझसे विरक्त होकर अन्य जार पुरुष में अनुरक्त है, और वह मूढ़ भी इसे त्याग किसी अन्य नारी को चाहता है; आश्चर्य है वह वेश्या मुझसे स्नेह करती है, मुझे चाहती है, अतः काम के दास बने नर-नारियों सहित मुझे और उस 'काम' को भी धिक्कार है। इसीलिए नीतिकारों ने कहा है—

अत्यासन्ना विनाशाय, दूरतश्चाफलप्रदाः,
मध्यभावेन सेवन्ते राजा वह्निः गुरुःस्त्रियः।

—सुभा०पृष्ठ १६२, श्लो० १२४

अर्थात्—राजा, अग्नि, गुरु, नारी इनकी घनिष्टता नाशक तथा दूरी अफलप्रद होती है; अतः इन्हें मध्यम स्थिति में रहकर सेवन करना चाहिए, न अति निकट से, न अति दूर से।

इस प्रकार हमने देखा कि काम-रोग की चिकित्सा जब नारी के द्वारा की जाती है तभी कष्टप्रद संसार के विस्तार में फंसकर मनुष्य जन्म-मरण के कष्ट-चक्र में फंसा रहता है; अन्यथा जो जितेन्द्रिय रह सकते हैं उनके लिए गृहस्थ की आवश्यकता नहीं है, और 'आत्मबोध' की प्राप्ति के सम्मुख अन्य कोई पदार्थ प्राप्तव्य एवं कर्तव्य भी नहीं है। सभी ऋण आत्मदर्शन से समाप्त हो जाते हैं—ऐसा आत्मज्ञ तत्त्वदर्शियों का कथन है।

इन आप्त महापुरुषों के वचन स्वानुभूत होते हुए वेदानुकूल होते हैं। **'वीर्यधारणं ब्रह्मचर्यम्'** ब्रह्मचर्य से अनुपम शक्ति मिलती है; जैसे—

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्,
यावद् बिन्दुस्थिरो देहे तावत कालभयं कुतः।
चित्तायत्तंनृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्,
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः। गोरक्षा पद्धति,

शुक्र के पूर्ण रक्षण से योगी की देह में सुगन्ध उत्पन्न हो जाती है, और जब तक यह शुक्र देह में सुरक्षित रहता है मृत्यु से भी भय नहीं रहता। मनुष्यों के चित्त और जीवन का आधार यह शुक्र है अतः इन दोनों की रक्षा पूर्ण प्रयत्न से करें। इसकी पुष्टि योग करता है—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। २-३८

इसमें 'वीर्य' शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं—उस वीर्य-शक्ति की प्राप्ति से अलौकिक गुणों की प्राप्ति होती है। उनमें से एक विभूति यह प्राप्त होती है कि वह विनीत-सौम्य शिष्यों के अन्तःकरणों में योग सम्बन्धी ज्ञान का दर्शन करा देने में समर्थ होता है। ब्रह्मचारी का देह तेजस्वी, कान्तिमान, स्फूर्त होता है, आरोग्यता के कारण सदा मुखमण्डल पर प्रसन्नता तथा निर्भयता खेलती रहती है। अथर्ववेद में 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' है; उसमें ब्रह्मचर्य की महत्ता दर्शाते हुए अन्यान्य बातों के साथ कहा है—

आचार्यो ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी प्रजापतिः,
प्रजापतिः विराजतिः विराड् इन्द्रोभवेद् वशी।

—अथर्व० ११-७०-१६

अर्थात्—ब्रह्मचारी ही उत्तम आचार्य हो सकता है, ब्रह्मचारी सब प्रजा

की रक्षा करनेवाला प्रजापति होता है, प्रजापति ब्रह्मचारी लोक में चमकता हुआ शक्तिशाली परम ऐश्वर्यवान् होकर इन्द्र के समान सबको वश में रखनेवाला होता है। एवं एक वाक्य से वेद ने इसकी महिमा का अन्त कर दिया—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमपाघ्नत। अथर्व० ११-४-१९

अर्थात्—ब्रह्मचर्य की महाशक्ति से देवों ने मृत्यु को नष्ट कर दिया, जीत लिया। ऐसी साक्षी के सामने होते हुए क्या अब भी ब्रह्मचर्य का पालन व्यर्थ समझा जा सकता है?

यम—अपरिग्रह—बौद्धिक

अपरिग्रह—यम का यह पांचवां अङ्ग है। भाष्यकार व्यास ने इसकी व्याख्या की है—

विषयाणामर्जन रक्षण क्षय संगहिंसा दोष-
दर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। योग २-३० सूत्र

अर्थात्—ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के विषयरूप भोगों के उपभोग में, अर्थात् विषयों के उपार्जन वा संग्रह करने में, उनकी रक्षा करने, उनके स्थिर रखने में हिंसा तथा उनकी क्षीणता में होनेवाले बौद्धिक कष्टों को देखकर, उन पर विचार करके इन्हें बुद्धि, वचन, कर्म से स्वीकार न करना 'अपरिग्रह' है।

बौद्धिक अपरिग्रह—यह अनुभूत तथ्य है कि अपने लिए भले-बुरे का निर्णय करके फिर जब अपने कल्याण के लिए निश्चित तथ्य को बुद्धि स्वीकार कर लेती है तब उसके विपरीत आचरण करना किसी भी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता, यही नियम सर्वत्र कार्य करता है एवं प्रत्येक कर्म के सुख-दुःख रूप फलों का अनुभव भी बुद्धि ही कराती है। अतः यदि बुद्धि किसी भी इन्द्रिय-द्वारा गृहीत वा संगृहीत विषय को स्वीकार न करे तो उसको न तो वाणी कह सकती है न शरीर कर सकता है। यहां तक कि जब बुद्धि समाहित होती है अथवा किसी विवेचन में निमग्न होती है उस समय उत्पन्न हो रहे शब्दों को—भाषण आदि को कान सुनते नहीं, खुले हुए भी नेत्र रूप को ग्रहण नहीं करते,

ऐसी अवस्था सब विषयों की होती है; विवेचनाविहीन इन्द्रियों को बुद्धि जब किसी विषय के ग्रहण करने के लिए प्रेरित करती है, तब ये उन्हें ग्रहण करने लगती हैं। इस प्रकार गुण-दोष निर्णायिका बुद्धि जब इन विषयों के ग्रहण, रक्षण आदि में अकल्याण तथा हिंसा आदि पाप का निश्चय करके इन्हें सर्वथा ग्रहण नहीं करती-कराती, तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय-ग्रस्त होकर किसी भी देश, काल, दिशा, अवस्था में विषयों को अस्वीकार करती है तब यह 'बौद्धिक-अपरिग्रह' होता है; अन्यथा यह बौद्धिक-परिग्रह है—विषयों का उपभोग है—विषय-सेवन है।

विषय क्यों त्याज्य है ? इसलिए कि विषयों में आसक्ति बन्धन तथा इनके उपभोग में मृत्यु का भय होता है; गरुड़ पुराण में कहा है—

पतङ्ग मातङ्ग कुरङ्ग भृङ्ग मीना हता पंचभिरेव पंच,
एकः प्रमादी स कथं न हन्येत यः सेवते पंचभिरेव पंच।

अर्थात्—एक-एक विषय में आसक्त हुए पतङ्ग, हस्ती, हरिण, भ्रमर, और मछली अपना जीवन खो बैठते हैं तो यह प्रमादी मनुष्य क्यों न इनमें फंसकर मारा जायगा जो पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हुआ पांचों का सेवन करता है। हम नित्य देखते हैं, रूप के लोभी पतंगे दीप-शिखा पर गिर-गिरकर जल मरते हैं; इसी भांति रूप-यौवन पर आसक्त मनुष्य नारी की प्राप्ति के लिए मर मिटते हैं। स्पर्श में आसक्त गजराज बन्धन में आ जाता है; हस्तियों को पकड़नेवाले व्यक्ति, एक बड़ा कूप-सा खोदकर उसे तृण, बांस आदि से ढक देते हैं, उस पर अथवा उसके समीप ही या तो जीवित हथिनी या कृत्रिम हथिनी को बांधकर खड़ा कर देते हैं। हथिनी के स्पर्श वा आलिंगन का लोभी हाथी जब उसके पास जाता है कूप में गिराकर बांध लिया जाता है। हरिण को पकड़नेवाले जाल बिछाकर कोई सुरीला बाजा बजाने लगते हैं, मधुर शब्द के लोभी हरिण उसे सुनकर जब उधर आते हैं जाल में फंसकर पकड़े जाते हैं। इसी भांति गन्ध का लुब्धक भौंरा कमल पर बैठा उड़ता नहीं, रात्रि के समय कमल के बन्द हो जाने पर उसीमें घुट मरता है। मछेरे बांस में बंधे छोटे से कांटें पर मांस का टुकड़ा अथवा अन्य कोई खानेवाली वस्तु लपेटकर जल में छोड़ देते हैं, उसे निगल लेनेवाली मछली पकड़कर मार दी जाती है। अतः कवि मनुष्य का ध्यान आकर्षित कर रहा है, पांचों विषयों के दास बने व्यक्तियों की दुर्दशा की ओर ऐसा भी कहा है—

विषस्य विषयणां च दृश्यते महदन्तरम्,
उपभुक्तं विषंहन्ति विषयाः स्मरणादपि। सुभाषित०

अर्थात्—विष तथा विषयों में यह महान् भेद देखने में आता है, विष तो

खाये जाने पर मारता है और विषय स्मरणमात्र से मार देते हैं। तथा च—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्,
तेनास्य क्षरति प्रज्ञादृतेः पात्रादि वोदकम्।
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा,
सर्वान् सं साधयेदर्थान् अक्षिण्वन्योगतस्तनुम्।

—मनु० २-९९, १००

अर्थात्—समस्त इन्द्रियों में से यदि एक इन्द्रिय भी विषयोन्मुख वा आसक्त होती है तो मनुष्य के ज्ञान की क्षीणता इसी प्रकार होने लगती है जैसे जलपात्र से अथवा छोटे से छिद्रवाले घड़े से जल बह जाता है। अतः योगी बाह्य-मुखी-इन्द्रियों को मन के सहित वश में करके, शरीर को व्यर्थ कष्ट न देता हुआ अपने लक्ष्य को सिद्ध करे। अन्यच्च—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्,
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति। मनु०, २-९३

इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से योगी निस्सन्देह दोषी बनता है, और इन्द्रियों को वश में रखने से अपरिग्रह की सिद्धि होती है। तथा—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु,
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्। मनु० २-८८

अर्थात्—विषयों में विहार करनेवाली इन्द्रियों को रोकने में योगी इस प्रकार यत्न करे जैसे योग्य सारथी रथ के घोड़ों को वश में रखता है, तभी प्रत्याहार की सिद्धि होती है। तथा—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः,
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः। मनु०, २-९८

जो योगी पांचों इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता हुआ भी इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति से सुख तथा ग्लानि-कष्ट अनुभव नहीं करता वह पूर्ण जितेन्द्रिय-प्रत्याहार-सिद्ध योगी है।

वाचिक-अपरिग्रह—प्रत्येक प्रकार से वाणी का संयम रखना, जैसे—असत्य, छलकपट युक्त कठोर, परुष वचन न बोलना, निन्दा न करना, अधिक न बोलना; लोभ, मोह, क्रोध, काम वश होकर, सर्व काल-देश-जाति में वाणी का दुरुपयोग न करना 'वाचिक-अपरिग्रह' है—वाणी के द्वारा विषयों में प्रवृत्त होने का आदेश भी न देना चाहिए। इसके विपरीत परिग्रह तथा अप्रत्याहार है। अनावश्यक याचना,

मनोरंजन में हासोपहास करना, अपने पास अधिक पदार्थों के रखने के लिए वाणी से प्रवृत्त होना वाचिकपरिग्रह के ही अन्तर्गत हैं। मौन, वाचिक-अपरिग्रह का महान साधक है।

शारीरिक-अपरिग्रह—अपनी यथार्थ आवश्यकता से अधिक धन-धान्य, वस्त्र-भूमि का उपार्जन तथा संग्रह न करना 'शारीरिक-अपरिग्रह' है। इसके लिए आवश्यक है कि पूर्ण परिश्रम करके उपार्जित सम्पत्ति का अपने तथा परिवार के लिए उतना ही उपयोग करे जिससे स्वयं तथा परिवार के सदस्य विलासी न बनें; अधिक संग्रह करने से जहां अन्य जनसाधारण आवश्यक भोजन-वस्त्रादि के न मिलने से कष्ट पाएंगे—अभिशाप भी देंगे, वहाँ अधिक लोक-संग्रह करने में अधिक समय, परिश्रम लगेगा तथा पाप, हिंसा आदि भी होगी। इनके संरक्षण की चिन्ता तथा भावी सन्तति अधिक भोग-सामग्री को पाकर विलासिता-ग्रस्त होने से उत्पन्न अपयश का कारण बनेगी। सांसारिक बन्धन भी बढ़ेंगे और दृढ़ होंगे।

यदि चारों ही आश्रम अपरिग्रह के व्रती बन कर इसे पूर्ण रूप से पालन करने लगें तो संसार के प्राणियों को अधिक सुख प्राप्त हो। अपनी निजी आवश्यकता स्वयं निर्धारित करके उतनी ही भोग-सामग्री ग्रहण करें तो आज ही यह नरक-सा भूमण्डल सुखधाम बन जाए। भाग्यवश, आवश्यकता से अधिक प्राप्त ऐश्वर्य को वेद के आदेशानुसार **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** त्याग भाव से बाँटकर भोगना चाहिए; और **'मागृधः कस्य स्विद्धनम्'** के आदेश को किसी प्रकार से किसी की वस्तु को ग्रहण न करके पालन करना ही उचित है। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य लोभ तथा तृष्णा-वश होकर दूसरों के भोग्य-ऐश्वर्य को देखकर डाह न करे। अपने तथा परिवार के मोह में फँसकर तथा अन्यान्य कारणों के वशीभूत होकर भी पदार्थों का संग्रह न करे। किसी देश-विशेष में जाकर, किसी जाति-विशेष से, किसी काल-विशेष में लोभ-मोह ग्रस्त होकर अधिक संग्रह न करना **'शारीरिक-अपरिग्रह'** है।

पूर्ण पुरुषार्थ करते हुए जो अर्थ प्राप्ति हो उस पर सन्तुष्ट रहना सर्वोत्तम है। यदि चारों आश्रमवासी इस सात्त्विक धारणा को धारण कर लें कि दान लेना तथा बिना प्रत्युपकार किये कुछ भी लेना हमारे योग-क्षेम का घातक होगा तो अभ्युदय का कारण बनेगा। जो संन्यासी, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी गृहस्थियों का कुछ भी उपकार किये बिना उनका दान खाते हैं—वे ऋणी बनते हैं। किसी-न-किसी रूप में उन्हें वह ऋण चुकाना होगा अन्यथा वे अपने उद्देश्य में सफल न हो सकेंगे। धन-धान्य का अति-संग्रह इतना सुखदायक नहीं होता जितना कि कष्टप्रद होता है। चोर, डाकू, लुटेरे ऐसे धनिकों की घात में रह कर अथवा राजा अधिक 'कर' लगाकर उस

अधिक धन का हरण कर लेते हैं। सुभाषित है—

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु।
मोहयन्तिच सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ।।

धन के कमाने में सदा महान कष्ट उठाना पड़ता है, नाना प्रकार की विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं, धन में राग भी बढ़ जाता है, अतः धन सुखदायक नहीं देखा जाता। अतः बुद्धिमान इसका संग्रह आवश्यकता से अधिक नहीं किया करते। **'कुम्भीधान्या ब्राह्मणाः'** घड़ा-भर अन्न रखने वाले अपरिग्रही ब्राह्मण होते हैं। इस उक्ति को सार्थक करने वालों में महाभाष्य के टिप्पणीकार **'कय्यट'** भी ऐसे ही थे। वे काश्मीर में शालातुर में रहते हुए घट भर अन्न से अधिक नहीं रखते थे। काश्मीर-महाराज उनकी यह अवस्था सुनकर अन्न-वस्त्रादि से भरी गाड़ी लेकर उपस्थित हुए। इनके स्वीकार न करने पर महाराज ने कहा कि आप जैसे महापण्डित मेरे राज्य में ऐसी निर्धन-सी अवस्था में रहें यह मेरे लिए अति कष्टकर है और अनिष्ट-कर भी। ऐसा सुनकर त्यागी-शिरोमणि ने उत्तर दिया कि आपको मेरे इस प्रकार रहने से कष्ट होता है तो मैं आपके देश को ही छोड़े देता हूँ; और वे महाभाष्य-मात्र लेकर पंजाब में चले आये। ऐसे अगणित दृष्टान्त हैं। योगदर्शन अपरिग्रह-सिद्धि का यह फल बतलाता है—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंता सम्बोधः। —योग, २-३९

इस पर भाष्य है—अर्थात्—**अपरिग्रह-सिद्धयोगी** को ऐसा साक्षात होने लगता है कि मैं कौन हूँ—मेरा स्वरूप क्या है, मैं पहले कौन था, किस अवस्था में था; एवं मरने के पश्चात् मेरी क्या गति होगी, मुक्ति होगी अथवा पुनः लौटकर कहां आना होगा, इत्यादि का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार भूत-भविष्यत् की जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है।

वेदान्त के ग्रन्थों में प्रायः यत्र-तत्र ऐसा मिलता है कि शम, दम, तितिक्षा, उपरतिः सम्पन्न शिष्य को आत्मज्ञान का उपदेश करे; ये चारों ही **'अपरिग्रह'** के अन्तर्गत आ जाते हैं। **'शम'** का अर्थ है—मन, बुद्धि की शान्ति, अर्थात् बुद्धि पर अधिकार हो जाना। **'दम'** का अर्थ है—इन्द्रियदमन, इन्द्रियों का वश में हो जाना। **'तितिक्षा'** का अर्थ है—सहनशीलता, विषयों के त्यागने से उत्पन्न होनेवाले कष्ट तथा द्वन्द्वों के सहन में उत्पन्न वेदना अथवा इन्द्रियों को विषयों से तृप्त न होने देने से उत्पन्न दुःखों का सहर्ष सहन करना। **'उपरतिः'** का अर्थ है—विषयों के भोग से बुद्धि का उपरत—विरक्त हो जाना—निवृत्त हो जाना। इस प्रकार इन्द्रियों को विषयों का आहार न मिलने से इनका दमन हो जाता है। तब इन्द्रियगण तथा मन

का व्यापार समाप्त हो जाने पर बुद्धि स्वतः शान्त बनी रहती है—यह शम हो गया। भोग तथा विषयों के न मिलने से उत्पन्न बेचैनी तथा द्वन्द्वों के सहन में उत्पन्न वेदना का सहन करना तितिक्षा है। कष्टदायक विषय तथा संसार में अनुराग न रह कर इनका विचार भी न आने देना उपरति है। इस प्रकार विषयों का ग्रहण, रक्षण, सङ्ग, अहिंसा आदि की निवृत्ति हो जाना रूप 'अपरिग्रह' इन चारों से सिद्ध होता है।

दूसरा अङ्ग—नियम

यम के समान, कई आचार्य नियम के भी १० विभाग मानते हैं जैसे—

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम्।
सिद्धान्तवाक्य श्रवणं ह्रीमती च जपो हुतम्।
नियमादश प्रोक्ता योग शास्त्रविशारदैः॥

—याज्ञवल्क्य-संहिता

अर्थात्—तप, सन्तोष, ईश और वेद पर विश्वास, दान, ईश्वर-पूजा, सिद्धान्त वाक्यों का सुनना, जप, ध्यान, लज्जा, मति, तप तथा अग्निहोत्र, ये दस नियम कहलाते हैं। तथा—

शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं चार्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥

भागवत, स्कं० ११, अ० २०, श्लो० ३४

अर्थात्—शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथिसत्कार, ईशभक्ति, तीर्थ-भ्रमण, पर-कल्याण की भावना, सन्तोष, गुरु के चरणों में निवास, ये ११ नियम हैं। किन्तु हम अपनी मान्यता के अनुसार—

शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

योग, २-३२

अर्थात्—कथित शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति, इन पाँच नियमों की व्याख्या करते हैं।

शौच—शुद्धि दो प्रकार की होती है—बाह्य और आभ्यन्तरिक। इसमें मनु

का कथन है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्धचन्ति मनः सत्येन शुद्धचति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धचति ।। ५-१०९

अर्थात्—जल से शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग शुद्ध होते हैं, और मन सत्याचरण से; विपर्यय-विकल्पादि से रहित ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है; जीवात्मा तपश्चरण के द्वारा निर्मल बने चित्त में स्वरूपस्थिति को प्राप्त करता है—आत्मा की यही शुद्धि है। पूर्ववत्, ये नियम भी बुद्धि-वचन-कर्म के द्वारा आचरण करने योग्य हैं, यह सदा स्मरण रखना चाहिए।

बौद्धिक-शौच—वेद शास्त्रोक्त निषिद्ध कर्मों के त्याग से; काम, क्रोध, लोभ, मोह, भ्रान्ति विपर्यय-विकल्प के अभाव से; ईर्ष्या, द्वेष, तृष्णा, अभिमान, कुविचार पंच-क्लेशों की निवृत्ति से; तथा दया, ऋजुता, नम्रता, प्रणव तथा गायत्री-जप, शिवसंकल्प, अहिंसा, सत्यादि की धारणा वेदशास्त्र के स्वाध्याय के द्वारा निरन्तर सत्त्वगुण के प्रवाहित रहने तथा वृत्तिनिरोध-समाधि से बुद्धि की शुद्धि होती है।

वाचिक शौच—कठोर, अनृत, निन्दा, वाक्छल, सामान्य छल, उपचार छल के त्याग तथा सत्य, मधुर भाषण, स्नेह, सान्त्वना युक्त-वचन एवं प्राणायाम से वाक्-शुद्धि होती है। वर्चा, पान की जड़, कड़वे बादामों का सेवन (वैद्य के परामर्श से) करने से जीभ के दोष दूर होते हैं, कण्ठ-स्वर मधुर हो जाता है।

शारीरिक-शौच—मिट्टी, गोबर, गाजनी मिट्टी, उबटन, साबुन, त्रिफला, रीठा आदि मल कर जल के द्वारा धोने से त्वचा एवं अङ्गों की शुद्धि होती है। इसे बाह्यशौच कहते हैं। विरेचन, बस्ति, नेति, धौति, वमन-गजकरणी, दातुन, ब्रह्मदातुन, जलनेति इत्यादि कर्मों से देह की आन्तरिक शुद्धि होती है। सात्त्विक, शुद्ध कमाई का अन्न, जो नियमित-परिमित रूप में लिया जाय तथा भद्र आचरण, जिसमें हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मांस, मदिरा, मैथुन का परित्याग रहता है, इससे शरीर नीरोग रहकर शुद्ध रहता है। एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि के व्रत-उपवास तथा चान्द्रायण आदि महाव्रतों से शरीर शुद्ध होता है—ऐसा साधु-आचरण शारीरिक-शौच है।

उक्त प्रकार से जब बाह्य और आभ्यन्तरिक शुचि हो जाती है, तब उससे प्राप्त होनेवाले फल का वर्णन योग इस रूप में करता है—

शौचात् स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः । २-४०

अर्थात्—जब बाह्य शौच की सिद्धि हो जाती है—योगी अपनी दिव्यदृष्टि से

अपने शरीर में रस, रक्त, मांस, अस्थियों के साथ यत्र-तत्र पड़े मल-मूत्र और वात, कफ, पित्तादि के विकार के दर्शन कर लेता तथा मलों को सदा निकलते हुए देखता है। तब उसे अपने शरीर से विरति होने लगती है—राग का अभाव होने लगता है। अपने शरीर के समान ही दूसरों के शरीर भी मल-मूत्र के पिण्डमात्र भासते हैं। अतः उनके साथ मिलना, संसर्ग रखना भी अरुचिकर होने लगता है और वह एकाकी रहने का यत्न करता है एवं अपवित्र देहों के साथ स्पर्श भी नहीं करना चाहता। देहाध्यास-शरीर को ही अपना स्वरूप मानने का अज्ञान न्यूनतम हो जाने से इस शरीर से यन्त्र के समान व्यवहार करने लगता है—यह बाह्यशौच का फल होता है। आगे आन्तरिक शुचि का फल यह होता है—

सत्त्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानि च। २-४१

अर्थात्—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा के अभ्यास से चित्त शुद्ध होकर सौम्य-शान्त बन जाता है। चित्त, बुद्धि, मन में एकाग्रता बढ़ने लगती है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त के शान्त-सौम्य-एकाग्र होने से **'आत्मदर्शन'** की योग्यता आ जाती है। आत्मदर्शन होने पर देहाध्यास की सर्वथा निवृत्ति हो जाने से योगी को स्वतः ब्रह्मदर्शन का अधिकार मिल जाता है।

स्वामी दयानन्द के जीवन की यह घटना है—पाचक को यह आदेश था कि वह सदा ताज़ा जल भोजन-स्नान आदि के लिए भरा करे। आलस्यवश उसने एक दिन बासी में ही ताज़ा जल मिलाकर स्नान के लिए दे दिया। स्नान कर लेने पर स्वामीजी ने पाचक से ऐसा करने का कारण पूछा। पहले तो याचक ने अपना दोष स्वीकार न किया; परन्तु डाँटने पर वह अपना दोष मान गया। अन्तः-बाह्य-शौच से प्राप्त यह इन्द्रिय की दिव्यता का दृष्टान्त है। तथा, आज से ३५ वर्ष पूर्व, प्रसिद्ध योगी स्वामी सियारामजी मुलतान (पंजाब) में प्रायः जाया करते थे। एक दिन सायंकालीन सत्सङ्ग की समाप्ति पर किसी व्यक्ति ने कुछ दक्षिणा भेंट करने के लिए हाथ बढ़ाया। अनायास स्वामीजी ने भी आज अपना हाथ बढ़ा दिया (यद्यपि वे कभी ऐसा नहीं करते थे)। हाथ पर रुपया पड़ते ही स्वामी जी ने वह रुपया यह कहकर गिरा दिया कि **'इसमें बड़ी गर्मी है'**। पूछने पर उस व्यक्ति ने **'हत्या के मुकदमे में मिले मेहनताने का उसे बताया।'** यह सुनकर सत्सङ्गी चकित रह गए। यह भी शौच-सिद्धि का दृष्टान्त है।

सन्तोष—नियम का दूसरा अङ्ग सन्तोष है। इसका लक्षण है—शरीर से पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त धन से अधिक की लालसा न करना; न्यूनाधिक की प्राप्ति पर शोक और हर्ष न करना।

बौद्धिक संतोष—धन-ऐश्वर्यादि भोग-सामग्री की स्वलपता में ईश्वर-संसार-प्रारब्ध पर किसी प्रकार का 'गिला' वा रोष बुद्धि में न उपजे; और ऐश्वर्यादि की प्रचुरता वा अधिकता में हर्ष न होकर आवश्यकता से अधिक को त्याग देने के विचार रहें—यह बौद्धिक सन्तोष है। बौद्धिक-सन्तोष तभी होता है जब वेद-शास्त्र तथा स्वानुभूति के आधार पर बुद्धि भोग-तृष्णा को त्याग देती है। जैसे, वेद का आदेश है—**मागृधःकस्यस्विद्धनम्।** जब विचारपूर्वक अपने भाग्य पर विश्वास दृढ़ होगा तभी तो किसी का धन ग्रहण न करने का विचार तथा आचरण भी होगा। शास्त्रों में—

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्,
संतोषमूलंहिसुखं दुःखमूलंविपर्ययः । मनु०, ४-१२०

अर्थात्—यथासंभव शक्ति के अनुसार पंच महायज्ञ, अतिथि, पशु, भृत्य, कुटुम्ब तथा अपने जीवन के निर्वाह के लिए जितना धन उपार्जन करना आवश्यक हो उतना ही करना, सन्तोष कहलाता है। तृष्णा-लोभ-लालसा त्याग कर संयत-बुद्धि होकर सुखी बने, क्योंकि सुख का मूल सन्तोष है, इससे विपरीत आचरण दुःखदाई होता है।

गृहस्थी-वर्ग जो दूकान करते हैं, व्यापार, कारखाने चलाते हैं तथा कृषि आदि कर्म करते हैं, इनको भी सन्तोष करना चाहिए—अर्थात्—दूकान में व्यापार तथा कारखाने में घाटा पड़ जाने पर, कृषि में सूखा वा अतिवृष्टि हो जाने से हुए विनाश से चिन्तित न होकर, अन्याय-लोभ-रोष के वशीभूत न होकर बुद्धि में यथार्थता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इन हानि-लाभों को अपने प्रारब्ध-कर्म का फल मानकर, सन्तुष्ट रहकर, पुरुषार्थ करना ही उचित है।

प्रत्येक आश्रमी को संयमी-संतोषी होना आवश्यक है अन्यथा नाना प्रकार के कष्ट उपजते हैं। अन्यत्—

संतोषामृत तृप्तानां यत् सुखं शांत चेतसाम्,
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्चधावताम् । सुभाषित २-१

अर्थात्—सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त शान्तचेता महापुरुषों को जो सुख मिलता है, वह धन-ऐवर्य के लोभी इधर-उधर भागनेवालों को प्राप्त नहीं होता। तथा—

न योजनशतं दूरंबाध्यमानस्य तृष्णया,
संतुष्टस्य कर प्राप्तेप्यर्थे भवति नादरः। सुभाषित २०-१०

अर्थात्—तृष्णा के दास बने हुए मनुष्य के लिए सैकड़ों मीलों की दूरी भी

दूरी नहीं है। वह देश-विदेश में अर्थकामना पूर्ति के लिए मारा-मारा फिरता है; परन्तु सन्तुष्ट योगी समीप आई लक्ष्मी को भी ठुकरा देता है। इसका आँखों-देखा दृष्टान्त देते हैं। अमृतसर में नहर के किनारे एक सन्त लछमनसिंहजी रहते थे। पास के 'गरवाली' ग्राम से वे एक समय ही चार रोटियों की भिक्षा करके खा लेते थे। इससे अधिक कुछ नहीं ग्रहण करते थे। उन शान्त सन्तोषी महात्मा के दर्शन मैं प्राय: करता रहता था। एक दिन देखा, नगर के धनीजन उन्हें बलात् कुछ रुपए दे रहे हैं और सन्तजी ना-ना कर रहे हैं। अन्त में एक धनीजन ने सन्तजी के कपड़े में रुपए बाँध दिए और वे चलते बने। सन्तजी ने पास बह रही नहर में वे रुपए कपड़े सहित फेंक दिए। मेरे पूछने पर कहने लगे—जो वस्तु मेरे काम की नहीं उसे अपने पास रख कर क्या करूँ। ऐसे महान पुरुष, जिन्हें ऐश्वर्य तथा भोगों की तृष्णा मिट चुकी है, सन्तोष का आनन्द लेते हैं। आख्यान है—प्रसिद्ध महात्मा 'कणाद' अपनी पत्नी के साथ कहीं जा रहे थे। मार्ग में जब 'लघुशंका' (मूत्र) करने बैठे तो समीप ही एक कलश अशर्फियों से भरा उघड़ा दीखा। उठकर उन्होंने उस कलश पर मिट्टी डाल दी। समीप आने पर पत्नी ने पूछा, "क्या ढूंढ रहे थे?" बोले, "बताने की बात नहीं है।" देवी स्वयं देखकर आकर कहने लगी, "मिट्टी तथा अशर्फियों में अभी भेद बना हुआ है; चित्त लुभायमान न हो, इसीलिए आपने इस कलश पर मिट्टी डाल दी।" यह उत्कृष्ट कोटि का बौद्धिक-सन्तोष है। आचार्य यम ने प्रसिद्ध बालक नचिकेता की परीक्षा करते हुए आत्मजिज्ञासा के बदले में जब अतुल भोग-सामग्री देने को कहा तो उस परमसन्तोषी-निःस्पृही-विरक्त-बुद्धि का दिया उत्तर पुनः-पुनः दोहराने योग्य है—

श्वोभावामर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्तितेजः,
अपि सर्वंजीवितमल्पमेव तवैववाहास्तव नृत्यगीते।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्योलपस्यामहे वित्तमद्राक्ष्मचेत्त्वा,
जीविष्यामो यावदीशिष्यसित्वं, वरस्तुमेवरणीय स एव। कठ०,२६-२७

हे आचार्य यम, उत्पन्न हुए मनुष्य तथा सब ऐश्वर्यादि पदार्थ नाशवान हैं, आज नहीं तो कल नष्ट हो जाएंगे तथा इन्द्रियों के तेज को भी भस्म कर जाएंगे; कितना ही लम्बा हो—जीवन का अन्त भी होना ही है, उसके पीछे ये सब ऐश्वर्य यहीं पड़े रहेंगे। ऐश्वर्य से मनुष्य तृप्त हो गया हो, ऐसा सम्भव नहीं है, 'तृष्णैका तरुणायते'। मनुष्य भी अपनी आयु से अधिक जीवित नहीं रह सकता। अतः हे आचार्य, मुझे वरदान प्रदान कीजिये—यह सन्तोषामृत-परितृप्त का कथन है। कवि कहता है—**सर्वत्र सम्पदस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्, उपानद्**

गूढपादस्यननुचर्मावृतैवभूः । जिस महापुरुष की बुद्धि विवेकसे तृप्त तथा सन्तुष्ट हो गई है उसे सर्वत्र सम्पदा-ही-सम्पदा मिलती है । जैसे जूता पहिने पुरुष के लिए मानो पृथ्वी चर्म से मढ़ी हुई है । उसके लिए लक्ष्मी का कोई महत्व नहीं रह जाता । हरद्वार-कुम्भ के एक मेले पर मैं एक सन्त को कुछ रुपए अर्पित करने लगा। महात्मा कहने लगे, "मैं इन ठीकरियों का क्या करूँगा ! आज ६० वर्ष हुए, मैंने इन्हें स्पर्श तक नहीं किया", कितना सन्तोष और त्याग है। जिनमें तृष्णा बलवती है, वे सदा ही विक्षिप्त, परेशान तथा अशान्त बने रहते हैं, अपमानित भी होते हैं, जैसे—**तृष्णेदेवी नमस्तुभ्यं धैर्य विप्लवकारिणी, विष्णुस्त्रैलोक्यनाथोऽपियत्त्वया वामनी कृतः ।** हे देवी तृष्णे, तुझे नमस्कार है, क्योंकि तू महापुरुषों के अन्तःकरणों में भी विक्षेप उत्पन्न कर देती है, त्रिलोकीनाथ विष्णु को भी तेरे पदार्पण से 'वामन' का तुच्छ रूप धारण करना पड़ा था और तीन पाद भूमि की याचना भी की थी । सन्तोष का अभाव हो जाने से आशा-तृष्णा अति बलवती होकर मनुष्य के जन्म-मरण प्रवृत्ति दोष और दुःखों का कारण बनी रहती हैं ।

आशाहि मनुष्याणां कश्चिदाश्चर्यश्रृंखला,
ययाबद्धाप्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत् ।

सुभाषित, पृ० ७६-१०

अर्थात्—आशा की दृढ़तर सांकल से बँधे मनुष्य संसार के भोग-ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए दिन-रात भागे फिरते हैं, और आशा-तृष्णा से विरक्त बने महानुभाव शान्त होकर बैठ जाते हैं—मानो उनके पैर ही नहीं हैं ।

आशा के दास बने व्यक्ति संसार के ही दास बन जाते हैं । जिन्होंने आशा को दासी बना लिया है, यह संसार उनका दास बन जाता है। अतः लोभ, मोह, राग, आशा, तृष्णादि के वशीभूत न होकर सदा सन्तोष का आश्रय ग्रहण करें। योग दर्शनकार के कथनानुसार—

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः । २-४२

सन्तोष से सर्वोत्तम सुख मिलता है । बुद्धि के प्रसादगुण से बौद्धिक-सन्तोष होता है ।

वाचिक-सन्तोष—वाचालता का त्याग देना वाचिक-सन्तोष है । कटुवचन सुनकर,अपमानित होकर, हानि उठाकर भी क्रोधादि से आवेश में न आकर दुर्वचनों का त्याग, निवृत्ति का उपदेश, स्वल्प भाषण, विवाद का त्याग, गुरुजनों से प्रताड़ित होकर भी प्रत्युत्तर न देना तथा यथाशक्ति मौन रहना आदि वाचिक-सन्तोष कहा जाता है । हरद्वार में सन्त विमलदेव रहते थे । उनकी वाणी पर सदा कट, कठोर,

अपशब्द (गाली) ही नृत्य किया करते थे। एक बार गङ्गा के किनारे चलते हुए उनका साथ हो गया। सुअवसर देखकर मैंने उनका ध्यान इस अवगुण की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने कहा, "मैं इस अवगुण को जानता हुआ भी त्याग नहीं सकता, आप ही इसका कुछ उपाय बतायें।" मेरे कथन पर उन्होंने गङ्गाजल हाथ में लेकर तीन वर्ष तक मौन रहने का व्रत लिया और उसका यथेष्ट फल निकला। वाणी के द्वारा होने-वाले सभी दुर्व्यवहारों का परित्याग कर देने से वाचिक-सन्तोष की प्राप्ति होती है।

शारीरिक-सन्तोष—शरीर से हिंसा, चोरी, व्यभिचार, विषयों का उपभोग, किसीका अपकार, बलात्कार, अत्याचार आदि दुष्कर्म न करना तथा काम-क्रोधादि-जन्य-विकारों से प्रभावित होकर कुकर्म न करना एवं दीन-दुखियों की सेवा, ब्रह्मचर्य का पालन, सत्कर्मों का अनुष्ठान करना शारीरिक-सन्तोष है। अपराधी को दण्ड न देना, हानि करनेवाले की प्रताड़ना न करना और शरीर को भोग-विलासी न बनाना भी इस सन्तोष में सम्मिलित है। तीनों प्रकार के सन्तोष से प्राप्त सुख के विषय में भाष्यकार व्यास ने प्रमाण दिया है—

यच्चकाम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडषीं कलाम्॥

इस लोक में पाञ्च भौतिक भोगों का स्थूल-इन्द्रियों तथा स्थूल शरीर से भोग होता है, और सूक्ष्म शरीर के द्वारा सूक्ष्मतन्मात्रिक भोग, अथवा लोक-विशेष स्वर्ग में भोगा जानेवाला दिव्यभोग तृष्णा-क्षय से प्राप्त होने वाले परम सुख-सन्तोष का सोलहवाँ अंश भी नहीं है—ये सब दिव्य-अदिव्य भोग-सुख मिलकर भी तृष्णा-क्षय के १६वें अंश के सुख के समान नहीं हैं। सुभाषित का श्लोक है—

आशा बलवती कष्टं नैराश्यं परमं सुखम्।
आशा निराशा कृत्वातु सुखं स्वपिति पिङ्गला॥

—पृष्ठ ७४-श्लो. २२

बलवती आशा महान् कष्टदायक है, और निराशा परम सुखदायक है; आशा को निराशा में परिणत करके (बदल कर) अब पिङ्गला सुख की नींद सोतीं है। एक उपाख्यान के अनुसार कोई पिङ्गला नाम की वेश्या अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में रात-भर द्वार पर खड़ी जागती रही। उसके न आने से उत्पन्न निराशा तथा विरति से उत्पन्न सुख से उसे निद्रा आ गई। तब से वह उस कर्म को त्याग सदा के लिए सुखी हो गई। कहते हैं उसने फिर ऐसा कहा—'**जैसा प्रेम हराम से वैसा हरि से होय, चला जाय वैकुण्ठ को हाथ न पकड़े कोय।**' सन्तोष के अभाव तथा तृष्णा की वृद्धि हो जानेपर जो १०० रुपये वाला १००० की, हजार हो जाने पर लाख की, फिर

करोड़ की इच्छा करता है। अतृप्ति उसे राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, कुबेर तथा देव-राज इन्द्र बन जाने के स्वप्न दिखाती चली जाती है। अन्त में मृत्यु ही इससे पिण्ड छुड़ाती है। सुभाषित है—

आशैव राक्षसी पुंसामाशैव विषमञ्जरी;
आशैवजीर्णा मदिराधिगाशा सर्व दोष भूः।
गिरि महान् गिरेब्धिर्महानब्धेर्नभो महत्।
नभसोऽपि महद् ब्रह्म ततोप्याशा गरीयसी॥

—पृष्ठ ७९

अर्थात्—यह आशा मनुष्यों का भक्षण करनेवाली राक्षसी अथवा विष की बेल के समान है, आशा ही बासी मदिरा के समान तथा सब दोषों का मूल कारण है। संसार में पर्वत बड़ा गिना जाता है, पर्वत से बड़ा समुद्र है, और समुद्र से महान् आकाश है, अन्त में आकाश से भी महान्‌तम ब्रह्म है; परन्तु यह आशा ब्रह्म से भी महती दीखती है—जिसके वश मे तीनों लोक हैं। इसीलिए सर्व प्रकार से आशा-तृष्णा को त्यागकर परम सन्तोष धारण करनेवाले की सर्वत्र पूजा होती है।

नियम का तीसरा अङ्ग—तप

'नियम' का यह तीसरा अङ्ग है। इसका लक्षण किया है—

तपो द्वन्द्व सहनम्, द्वन्द्वांश्च, जिघत्सा-पिपासेशीतोष्णे, स्थानासने काष्ठ-मौनाकारमौनेच। व्रतानिश्चैव यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायण सान्तपादीनि॥

योग, सा० पाद भाष्य सूत्र ३२

अर्थात्—भूख-प्यास, शीत-उष्ण, स्थान तथा आसन के कष्टों को सहन करना; आकार-मौन, काष्ठ-मौन धारण करना; एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा तथा चान्द्रायण, कृच्छ्रचान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रतों को करना—तप है। कायिक-वाचिक-बौद्धिक तपश्चरण सिद्धिप्रद होता है।

बौद्धिक-तप—बुद्धि में दो प्रकार की विचार-धाराओं का प्रवाह बहा करता है; क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट। इनमें से क्लिष्ट-प्रवाह—काम-क्रोधादि विकार,

लोभ-मोह-दर्प-निन्दा-राग-द्वेष-संशय-भ्रान्ति-जन्य कुवृत्तियों का सदा निवारण करते रहना; अपमान, हानि, निन्दा से भी बुद्धि का सन्तुलन न खोना; हिंसा, असत्य, स्तेय, व्यभिचार, परिग्रह आदि यम-नियमों के विपरीत भावनाओं का दमन करना, विषयों में दौड़नेवाली इन्द्रियों और मन का दमन करते रहना; आसक्तियों से हटाना बुद्धि का तप है। अन्यत्—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धि रित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ गीता, १७-१६

अर्थात्—मन, बुद्धि की शान्ति-स्वच्छता-पवित्रता का सम्पादन करना, संकल्प, विकल्पात्मक मानस-वृत्तियों को रोकना, व्यापार न करने देना, व्यवहार में छलकपट न करके शुद्ध व्यवहार करना, सदा सात्त्विक विचार रखना बौद्धिक-तप है। यहाँ पर मन से तात्पर्य बुद्धि का ही है। एवम्—

येषु येषु दृढ़बद्धा भावना इष्ट वस्तुषु।
तानितानि विनष्टानि, दृष्टानि किमिहोत्तमम्॥

सुभाषित० पृ० ३८९, श्लो० १४९

अर्थात्—जिन-जिन दृश्यमान पदार्थों में आसक्ति की भावना दृढ़ हो गई है, वहाँ-वहाँ से बुद्धि को हटा कर ऐसा निश्चय धारण करना चाहिए कि समस्त दृश्यमान पदार्थ नाशवान हैं। तथा—

जन्मैव व्यर्थतां नीतं भवभोग प्रलोभिना।
काच मूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया॥

सुभाषित० पृ० ३९१, २०५

प्राप्त हुआ यह मानव-जन्म, संसार के भोगों के प्रलोभन में फँस जाने से व्यर्थ ही गया, चिन्तामणि-रत्न के समान मानव-जीवन को देकर काँच के समान हीन विषयों को लिया, यह कैसी विडम्बना है। बुद्धिगत एक छोटा-सा विकार भी कभी-कभी जीवन भर दुखी करता रहता है, यह प्रत्यक्ष देखने में आया। अमृतसर में एक महातमा रामदासजी आ टिके थे। भोजन में वे प्रायः अंजीर जैसे फलों को उबाल कर लेते थे और जब फल नहीं रहते उनके पत्ते उबाल कर खाते रहते। ऐसा आचरण देखते मुझे पर्याप्त समय बीत गया। एक दिन उन्हें नगर में जाते देख उत्कण्ठावश मैं भी उनके पीछे चल पड़ा। बाज़ार में एक हलवाई ताज़ी जलेबियाँ उतार रहा था। सन्तजी ने गरम जलेबियों के थाल में मुँह डालकर खाना आरम्भ कर दिया। हलवाई ने बिना आगा-पीछा देखे उनकी पीठ पर झरने की मार प्रारम्भ कर दी। पीठ पर जहाँ-तहाँ रक्त उभर आया। आस-पास के व्यक्तियों ने महात्माजी

को मार से बचा लिया। मैंने नम्रता से पूछा, "महाराज! जलेबियों की इच्छा थी तो मुझे आज्ञा देते। मैं यथेच्छ ला देता, ऐसा क्यों किया ?" महात्मा ने अतिशान्ति से कहा, "२६ वर्षों से जलेबी खाने का विचार बुद्धि को विचलित किए हुए है। समझाने तथा जीभ के दमन करने पर भी जब इसने पीछा नहीं छोड़ा तब इसे जलेबियाँ खिलाने यहाँ ले आया था।" उनके तप और त्याग से प्रभावित अमृतसरवासी जन, इस दृश्य को देख और उनके उत्तर को सुन कर चकित रह गए। विषयभोग के लिए रसना आदि इन्द्रियों को प्रवृत्त न होने देना—बौद्धक तप है। गीता में कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारंनाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ १६-२१

अर्थात्—काम, क्रोध, लोभ मानव के पतन के महाकारण होने से त्याग देने योग्य हैं। इस आदेश के अनुसार बुद्धि को सदा इनसे दूर रखें; क्योंकि तृष्णा में बँधी बुद्धि भोग-ऐश्वर्य में फँस कर मन-इन्द्रिय तथा देह को भी दास बना देती है। अन्यत्—

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ गीता, ६-२६

अर्थात्—यह चपल—अस्थिर मन जिस-जिस इन्द्रिय और विषय की ओर भागे, उधर से रोक कर इसे बुद्धि के वश में करे—बे-लगाम घोड़े के समान बने मन को बुद्धि के द्वारा रोकना बौद्धिक-तप है।

वाचिक-तप—प्रत्येक प्रकार के पाप से, जो वाणी के द्वारा होते वा हो सकते हैं, उन्हें न करना वाणी का तप है। इस तप में क्रोध, आवेश में आकर भी असत्य, कठोर, उद्वेगकर, जले-कटे, अपमानजनक वचनों का व्यवहार न करना सम्मिलित है। निवृत्ति मार्ग का उपदेश करना, विवाद न करना, गुरुजनों से डाँट-फटकार मिलने पर मौन रहना तथा हृदय को कष्ट तथा प्राणियों की हिंसा-परक वचन न कहना, आदि वाचिक-तप कहा जाता है। वाणी पर अधिकार रखते हुए नपे-तुले वचन बोलना, अनर्थक-प्रलाप न करते हुए सार्थक युक्ति-युक्त वचन बोलना वाणी का तप है। यथा—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितंच यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ गीता० १७-१५

अर्थात्—जो वचन किसी की बुद्धि में क्षोभ, क्रोध, द्वेष, अपकार, प्रतिकार आदि उत्पन्न न करें ऐसे सत्य, प्रिय, मधुर वचन बोलना, जिससे दूसरा व्यक्ति आवेश को त्याग कर नम्र, आर्द्र, प्रसन्न हो जाय तथा स्वाध्याय-निरत वाणी, ये वाचिक-

तप के अन्तर्गत हैं। मौन रहना भी महान् तप है। **'अमोघाऽस्यवाक् भवति'** भाष्यकार व्यास ने ऐसा लिखा है; अर्थात् योगी की सत्य तथा तप से तपी वाणी व्यर्थ नहीं होती। पापी को भी यदि वह **'धर्मात्मा होजा'** ऐसा कह देता है तो वह धर्मात्मा बन जाता है। सेठ तुलसीरामजी बम्बई-निवासी लोक-व्यापार से उपराम होकर हरद्वार में आ जाते और मौन रह कर गायत्री, जप, उपासना करते थे। पूजन से उठने के बाद वह जो कहते थे, प्रायः सत्य ही होता था। व्यापार सम्बन्धी बातें भी सत्य हो जाती थीं। इस सत्यकथन पर उन्हें जब अभिमान होने लगा तब यह शक्ति भी लुप्त हो गई। सुभाषित है—

मूकः पर अपवादे पर-दार निरीक्षणेऽप्यन्धः।
पङ्गु पर-धन हरणे स जयति लोकत्रये पुरुषः॥

अर्थात्—जो व्यक्ति पर-अपवाद—दूसरे की निन्दा-स्तुति में चुप रहता है, नारी-दर्शन में अन्धा बना रहता है, पर-धन-हरण के लिए मानो लंगड़ा है, उस पुरुष ने मानो संसार को जीत लिया है। इस भाँति वाणी का तप-संयम करके अमोघ-शक्ति का संचय करें।

शारीरिक-तप—भूख, प्यास, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहन करना प्रसिद्ध ही है। परन्तु—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ गीता १७-१४

अर्थात्—आत्मदर्शी तथा ब्रह्मदर्शी देवों का, द्विजातिजनों का, गुरुजनों का, विशेष बुद्धिमानों का यथायोग्य सत्कार करना, शुद्धि और सरलता रखना, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना शारीरिक-तप कहलाता है। साधारण मनुष्य भी जानते हैं कि तप—अर्थात् शारीरिक कष्ट सहे बिना सांसारिक सुख भी प्राप्त नहीं होता, तब इहलौकिक ऊँचा ऐश्वर्य सुख तथा पारलौकिक ब्रह्मानन्द बिना तप के कैसे प्राप्त हो सकेगा? अतः इन सुखों के देने में सहायक योगी, सिद्ध, गुरुजन, तथा अन्य ऊँची स्थिति या साधारण स्थिति के व्यक्तियों की यथायोग्य सेवा करनी चाहिए। प्रसिद्ध है कि इन्द्र ने १०४ वर्षों तक अपने गुरुजनों की सेवा करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था। बुद्धिमान ज्ञानी परिव्राजकों, चाहे किसी वर्ण के हों, तथा संन्यासियों का सम्मान सदा इसलिए करना चाहिए कि इनके गमनागमन से सुन्दर उपदेश, विभिन्न प्रकार का ज्ञान तथा अनेक समस्याओं को सुलझाने के लिए समाधान मिलता है। ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि महाव्रतों के पालन में होनेवाले शारीरिक कष्ट को सहने से विज्ञान तथा परमानन्द का परम प्रसाद मिला करता है। द्वन्द्वों के

सहन करने में मान-अपमान का ध्यान भी कभी न करे। इससे तप क्षीण हो जाता है। यथा—

असम्माने तपो वृद्धिः सम्मानाच्च तपःक्षयः।
पूजया पुण्यहानिः स्यान्निन्दया सद्गतिर्भवेत॥

सुभाषित० पृ० ६६

अर्थात्—अपमान से तप में वृद्धि होती है, और मान, प्रतिष्ठा, यश से तप में विघ्न पड़ता है; क्योंकि प्रतिष्ठा से अभिमान उत्पन्न होकर तपश्चरण में शिथिलता तथा जनता की पूजा से समय का नाश होता है।——इस प्रकार की पूजा तप की क्षीणता का कारण बन जाती है और पुण्य-संचय नहीं हो पाता। तपश्चरण करते हुए योगी की निन्दा होने से योगी को अपने दोष दूर करने और सद्गुणों का संग्रह करने में बड़ी सहायता मिलती है। किसी का कथन है——

निन्दक नेड़े राखिए आंगन कुटी बनाय।
तुझ को देवे चाँदना, आप अन्धेरे जाय॥

शारीरिक-तप भी अनेक पापों का क्षय कर देता है। अतः, तितिक्षा का सदा पालन करते रहें और तपश्चरण में कभी प्रमाद न करें। युवावस्था में हमने भी तपश्चरण के महत्त्व पर दृष्टि रखते हुए वैशाख-ज्येष्ठ की कड़ी धूप में कौपीन मात्र धारण करते हुए छत पर घण्टों गायत्री जप किया, छत पसीने से तर हो जाती थी। शीतकाल में,इसी प्रकार आकण्ठ शीतल जल में रात्रि के समय खड़े रह कर गायत्री जपते रहे। हरद्वार में सप्तसरोवर पर तीन वर्षों तक ३-३ मास तक ११-११ धूनियाँ भी तपी हैं। ऐसा तपश्चरण अपनी धारणा के अनुसार न्यूनाधिक रूप में देहाध्यास में न्यूनता तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करा देता है। सुभाषित है—

सन्तोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु च नैव कर्तव्यो दाने तपसि पाठने॥ पृष्ठ ३६७

अर्थात्—अपनी पत्नी, भोजन, धन में सदा सन्तोष रखना चाहिए, परन्तु दान देने में, तपश्चरण में, पठन-पाठन में कभी सन्तोष न करे। मनु का आदेश है—

यं माता-पितरौ क्लेशं सहेते संभवेनृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्ष शतैरपि॥ २-२२७

अर्थात्—गर्भाधान से लेकर पाल-पोष कर युवा बनाने में जो कष्ट माता-पिता सहन करते हैं, उसका बदला सौ वर्ष तक भी नहीं चुकाया जा सकता। अतः—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यात् आचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥ २-२२८

अर्थात्—माता, पिता, आचार्य इन तीनों का सदा प्रिय करे, यथायोग्य सेवा सत्कार करे, इन तीनों की सेवा और सन्तुष्टि में सब तप पूर्ण हो जाते हैं—समाप्त हो जाते हैं। तथा—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत॥ २-२२९

अर्थात्—इनकी सेवा करना उत्कृष्ट तप है, तथा उनकी आज्ञा तथा इच्छा के विपरीत आचरण न करे।

गीता में सात्त्विक, राजस, तामस तपों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

श्रद्धया परयातप्तं तपस्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
मूढ़ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

गीता, १७-१७, १८, १९ श्लो०

अर्थात्—श्रद्धापूर्वक आस्तिक बुद्धि द्वारा उच्च भावना को लेकर, फल की कामना न रखते हुए जो तप किया जाता है, जो समाहित चित्त से छल, कपट, दम्भ से रहित होकर चित्तशुद्धि के उद्देश्य से किया जाता है, वह सात्त्विक तप कहा जाता है। चित्तशुद्धि के बिना आत्मसाक्षात्कार होता ही नहीं, अतः आत्मसाक्षात्कार की दृष्टि से किया गया चित्त-शोधक तप सात्त्विक होता है। काष्ठमौन चित्तशुद्धि के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है, इसमें प्रवृत्ति की सब चेष्टायें परिसमाप्त हो जाती हैं। जो तप सत्कार कराने की इच्छा से—अर्थात् उत्कृष्ट महातपस्वी कहलाने के लिए, महात्मा, ज्ञानी, मानी मनवाने के लिए, यश से धन ऐश्वर्यादि की प्राप्ति की इच्छा से, अपने को पुजाने के लिए, गुरुडम फैलाने के लिए, दम्भपूर्वक—अन्दर कुछ और बाहर कुछ—उद्देश्य को लेकर किया जाता है वह राजसिक तप कहा जाता है। इसका फल अचल—स्थायी नहीं होता; चल होने से तुरत मान-ऐश्वर्य आदि फल देकर नष्ट हो जाता है।

जो तप अपने या पराए शरीर को कष्ट देकर, युक्त आहार-व्यवहार न करके शरीर-शोषक तप—जैसे एक हाथ खड़ा रख कर सुखा देना, पैर सुखा देना, नाखून बढ़ा लेना, अन्न छोड़कर केवल जल पर रहना आदि—अज्ञानपूर्वक किये जाने वाले सब तामस-तप कहे जाते हैं। दूसरे के विनाश या हानि पहुंचाने के

लिए किया गया तप, जो मांस, मदिरा, विष्ठा, श्मशानादि सेवनपूर्वक किया जाता है, घोर तामस तप है।

ऐसे निकृष्ट तप के अनेक उदाहरण हैं। जैसे—विश्वामित्र ने स्वर्ग को विजित करने के लिए घोर तप किया; किन्तु इन्द्रलोक की अप्सरा **'मेनका'** के चकमे में आकर तप भंग कर बैठे। हरद्वार-सप्तसरोवर में रामदास नाम के एक सन्त ने एक पैर पर खड़े रह कर १२ वर्ष तप किया। एक रामप्यारी देवी इनकी सेवा करने आया करती थी। डेढ़ वर्ष तक सेवा करके वह इन्हें ले उड़ी और पेशावर जाकर इनसे विवाह कर लिया।

तामसिक तप अज्ञान-मूलक होता है। अतः, शारीरिक-क्लेश के अतिरिक्त इससे कुछ अधिक लाभ नहीं होता। जो परिणाम निकलता है, वह विश्वामित्र तथा रामदास के समान होता है। जिस तप से मल-विक्षेप-आवरण नष्ट होकर चित्तशुद्धि होती है, इन्द्रियजय तथा देहशुद्धि होती है वही उत्तम सात्त्विक तप है, इसे ही करना उचित है। जिस तप से मन, वाणी, बुद्धि, देहादि में स्फूर्ति—हर्ष हो, वही करना चाहिए। जैसे वाचस्पति मिश्र ने सावधान किया है—

तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयं न यावता धातु वैषम्यमापद्यत इत्यर्थः।

योग० २-१

अर्थात्—तप उतना ही करना चाहिए जिससे शरीर के वात, पित्त, कफ कुपित होकर शरीर को रोगी न बना दें। शरीर में रोग की उत्पत्ति हो जाना, यह योग-सिद्धि में पहला विघ्न कहा गया है। अतः गीता का आदेश है—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्यकर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ अ० ६-१७

अर्थात्—योगी का खान-पान, सब आहार सात्त्विक, स्वल्प, युक्त तथा नियमित हों; अन्यथा अधिक खा लेने से अजीर्ण, आलस्य, निद्रा, अकर्मण्यता, प्रमाद आदि दोष उत्पन्न होकर योग-प्रवृत्ति नहीं होगी। विहार—चलना-फिरना, परिश्रम भी नियमित रहे। अधिक परिश्रम युक्त कर्मों से शरीर में थकावट, और आलस्य आदि होकर योगसिद्धि नहीं होगी। शरीर, वाणी, बुद्धि की सब चेष्टाएँ भी नियमित हों, शयन-जागरण भी नियमित समय पर हो। यदि रात को १० बजे सोने और प्रातः ४ बजे जागने का नियम बना लिया है तो बिना किसी रोगादि के यही नियम चलता रहे। इस प्रकार के **'कर्मसु कौशलम्'** के द्वारा योगसिद्धि होती है। योग-दर्शन में इन तीनों प्रकार के तपश्चरण से प्राप्त फल का इन शब्दों में वर्णन करते हैं—

कायेन्द्रिय सिद्धिर्शुद्धि क्षयात्तपसः । योग० २-४३

अर्थात्—इन तीनों प्रकार के तप के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धि के नष्ट हो जाने पर देह और इन्द्रियाँ इतने शुद्ध और हलके हो जाते हैं कि अणिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं । तथा भाष्यकार व्यास कहते हैं—

नातपस्विनो योगः सिध्यति । अनादि कर्मक्लेश वासना चित्रा प्रत्युपस्थित विषय जाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति ।

(२-१)

अर्थात्—जो तपस्वी नहीं है उसे योग-सिद्धि नहीं हो सकती । क्योंकि अनादि काल से क्लिष्ट कर्म-वासनाओं के जाल में बंधा तथा पाँच क्लेशों से चित्रित हुआ चित्त बिना तप के शुद्ध नहीं हो सकता । इस वासना-जाल का संभेदन करने में तप ही समर्थ है ।

नियम का चौथा अङ्ग—स्वाध्याय

स्वाध्याय—यह नियम का चौथा अंग है । योग भाष्यकार व्यास इसका लक्षण करते हैं—

प्रणवादि पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । २–१

अर्थात्—ॐकार, गायत्री आदि पवित्र करनेवाले मन्त्रों का जप करना तथा वेद-उपनिषद् आदि मोक्षदायक शास्त्रों का, जिनमें आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का वर्णन किया गया है, नित्य-नियम से पठन-पाठन करना, स्वाध्याय करना, स्वाध्याय कहा जाता है ।

बौद्धिक-स्वाध्याय—का स्वरूप यह है कि—कपाल के अन्दर वहां ब्रह्मरन्ध्र-नामक स्थान में विज्ञानमय-कोश में स्थित बुद्धितत्त्व में प्रणव का ध्यान करना; जैसे, ध्यान के द्वारा वहाँ पर ॐ की आकृति बना-बनाकर देखते रहने का प्रयत्न करना, अथवा गायत्री-मन्त्र के अक्षरों की आकृति ध्यान के द्वारा वहाँ बना-बनाकर जप तथा ध्यान करना; अथवा वेद-मन्त्रों को, दर्शनग्रन्थों के सूत्र वा उपनिषद्-वाक्यों को अन्दर—सामने देखते हुए के समान मनन—निदिध्यासन करना—इनका साक्षात्कार करना, ये सब बौद्धिक-स्वाध्याय के प्रकार हैं ।

मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार के जितने भी अर्थ हैं इन सबका चिन्तन

तथा विवेचन बुद्धि के द्वारा ही होता है तथा अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थों को प्रस्तुत करके उनके विषय में तर्क-वितर्क—ऊहा-पोह करके साक्षात्कार करना; पदार्थ के प्रति बुद्धि का पुनः-पुनः प्रवृत्त होना, यह सब बुद्धि का स्वाध्याय ही कहा जाता है और यह अवाचिक जप है, जो बुद्धि के द्वारा होता है—किया जाता है। लोकव्यवहार में प्रसिद्ध 'मानसिक-जप' वस्तुतः बौद्धिक-जप ही है। दूसरा प्रकार इस जप का यह है कि—मन्त्र के अक्षरों को ध्यान-दृष्टि की लेखनी से ललाट के अन्दर-सामने की ओर बारम्बार लिखकर, बिना वाणी तथा शारीरिक चेष्टा किये ही दोहराते रहना तथा स्वरूप-दर्शन अथवा आत्म-साक्षात्कार के समय जब पुनः-पुनः 'अहमस्मि' का बोध होता है, अथवा चित्त में अहंकार-विशिष्ट आत्मा का बोध होता है; तो इसे चित्त का स्वाध्याय कहेंगे। किन्तु ये चित्त और बुद्धि दोनों ज्ञान-प्रधान हैं। अतः, यह चित्त का स्वाध्याय भी बौद्धिक-स्वाध्यायगत समझ लेना चाहिए।

वाचिक-स्वाध्याय—मोक्ष-सम्बन्धित वेद-शास्त्र-स्मृति-उपनिषद्, आत्मा-परमात्मा विषयक ज्ञान-विज्ञान प्रदान करनेवाले आर्ष-ग्रन्थों का पढ़ना-पढ़ाना, (आचार्य से वा स्वयं); उद्गीथ—ओँकार का, तथा वेद मन्त्रों का उच्च स्वर से पाठ करना-कराना; भगवान् की स्तुति-स्तोत्र-पाठ से, प्रार्थना गीतों और भजन आदि से गाकर, अथवा उपदेश द्वारा करना-कराना; गीता, रामायण, महाभारत, पुराण, उपनिषद्, वेद, षट्-दर्शन, स्मृति आदि की कथा करना-कराना; गुरु द्वारा ग्रन्थों का अध्ययन करना, तथा किसी भाषा के धार्मिक ग्रन्थ का आध्यात्मिक दृष्टि से पढ़ना वाचिक-स्वाध्याय है।

शारीरिक-स्वाध्याय—प्रत्येक प्रकार के अध्ययन में शरीर साथ देता है। वाणी तथा बुद्धि द्वारा किये जानेवाले स्वाध्याय इसी की सहायता से सफल होते हैं। इस दृष्टि से उनका स्वाध्याय भी इसीका समझा जा सकता है। परन्तु एक मूक—गूँगे बालक का हाथ की अंगुलियों से लिखकर पढ़ना, इशारों से पढ़ना-पढ़ाना; शारीरिक क्रियाओं को त्यागकर १०-१२ घण्टे स्वाध्याय—अध्ययन में रत रहना, बिना बोले जीभ तथा ओष्ठों को हिलाकर पाठ करना या लिखना आदि शारीरिक स्वाध्याय है।

इस प्रकार स्वाध्याय से उत्पन्न होने वाली सिद्धियों का वर्णन इस प्रकार किया है—

स्वाध्यायात्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते॥

योग, १–२८ का व्यासभाष्य

अर्थात्—स्वाध्याय के पश्चात् समाहित हो, और समाधि द्वारा स्वाध्याय के विषय का साक्षात्कार करे; इस प्रकार स्वाध्याय तथा योग के संयोग से परमात्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है—स्वरूप का प्रकाश होता है। ईश्वर का वाचक प्रणव है, प्रणव के जप तथा ध्यान से अथवा समाधि से ईश-साक्षात्कार हो जाता है। अन्यत्

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः । योग २–४४

अर्थात्—स्वाध्यायशील योगी के साथ अपने इष्ट-देवता का सम्बन्ध हो जाता है। भाष्यकार का कथन है कि—देव, ऋषि, सिद्ध-पुरुष इस स्वाध्यायशील को दर्शन देते हैं; और इसका कार्य भी सिद्ध कर देते हैं। यह कथन निश्चय ही सत्य है—यथार्थ है। इसके कई दृष्टान्त देखने—सुनने में आए हैं।

मौन रहकर सवा-करोड़ गायत्री के पुरश्चरण का व्रत लेकर मैं अमृतसर में बैठा। लगभग ४ वर्ष इस पुरश्चरण में लगे। मास में संक्रान्ति के दिन ही बोलने तथा अन्य सामग्री लाने आदि व्यवहार करने का नियम स्थिर किया था। इसके समाप्त हो जाने पर कुछ विभूतियों की अनुभूति इस रूप में प्रकट हुई थीं: १—कैलाशवती नाम की एक बालिका को कह दिया था, 'तुझे काना पति मिलेगा' दैवात्, जिस अमीर घराने के युवक से इसका विवाह हुआ उसका एक नेत्र विकृत था। २—लीलावती नाम की बालिका को कहा था, 'तुम्हें साधु-स्वभाव तथा तुम्हारी आज्ञा में चलनेवाला पति मिलेगा, उससे इतने बच्चे होंगें', वैसा ही हुआ। ३—राज-कुमार नाम का एक बागड़ी बालक ७-८ वर्ष की आयु का था। इसे कहा था कि—'तू अशर्फियों में खेला करेगा'। इस समय यह युवक ८-१० हज़ार रुपये मासिक उपार्जित करता है। उस समय इसके पिता साधारण स्थिति के थे। ४—संकल्प वा मनोबल की सिद्धि—कर्मचन्द्र नाम के डाक्टर के लड़कियाँ ही होती थीं। वे इससे दुखी थे। प्रार्थना करने पर मैंने कहा, 'अब जब आपकी पत्नी गर्भवती हो मुझे सूचित करना।' सूचना मिलने पर, परीक्षा के लिए गर्भगत रज-वीर्य के कलल पर मानसिक प्रयोग इस रूप में करता रहा कि यह बालक ही हो; फल अनुकूल हुआ, और बालक ही उत्पन्न हुआ।

नियम का पाँचवाँ अङ्ग—ईश्वर-प्रणिधान

ईश्वर-प्रणिधान—नियम का यह अन्तिम पाँचवाँ अंग है। भाष्यकार ने ईश्वर-प्रणिधान को इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है—

ईश्वर प्रणिधानं सर्वक्रियाणां
परमगुरावर्पणंतत्फल संन्यासोवा।। योग २-१ भाष्य।

अर्थात्—जितने भी कर्म बुद्धि, वाणी और शरीर से किये जाते हैं, और छोटी-से-छोटी क्रियामात्र को परम-गुरु भगवान् अथवा ईश्वर के अर्पण करते जाना तथा उन कर्मों के फलों को भी भगवान् के अर्पण कर देना। परमगुरु का लक्षण योग करता है—

सः, पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात्। १-२६

पहले जितने आचार्य हुए वे सब काल का ग्रास बन चुके, शरीर-त्याग चुके; काल से जिसका नाश नहीं होता ऐसा नित्य-अविनाशी ईश उन गुरुजनों का भी गुरु होने से परगगुरु है। उस परमगुरु ईश्वर को ही शुभाशुभ सब प्रकार के कर्मों को उनके फल सहित सर्मापित कर देना, अर्थात् शास्त्रोक्त निष्काम भाव से कर्म करते रहना, यह भाव ईश्वर-प्रणिधान से व्यक्त होता है। ईश्वर-प्रणिधान का तात्पर्य यह भी है—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा　　　　योग १-२३

प्रणिधानाद्-भक्तिविशेषात् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यान-मात्रेण तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः तंत् फलंच भवति इति।

अर्थात्–ईश्वर.प्रणिधान-भक्तिविशेष से, बुद्धि, वचन, कर्म से पूर्ण तन्मयता के साथ करते हुए प्रत्येक कर्म को फलों सहित सर्मपित करते रहने और निर्मल बने चित्त में प्रशान्त-वाहिता होने से समाधि होने लगती है। समाधि का अन्तिम फल 'आत्मदर्शन' है। वह योगी को ईश्वर के प्रसाद से शीघ्र मिल जाता है। योगदर्शन-कार तथा भाष्यकार ने ईश्वर-प्रणिधान को क्रिया-योग वा कर्मयोग में ही गिना है, इसलिए सर्वकर्मों का समर्पण करना बताया है, ईश्वर का ज्ञान वा साक्षात्कार अर्थ नहीं किया है। यदि यहाँ ही 'साक्षात्कार' अर्थ कर देते तो आगे साक्षात्कार करने के लिए अन्य सूत्र की आवश्यकता न पड़ती। ईश्वर-प्रणिधान की नियमों में गणना करने से तात्पर्य फल सहित कर्ममात्र को ईश्वरार्पण करना है; यही भक्ति-विशेष है। वस्तुतः ईश्वर-साक्षात्कार विषय समाधि का ही है। योग के बहिरंगभूत

यम-नियम कर्मयोग में समाविष्ट समझने चाहिएं। सूत्रकार ने क्रियायोग तथा नियमों में ईश्वर-प्रणिधान को रखकर ध्वनित किया है कि यह क्रियायोग का विषय है। क्योंकि इसमें कर्ममात्र का समर्पण करना होता है; जो ज्ञानयोग का अंग होते हुए भी ज्ञानयोग नहीं है। **'संभजनंभक्ति विशेषः'** अर्थात्, भली प्रकार सेवन-पूजन-कीर्तन-स्तुति-प्रार्थना-उपासना करना।

बौद्धिक-ईश्वर-प्रणिधान—सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर कोई भी कर्म निष्काम नहीं प्रतीत होता; **'प्रयोजनं विनामन्दोऽपि न प्रवर्तते'** के अनुसार मूढ़ व्यक्ति की प्रवृत्ति भी नहीं होती, जब तक कोई कामना—इच्छा न हो। प्रत्येक कर्म संकल्पपूर्वक किया जाता है, और संकल्प-मात्र किसी कामना को लिये होता है। कहा जाता है, योगी कर्म करता है, अपने लिए नहीं, ईश्वर के लिए; परन्तु यहाँ भी एक छिपी हुई कामना कार्य करती है और वह है 'आत्मज्ञान-प्राप्ति अथवा मोक्ष रूप भगवान् की प्राप्ति की कामना।' इसी कामना को छिपाये हुए वह योगी ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए अथवा अपने कर्त्तापन के अभिमान को त्यागने के लिए कर्म करके भगवान् को समर्पित करता है। यहाँ भी ईश्वर-प्रणिधान रूप में जो प्रवृत्ति है वह निष्प्रयोजन नहीं, गहरे छिपे स्वार्थ को लेकर है। अतः, ईश्वर-प्रणिधान हो अथवा निष्काम कहे जानेवाले अन्य कर्म, विवेचन की कसौटी पर 'निष्काम' नहीं उतरते। स्वार्थ की न्यूनता के कारण ही उन्हें अपेक्षाकृत निष्काम की उपाधि दे दी गई है या दे दी जाती है। जैसे एक गृहस्थ अपने परिवार के ५,७ सदस्यों के कल्याण के लिए कर्म—पुरुषार्थ करता है, संन्यासी एक राष्ट्र वा जगत् के असंख्य प्राणियों के कल्याण की कामना लेकर कर्म कर रहा है—केवल उदात्त भावना के कारण संन्यासी के कर्म को 'निष्काम' कह दिया जाता है। देखा जाय तो संन्यासी को ऐसे कर्म से प्रसन्नता प्राप्त होती है—वही उसके उदात्त—निष्काम कर्म का फल होता है।

कर्म करना है, कर्म किये बिना कोई प्राणी नहीं रह सकता। ईश्वर-प्रणिधान में भावना यह होती है कि यह सब कुछ भगवान् का आदेश पालन के लिए कर रहा हूं। इसमें कर्त्तापन के अभिमान-त्याग का भाव भी प्रबल रहता है। इस प्रकार उपासक अपने देहादि से किये सब कर्म तथा फलाफल को भेंट रूप में प्रदान करता जाता है। फलतः, दर्प के कलुष से भक्त का अन्तःकरण सर्वथा रहित हो जाता है। तब निर्मल बने उस अन्तःकरण (चित्त) में समाधि की अन्तिम स्थिति के प्रादुर्भाव से आत्मदर्शन पूर्वक ईश्वर-दर्शन की योग्यता आ जाती है। यह सब कुछ करना इतना सरल नहीं है। जब तक बुद्धि में ऐसी श्रद्धा—आस्तिकता उत्पन्न

न हो——ईश्वर-प्रणिधान में उपासक एक पग भी नहीं रख सकता। अतः, बुद्धि से मलिन विचारों को निकालकर श्रेष्ठ भाव-भरे। जैसे——

अहिंसकः समसत्योधृति जियतेन्द्रियः,
शरण्यसर्वभूतानां गतिमाप्नोति उत्तमाम्।

महा० शान्ति० अ० २४५, श्लो० २०।

अर्थात्—हिंसा न करनेवाला, समदर्शी, सत्यवादी, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय और सब प्राणियों को दयापूर्वक शरण देनेवाला व्यक्ति सद्गति को प्राप्त होता है। एवम्

अन्तरात्मनि संलीय मनःषष्ठानि मेधया,
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च बहुचिन्त्यमचिन्तयन्।
ध्यानेनोपरमं कृत्वा विद्यासम्पादितं मनः,
अनीश्वरः प्रशान्तात्मा..............इत्यादि।

महा० शा० अ० २४६, ६-७।

अर्थात्——बुद्धि के द्वारा मन, इन्द्रिय तथा विषयों को अन्तरात्मा में लीन करके अनेक विचारणीय विषयों का चिन्तन करता हुआ ज्ञानद्वारा शुद्ध किये हुए चित्त को ध्यान के द्वारा सब ओर से उपराम करके, कर्त्तापनके अभिमान से रहित होकर, सर्वथा अविचल, प्रशान्त होकर अमृतत्त्वरूप ईश्वर को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बुद्धि के द्वारा होने वाला तर्क-वितर्क, ऊहापोह, निश्चय, विश्वास आदिकर्म भगवान् की प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर करना; बुद्धि के द्वारा मन, इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार रखकर इन्हें बेलगाम घोड़े के समान विषयों की ओर दौड़ने न देना; मनके व्यापार द्वारा बुद्धि में चपलता-विकल्प न होने देकर इसे चित्त में विलीन करना, इस प्रकार चित्त में बुद्धि के विलीन करने पर इन्द्रिय तथा मन के व्यापार शान्त कर देना; ये सब बौद्धिक-ईश्वर-प्रणिधान है। इससे इन्द्रिय—मन के व्यापार, चित्त के परिणाम शान्त होते जाने से चित्त-शुद्धि होने पर आत्म-दर्शन तथा ईश्वर-दर्शन की योग्यता हो जाती है। एवम्

चित्तप्रसादेन यतिर्जहाति शुभाशुभम्,
प्रसन्नात्माऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते।

महा. शा. अ., २४६, ३०

चित्त-शुद्धि से प्राप्त प्रसाद के द्वारा योगी शुभाशुभ कर्मों को भगवान् में समर्पित कर देता है, और प्रसन्न चित्त बना आत्मनिष्ठ होकर अक्षय सुख भोगता है। प्रसन्नचित्त आत्मनिष्ठ योगी को आत्मसाक्षात्कार के काल में या अवसर आने पर ज्ञान से पूर्ण जो आनन्द प्राप्त होता है उसे वाणी-द्वारा वर्णन नहीं किया जा

सकता। उस आनन्द प्राप्त योगी की अवस्था ऐसी हो जाती है—

यद्यप्यस्य महींदद्यात् रत्नपूर्णामिमान्नरः,
इदमेव ततः श्रेय इति मन्येत्तत्त्ववित्।

महा. शा. २४६-२०

इस आत्मवित् को कोई चक्रवर्ती राजा रत्नों-भरी पृथ्वी भी देने लगे तो वह योगी उस रत्नपूर्ण पृथ्वी को त्याग कर इस परमानन्द को ही श्रेष्ठता देता है। बुद्धि में ऐसी सात्विकी भावनाओं को संचित करे—

ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम्,
भक्तानारायणं देवं दुर्गाण्यति तरन्ति ते। शा., अ.,३३०-२४

अर्थात्—प्राणिमात्र तथा पञ्चमहाभूतों के ईश्वर (स्वामी) को जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय के कारण भूत भगवान्-नारायण को श्रद्धापूर्वक भक्ति भाव से जो भजते हैं वे दुस्तर दुःखों को भी तर जाते हैं। तथाच

य एनं संश्रयन्तिहि भक्ता नारायणंहरिम्,
तेतरन्तीह दुर्गाणि नचास्त्यत्र विचारणा।

शा. अ., ३३०-२८।

अर्थात्—जो भक्त भगवान् नारायण हरि की शरण लेते हैं वे कष्टसागर को तर जाते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अन्यत्—

अस्मिन्नर्पित कर्माणः सर्वभावेन भारत।
ब्रह्माणंलोक कर्त्तारं ये नमस्यन्तिसत्पतिम्,
यष्टव्यं क्रतुभिर्देवं दुर्गाण्यति तरन्ति ते।
यं विष्णुरिन्द्रः शम्भुवश्च ब्रह्मालोकपितामहः,
स्तुवन्ति विविधैर्स्तोत्रैर्देव देवं महेश्वरम्।
तमर्चयन्ति ये शाश्वद् दुर्गाण्यति तरन्ति ते।

महा० शा० अ०, ११०—२६

हे भारत, इस भगवान् में ही सब कर्मों को समर्पित कर दें; जो सब लोक-लोकान्तरों का रचने वाला, अथवा कर्त्ता है; जो उस सत्पति को नमस्कार तथा उसका पूजन-ध्यान करते हैं, तथा यज्ञों के द्वारा अर्चन करने योग्य भगवान् विधाता लोकपिता देवादिदेवकी पूजा-अर्चा करते हैं, वे सब कष्टों को तर जाते हैं—पाप कर्मों से मुक्त होजाते हैं। ऋषि-मुनि-योगी-देव-पितर-इन्द्र-विष्णु-शिव-ब्रह्मा नाना प्रकार के स्तोत्रों से स्तुति करते आए हैं, उस देवों के देव महेश्वर-परमेश्वर का जो नित्य-प्रति अहर्निश, निरन्तर भजन-ध्यान करते हैं वे सर्वक्लेशों को तर कर मुक्त हो जाते

हैं। वस्तुतः बुद्धि वा चित्त के द्वारा किये जानेवाले ईश्वर-प्रणिधान का महत्त्व ही विशेषता रखता है। गीता का आदेश भी ऐसा ही है—

ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परांशांति स्थानंप्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ १८-६१-६२

हे अर्जुन ! वह ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय में व्यापक होकर ठहरा हुआ है। कठपुतलियों को नचानेवाले नट के समान ही वह अपनी माया से भूतमात्र को कर्म में प्रवृत्त किये हुए है। अतएव, तू भी उसी भगवान् की शरण में सब दुःखों की निवृत्ति के लिए बुद्धि-वाणी-शरीर के द्वारा जा—उसी की शरण ग्रहणकर। उसी ईश की दया अथवा अनुग्रह से तू परमशान्ति तथा परमपद मोक्ष को प्राप्त करेगा।

इस हृदय में ही चित्त है, इस चित्त-दर्पण में ही हृदयस्थित ईश्वर—भगवान् का दर्शन अथवा साक्षात्कार होता है। वेद भी ऐसा ही कह रहा है—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

अर्थात्—उस सर्वशक्तिमान् ईश-परब्रह्म को ही प्राप्त करके मनुष्य मृत्यु को विजित कर सकता है; मृत्यु का उल्लंघन कर सकता है। इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग मोक्षप्राप्ति का नहीं है। संसार में अन्य सब पदार्थ सुलभ हैं, एक भगवान् का मिलन ही दुर्लभ है। यह मानव-जीवन ही ऐसा है जिसमें चेतनतत्त्वों का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसी दुष्करकृत्य के लिए यह जीवन मिला करता है, इसे प्राप्त करके भी यदि ईश्वरतत्त्व को नहीं जाना अथवा मोक्ष प्राप्त नहीं किया तो यह जीवन निष्फल ही गया समझा जाता है। यथा—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षण भङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभमन्ये वैकुण्ठप्रिय दर्शनम्॥

भा. स्कं. ११, अ.२ श्लोक २९

अर्थात्—संसार में यह मानव शरीर दुर्लभ है। अनेक पुण्य कर्मों से अनेक जन्मों के पीछे अति कठिनता से प्राप्त होता है। उस पर भी यह क्षण भंगुर—अस्थिर है, अनित्य और नाशवान् है। इसे पाकर मोक्ष द्वारा प्राप्तव्य भगवान् को पा लेना अत्यधिक दुर्लभ है। अतः, ईश्वर-प्रणिधान का आश्रय लिये बिना इस मनुष्य का वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता। भागवत में श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज ने तीन प्रकार के योग का वर्णन किया है : ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, । यहाँ भक्तियोग से तात्पर्य 'ईश्वर-प्रणिधान' है। यथा—

योयस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया,
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित् ।

भाग० स्कं० ११-२०-६

वाचिक-ईश्वर-प्रणिधान—वाणी के द्वारा भगवान् के गुणों का वर्णन करना, स्तुति-प्रार्थना, सामगान, ॐकार, गायत्री, अन्यान्य मन्त्रों का जप, स्तोत्र-पाठ आदि वाचिक-प्रणिधान है। ॐकार का उच्च स्वर से गान करना तथा गायत्री मन्त्र—

ॐ भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि; धियो यो नः प्रचोदयात् ।

यजुः, अ० ३६, मं० ३

का गान पूर्वक जप तथा अर्थ-चिन्तन करना।

अर्थात्—ॐ शब्द से प्रणव का ही ग्रहण होता है। वेद-उपनिषद् आदि ग्रन्थों में यह ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ प्रसिद्ध नाम है—

तस्य वाचकः प्रणवः । योग, १-२७

अर्थात्—उस ईश्वर का बोधक प्रणव (ॐ) है। ॐ का अर्थ 'ब्रह्म' भी करते हैं—'सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति'। चारों वेद जिस ॐ की महिमा का वर्णन करते हैं वह महिमा ॐ में संग्रह हुई है। 'अव् रक्षणे' धातु से ॐ बनता है। अतः इसका अर्थ सर्वरक्षक भगवान् भी होता है। 'भूर्भुवः स्वः' इन व्याहृतियों के भी अनेक अर्थ मिलते हैं। उनमें से ऋग्-यजुः-साम का ग्रहण किया है—तात्पर्य है यह कि उसी भगवान् से यह तीन प्रकार का ज्ञान उत्पन्न हुआ है; जो कर्म-ज्ञान-उपासना के द्योतक हैं। इस प्रकार भूः—प्राणस्वरूप भगवान् अर्थात् सब के प्राण, जीवन का आधार। भुवः—सर्व दुःखनाशक भगवान्; स्वः—सुख स्वरूप अर्थात् सबको सुख देनेवाला भगवान्। तत् वह, सवितुः—सब जगत् को उत्पन्न करने वाले, सुख ऐश्वर्यों को प्रदान करनेवाले ईश्वर के, वरेण्यम्—वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य, भर्गः—सर्व दुःख पाप-नाशक तेजस्वरूप का, देवस्य—प्रकाशस्वरूप कामना करने के योग्य दिव्य तेज देने वाले भगवान् का, धीमहि—हम स्मरण—ध्यान करते हैं। धि यः यः नः प्रचोदयात्—हमारी प्रज्ञा को शुभ ओर प्रेरित करे—समाधि में लगाएं वे भगवान्! इस मन्त्र में ईश्वर के दिव्य गुणों के वर्णन के साथ दिव्य-चिन्तन का आदेश है। फिर उस दिव्यता को अपने अन्दर धारण करके साक्षात्कार करने की प्रेरणा है—प्रार्थना भी है।

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ सहित वाचिक-जप-उपासना करें जोकि उत्तम वाचिक-ईश्वर-प्रणिधान है। इसके साथ—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।

भागवत, अ० ७, स्कं० ७, २३

अर्थात्––भगवान् के गुणों का सुनना, अपने मुख से कीर्तन करना, भजन गाना आदि, कीर्तन के द्वारा भगवान् का स्मरण करना, भगवान् के पाद––'**सहस्र-पाद**', जिनका यह यजुः वचन निर्देश कर रहा है, उन पादों को अहंकार रहित पूजना, नमस्कार करना । जैसे––

नमोस्तु ते विद्युते नमस्ते स्तनयित् नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ।।

यजुः, अ० ३६, मं० २१

अर्थात्––विद्युत के समान प्रकाशमान् हे ईश्वर ! सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, विद्युत के समान गरजने वाले दुष्टों को भय देने वाले भगवान् मैं आपको नमस्कार करता हूँ, और पुनरपि नमस्कार करता हूँ, क्योंकि आप हमारे लिए सब ओर से सुख प्रदान करने की चेष्टा करते हैं । वेद में भगवान् को सखा भी कहा है—

मित्रं हुवे पूतदक्षम् । इत्यादि

हे मित्र ! आप पवित्रता देने वाले हैं, अतः मैं आपका वरण करता हूँ । इस प्रकार सख्यभाव से भगवान् की भक्ति करें, तथा अपने को दास मान कर भगवत-गुण-गान करें । योग शिखोपनिषद् में कहा है—

भक्ति गम्यं परंतत्त्वमन्तर्लीनेन चेतसा ।

वह परमतत्त्व भगवान् भक्ति द्वारा प्राप्त है, अपनी चेतना के द्वारा सब में बसा हुआ है । वह—

निष्कलं निर्गुणं शान्तं निर्विकारं निराश्रयम् ।
निर्लेपं निष्पापं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।

योगशिख० अ०, ४-२१

भगवान् कलारहित, निर्गुण, शान्त, विकार रहित, बिना किसी आश्रय के ठहरा हुआ है, सर्वपाप रहित, निर्लेप, हिमाचल वत् अचल सदा स्थिर है ।

इस प्रकार वाणी से स्तुति, तत्त्वज्ञान का उपदेश, अनन्तगुणों का गान आदि करना वाचिक-ईश्वर-प्रणिधान है ।

शारीरिक-ईश्वर प्राणिधान—तत्त्वतः चाहे ईश्वर-भक्ति हो अथवा विषय-भुक्ति, इन सब कर्मों का सम्पादन करनेवाला यह स्थूल शरीर ही है । यदि यह

शरीर रोगादि के कारण क्षीण वा दुर्बल होकर कार्य करने में असमर्थ हो जाय तो न बौद्धिक-प्रणिधान हो सकता है न वाचिक। न तो वाणी भगवत-गुण-गान कर सकेगी—(जप, स्तोत्रपाठ, यज्ञानुष्ठान आदि) और न बुद्धि ही भगवान् के चिंतन-मनन-निदिध्यासन करने में समर्थ हो सकेगी (जैसे शिर पीड़ा हो तो कुछ विचार नहीं हो सकता।) अतः, अन्यान्य कर्म-साधना आदि में सहायक होने के समान शारीरिक-प्रणिधान में शरीर को ही मुख्यता प्राप्त है। इस प्रकार बौद्धिक-वाचिक-शारीरिक—सभी—जितने भी पुण्य कर्म किये जायँ वे सब उस भगवान् को समर्पित करते जाना। **'तस्मिन् परम गुरौ सर्वकर्मार्पणम्'** योग भाष्यकार के इस कथनानुसार आचरण करना पूर्ण ईश्वर-प्रणिधान है। इस प्रकार भगवत-भक्ति में जो भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहन करना; अथवा आत्मविज्ञान तथा भगवत-प्राप्ति और मोक्ष के लिए किये जाने वाले समस्त व्यापार में आनेवाली बाधाओं का सहन करना रूप तप है, ऐसे ही व्यापार मात्र को ईश्वरार्पण करने से ईश्वर-दर्शन करानेवाली समाधि की प्राप्ति भी शीघ्र हो जाती है। यही यह योगसूत्र कह रहा है—

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् । २-४५

यही मानव-मात्र का अन्तिम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिए पूर्व कथित यम-नियमों को जीवन में पूर्णरूप से चरितार्थ करने का प्रयत्न करना चाहिए, और इसी जन्म में आत्म-साक्षात्कार पूर्वक भगवत-प्राप्ति रूप जीवन्मुक्ति तथा विदेह मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए।

ॐ

बहिरङ्ग-योग

तीसरा अङ्ग—आसन

पूर्व कथित यम-नियम अङ्गों का अनुष्ठान चलते-फिरते, उठते-बैठते प्रत्येक समय ही किया जा सकता है; परन्तु आसन-प्राणायाम तथा धारणा-ध्यान-समाधियों में प्रयुक्त होने वाले आसन की स्थिरता पर ही इनकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है। ऐसे आसनों की सिद्धि तभी समझी जाती है जब कोई साधक, सिद्धासन आदि पर स्थिरता से सुखपूर्वक एक-पहर (३ घण्टे) तक बैठा रह सके। पूजा-पाठ, यज्ञ-उपासना तथा भोजन आदि के समयों में काम आनेवाले दो-चार प्रसिद्ध आसनों के अतिरिक्त समाधि आदि के लिए मुख्यरूप से प्रयोग में आसकने वाले आसन १६ हैं। इनमें से किसी एक या दो आसनों को अपनी रुचि तथा सुविधा के अनुसार चुन कर साधनाभ्यास के लिए सिद्ध कर लेना चाहिए। शेष आसनों में से भी यथारुचि चुनकर सिद्ध कर सकते हैं।

आध्यात्मिक तथा मानसिक उन्नति के साथ शारीरिक स्वास्थ्य-सुधारके लिए भी मुख्यरूप से भारतीय योगियों द्वारा आविष्कृत योग-आसन पूर्णतया उपयोगी रहते और अनुकूल पड़ते हैं। अतः साधु-संन्यासी-योगियों के अतिरिक्त प्रत्येक नर-नारी इनसे लाभ उठा कर स्वस्थ-सुडौल-सुन्दर शरीर वाले तथा दीर्घायु बन सकते हैं। सुना जाता है, चौरासी लाख योनियों में विभक्त जीवों के शरीरों को देख कर अनेक आसनों का निर्माण हुआ था; परन्तु हम विधियों सहित २५० आसन यहाँ पर दे रहे हैं। आशा है। ये सबके लिए उपयोगी ही सिद्ध होंगे। साथ में दिये गए चित्रों से आसनों की विधि का ज्ञान भी भले प्रकार हो जायगा।

शौचादि से निवृत्त होकर जब उदर मल-रहित हो जाय तभी आसनों को करना चहिए। सवस्त्र होकर आसन करने में सुविधा नहीं होती; परन्तु कौपीन, लंगोट अथवा जाँघिया अवश्यमेव धारण करें। शीतकाल में ढीला वस्त्र पहिन

सकते हैं। आसन करने का स्थान धूलि, धूम्र, दुर्गन्ध रहित और साधारण वायु के गमनागमन-युक्त हो, नीचे गदेला या कम्बल आदि बिछा लें, जिससे लेटनेवाले आसन सुविधापूर्वक किये जा सकें; फर्श समतल तथा सूखा हो।

प्राणायाम सहित आसनों का अभ्यास करने से अत्यधिक लाभ होता है। सन्धियाँ लचकीली, अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुडौल, उदर और कटि कृश तथा दोष रहित, स्नायु-स्थिति-स्थापक, पाचनशक्ति तीव्र, जिगर-तिल्ली तथा आँतें क्रियाशील होकर समस्त शरीर साँचे में ढला-सा और बलिष्ठ बन जाता है। प्राण-शरीर-इन्द्रियों पर अधिकार होकर समाधि में घण्टों बैठे रहने पर भी शरीर थकता नहीं। यथावत् रक्त तथा प्राण-संचार से रक्तदोष, वात-दोष आदि अन्य रोग भी नहीं होते; यदि हो भी जायँ तो शीघ्र ही दूर भी हो जाते हैं। शरीर के सदा स्वस्थ बने रहने से मनुष्य दीर्घायु हो जाता है, बुढ़ापा देर में आता और अधिक कष्टदायक नहीं होता। इन शारीरिक लाभों के साथ ही प्राण पर अधिकार हो जाता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त प्रसन्न तथा स्वस्थ रहते हैं; शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि के सहन करने की सामर्थ्य बढ़ जाती है। संक्षेपतः, शारीरिक, वाचिक, मानसिक, और आध्यात्मिक लाभ होते हैं।

स्मरण रहे—दुष्पच, रूक्ष, उष्ण, बासी और अधिक आहार करना सर्वथा त्याज्य है। अतिश्रम, अतिनिद्रा, अनिद्रा ये आसनों से होने वाले लाभ को न्यून कर देते हैं। सर्वत्र, सर्वकार्यों में सिद्धि प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्यानुष्ठान तो अनिवार्य है। आसनों का अभ्यास भी बलाबल को तोलकर अपनी शक्ति के अनुसार ही करना चाहिए। यदि किसी एक आसन के द्वारा देर तक एक ही स्थिति में रहने की इच्छा हो तो उसका अभ्यास बिना प्राणायाम के भी कर सकते हैं।

(१) **सिद्धासन**--दाएँ पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय और गुदा के मध्य कन्द (सीवन) में दृढ़ता से लगाएँ, जिससे पैर का तला जाँघ का स्पर्श करे। फिर बाएँ पैर की एड़ी उपस्थेन्द्रिय के मूल पर स्थिर करके तथा मेरुदण्ड, ग्रीवा और मस्तक को सीधा करके नेत्र-दृष्टि को सुविधानुसार भ्रूमध्य अथवा नासिकाग्र पर स्थिर कर दें। दोनों हाथों को ज्ञान-मुद्रा में बाँधकर दोनों घुटनों पर स्थापित कर दें और दोनों घुटने भूमि पर टिके रहें। निश्चेष्ट होकर बैठ जायँ।

ज्ञान-मुद्रा—तर्जनी अँगुली को मोड़ कर अँगूठे के मूल में लगा दें, और शेष तीनों अँगुलियों को मिला कर फैला कर रखने से 'ज्ञान-मुद्रा' बन जाती है।

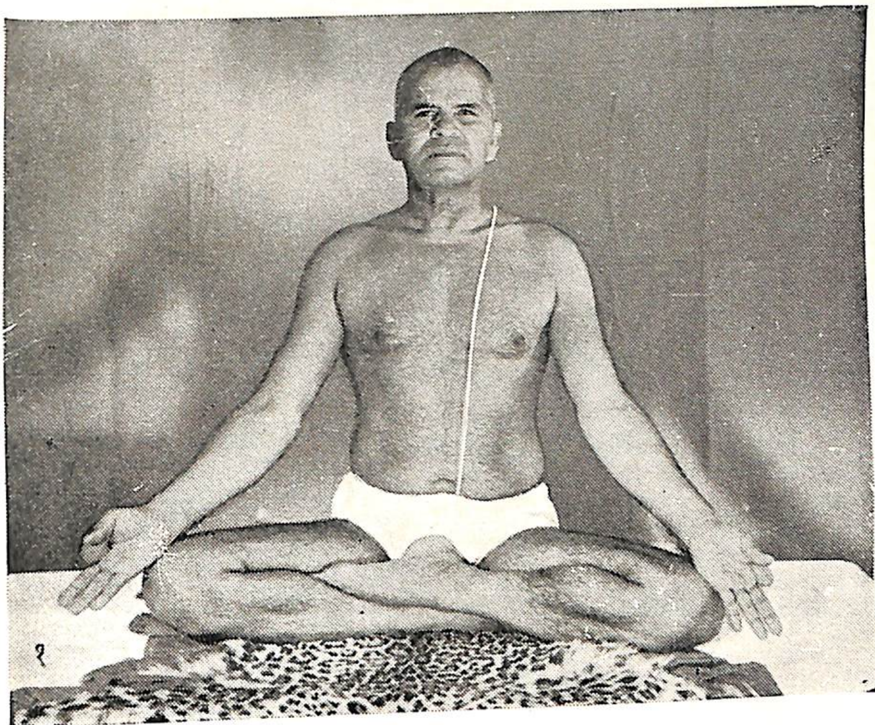
लाभ—अपने नाम के अनुसार ही इस आसन में गुण देखकर इसका नाम 'सिद्ध-आसन' रखा गया है। इस आसन में मूलबन्ध स्वतः लग जाने से प्राण तथा शुक्र ऊर्ध्वगमन करने लगते हैं, और सुषुम्ना का मार्ग खुलने लगता है, एवं प्राण-इन्द्रिय और मन की स्थिरता, उपस्थमूल में स्थित-शुक्र-वाहिनी-नाड़ियों के एड़ी द्वारा दबने से उत्पन्न हुई शिथिलता के कारण ब्रह्मचर्य की दृढ़ता, और कामनाओं में बलवती—उग्र कामेच्छा शान्त होने लगती है। द्वन्द्व सहन की योग्यता आने लगती है।

(२) **पद्मासन**—बाएँ पैर को दक्षिण-जंघामूल में, एवं दाएँ पैर को वाम-जंघामूल में ऐसे लगाएँ कि नाभि के नीचे-पेडू के मध्य में दोनों एड़ियाँ आ जुड़ें और दोनों पादतल कमलपत्रवत् दोनों जाँघों पर ठहर जायँ। अब मेरुदण्ड, ग्रीवा, शिर को सीधा रखकर, दक्षिण हाथ को दक्षिण घुटने पर और वामहस्त को वाम-घुटने पर 'ज्ञानमुद्रा' अथवा 'ब्रह्माञ्जलि' बनाकर रख लें, जिससे दोनों जानु सम-रूप से भूमि से मिले रहें। दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर करके शान्त बैठ जायँ।

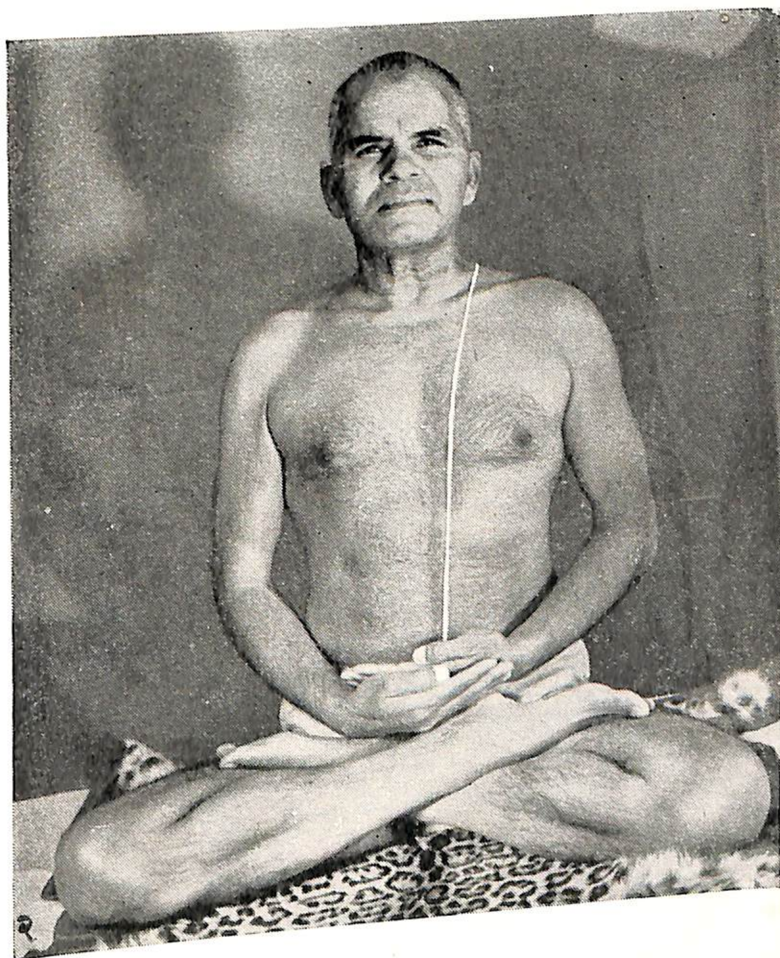
ब्रह्माञ्जलि—बाईं हथेली पर दाईं हथेली रखने से 'ब्रह्माञ्जलि' बनती है; इसे नाभि के नीचे आसनबद्ध एड़ियों पर रखा जाता है।

लाभ—अनेक प्रकार की व्याधियों को दूर करता; विशेष रूप से कटि-भाग तथा इससे निचले भाग की नस-नाड़ियों को दृढ़ और लचकीला बनाता; श्वसन क्रिया को सम रखता; इन्द्रिय और मन को शांत करके विशेषरूप से एकाग्रता का सम्पादन करता है। मेरुदण्ड के सीधे रहने से सुषुम्ना में प्राण की गति ठीक रहती है। इसलिए प्राणायाम तथा साधनाभ्यास के लिए यह आसन उपयुक्त रहता है।

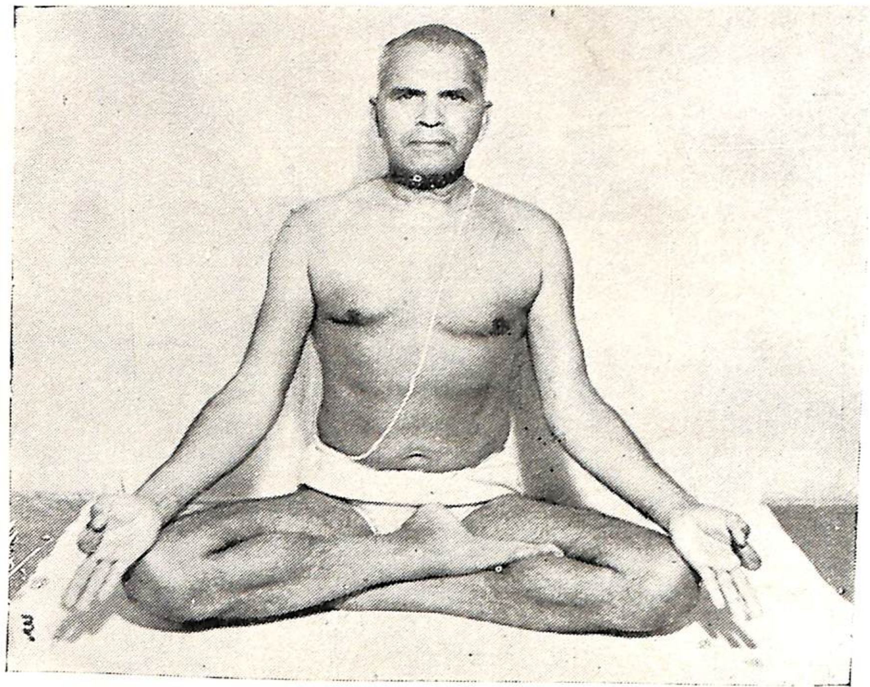
स्मरण रखिए—समाधि आदि में स्थिरता से बैठनेवाले आसनों में मेरु-दण्ड, ग्रीवा, शिर, कटिभाग सीधा रख कर बैठा जाता है; यही नियम है।



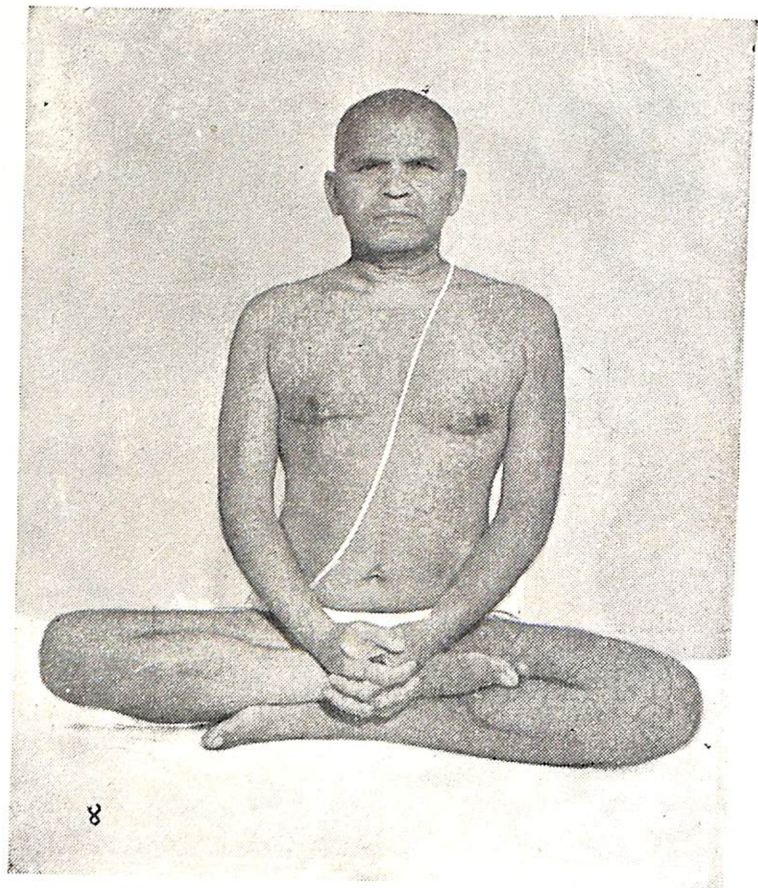
१
सिद्धासन



२
पद्मासन



३
स्वस्तिकासन



४
सुखासन

(३) **स्वस्तिकासन—जानुवोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे, समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते।** यह स्वस्तिक-आसन का लक्षण है। इसका भाव यह है कि—जानु और जंघा के मध्यस्थल में दोनों पादतलों को भली प्रकार स्थापित करके ग्रीवा, छाती, और मेरुदण्ड को सीधा रख कर बैठने से यह 'स्वस्तिक-आसन' बनता है। योग-सार में यह लक्षण दिया है। दोनों बाहुओं को फैला कर 'ज्ञान-मुद्रा' में बाँधकर दोनों घुटनों पर रख लें।

लाभ—इस सुगम, सुखद, सुकर आसन से देर तक सुख से बैठ कर प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, साधना में शीघ्र सिद्धि मिलती है। जो साधक 'सिद्ध' तथा 'पद्मासन' को कठिन समझ कर न कर सकें, वे इसे 'अपना' सकते हैं

(४) **सुखासन—स्थिर सुखमासनम्,** योग, २-४६। इसका योग कथित लक्षण है।

प्रथम विधि—दाएँ पैर की पिंडली को बाईं-पिंडली पर इस प्रकार रक्खें कि गिट्टे की अस्थि पर दबाव न पड़े, पैर का पंजा बाईं-जाँघ पर आकर दोनों अँगूठे बाहर को निकले रहें; दोनों हाथों की अँगुलियों को गूँथ कर गोद में रखकर, कमर और ग्रीवा को सीधा रखते हुए दोनों कन्धों को ऊपर की ओर तानकर बैठें। शरीर न अधिक तना हुआ हो और न अधिक शिथिल रहे।

दूसरी विधि—सुविधानुसार किसी एक पैर को दूसरे घुटने के नीचे और दूसरे पैर को पहले घुटने के नीचे रखकर, पीठ-छाती आदि को पूर्व आसन के समान स्थिति में, हाथों को प्रथम विधि के अनुसार गूँथ और गोद में रखकर शान्त भाव से बैठ जायँ; जैसे कि प्रायः सभाओं, सत्संगों तथा भोजन के समय बैठा करते हैं।

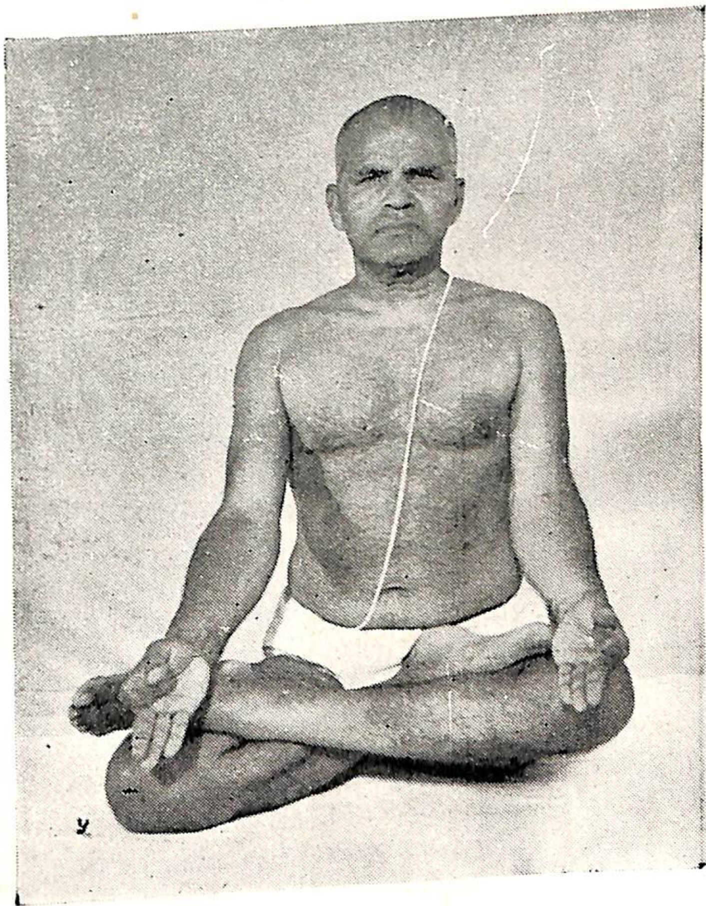
लाभ—सुख-साध्य होने से इस आसन का अभ्यास सब करते हैं। इससे भजन-समाधि में शान्ति से सुखपूर्वक कई दिनों तक बैठा जा सकता है। देह, प्राण, इन्द्रिय, मन में थकावट न्यून होती है, श्वास-प्रश्वास की गति सम रहती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि में देर तक बैठा जा सकता है।

(५) **कमलासन**—प्रथम दोनों टाँगों को फैलाकर बैठें। पश्चात् दक्षिण टाँग को मोड़कर इसी पैर की एड़ी को बाईं जंघा के मूल में दृढ़ता से जमा लें। फिर बाईं टाँग को मोड़ कर बाएँ पैर को दाएँ घुटने के ऊपर स्थापित करें। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखकर सीधे होकर सुख-पूर्वक बैठ जायँ।

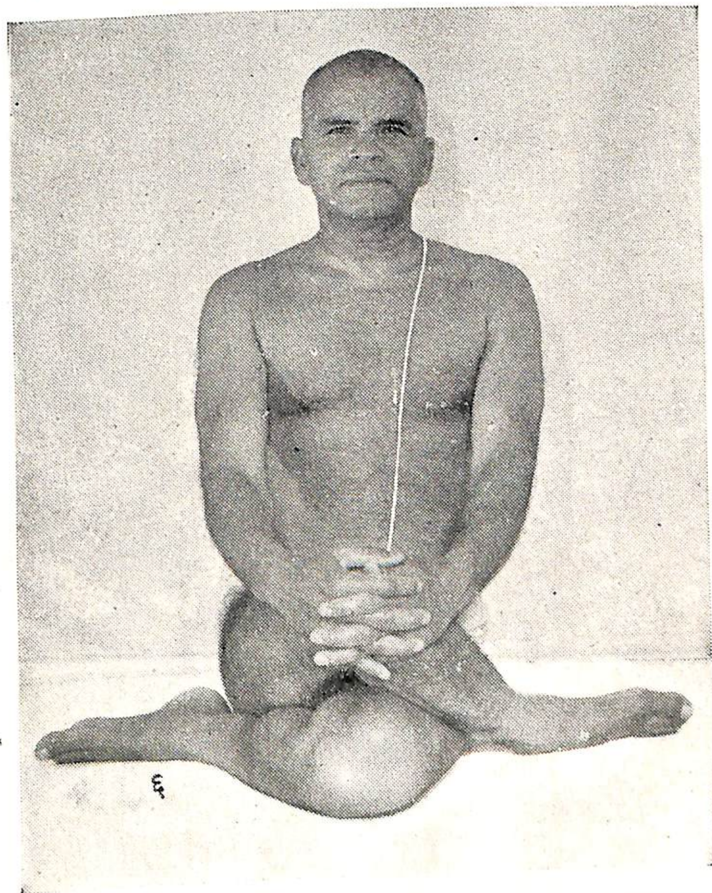
लाभ—सरल होने से यह आसन भी जप, पाठ, अग्नि-होत्र, मनन, स्वाध्याय के लिए उपयोगी तथा उत्तम है।

(६) **गोमुखासन**—बाएँ पैर की एड़ी को दक्षिण नितम्ब के समीप में रखकर फिर दक्षिण टाँग मोड़कर दाएँ पैर की एड़ी को वाम नितम्ब के निकट रख दें जिससे वामजानु पर दक्षिण जानु स्थापित हो जाय। समकाय होकर दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर गूँथ कर घुटने के अग्रभाग पर रख लें; अथवा—दाईं भुजा को मोड़कर कोहनी को ऊपर शिर की ओर करके हाथ पीठ पर डाल दें, वाम भुजा को मोड़कर कोहनी को कुक्षि में रखते हुए कर-पृष्ठ को पीठ की ओर करके ऊपर ग्रीवा की ओर ले जाकर दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर बाँध लें।

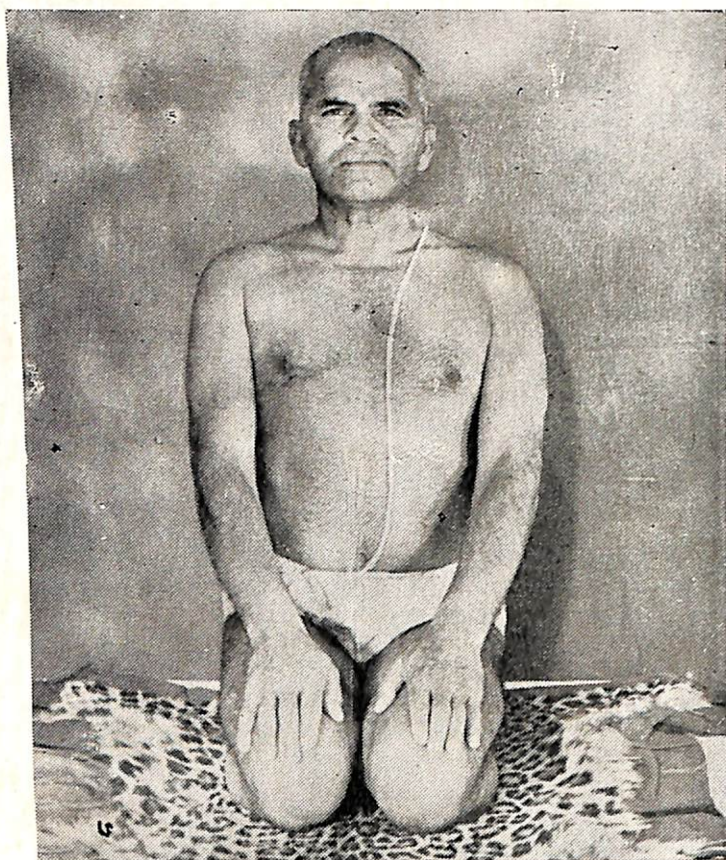
लाभ—यह घुटनों को शक्तिशाली, पैरों की नसों को दृढ़ करता तथा अण्डकोशों की वृद्धि को रोकता है। जप-स्वाध्याय आदि के लिए भी उपयुक्त है।



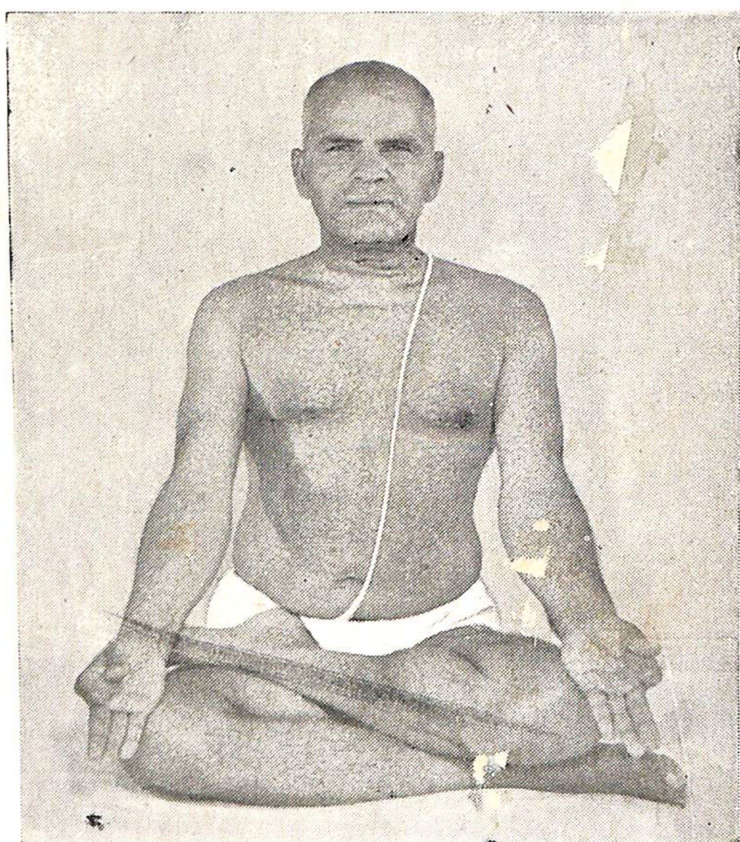
५
कमलासन



६
गोमुखासन



७
वज्रासन



८
वीरासन

(७) **वज्रासन**—दोनों जाँघों के आन्तरिक भाग को दोनों पिण्डलियों से मिलाकर, मुड़े घुटनों को आगे और पैरों को पीछे की ओर मोड़कर वज्राकृति बनाते हुए, नितम्बों से कुछ आगे ले जाकर, दोनों एड़ियों को मिलाकर, नितम्बों को इन पर टिकाकर बैठ जायँ। दक्षिण हाथ की दाएँ और वामहस्त की बाएँ घुटने पर हथेलियाँ रखकर, समकाय-ग्रीव होकर बैठ जायँ; दृष्टि को सामने आकाश में रक्खें।

लाभ—इस आसन से बैठकर सूर्यभेदन, भस्त्रिका, कुम्भकरेचक आदि प्राणायाम करने में शीघ्र सफलता मिलती है। प्राणोत्थान, कुण्डलिनी जागरण की आशा बढ़ती है। मुसलमान प्रायः इसी आसन पर बैठकर नमाज़ पढ़ते, तस्बीह (माला) फेरा करते हैं।

(८) **वीरासन—प्रथम विधि :** बायाँ पैर दक्षिण जंघा के ऊपर और दायाँ पैर बाएँ घुटने के नीचे धरें; समकाय होकर, दोनों भुजाओं को आधा फैलाकर, हाथों को 'ज्ञान-मुद्रा' में बाँधकर दोनों घुटनों पर स्थापित कर दें। इसका नाम 'वीरासन' है। श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज इसी आसन पर बैठकर योग-साधन, आत्म-चिन्तन तथा ईश्वर-चिन्तन किया करते थे।

दूसरी विधि—बाईं टाँग मोड़ें, फिर यही घुटना मोड़कर एड़ी को वाम-नितम्ब के समीप इस प्रकार स्थापित करें कि वाम-पैर का पंजा और घुटना भूमि का स्पर्श करें। पीछे दक्षिण पादतल को वाम घुटने के साथ मिला भूमि पर इस प्रकार धरें जिससे दक्षिण घुटना ऊपर खड़ा हो जाय। अब बाईं हथेली को वाम-घुटने पर, और दक्षिण हाथ की मुष्टिका (मुट्ठी) बाँधकर दक्षिण घुटने पर रखलें; स्कन्धों को तानकर, समकाय होकर बैठें। क्षत्रियों के बैठने योग्य इसका नाम 'वीरासन' है।

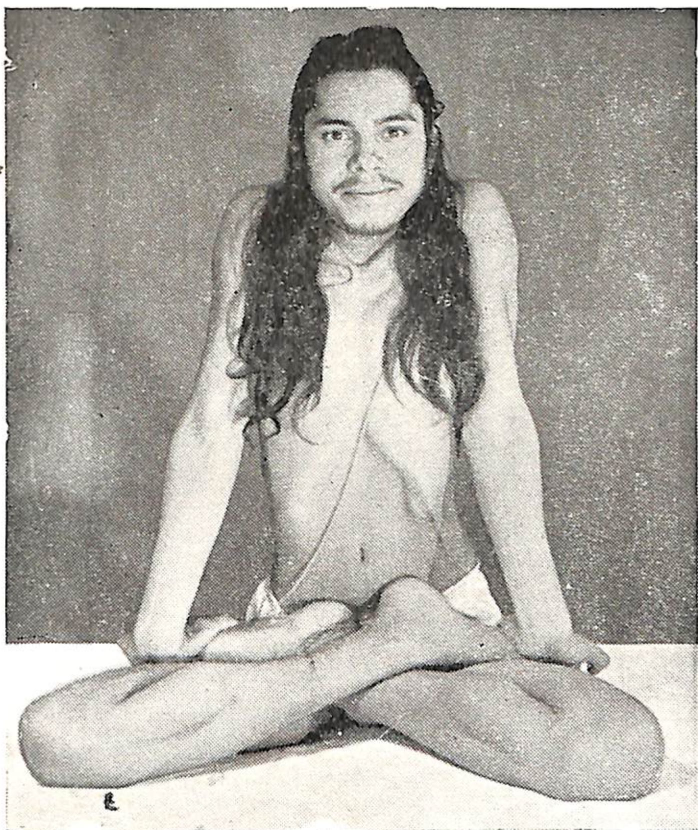
लाभ—भजन में बैठे हुए आलस्य-प्रमाद नहीं आता और देर तक इस आसन से बैठा जा सकता है।

(९) **योगासन**—पद्मासन लगाकर पहले सीधे बैठ जायँ। तदनन्तर दोनों हथेलियों से दोनों पाद-तलों को इस भाँति ढक दें कि मणि-बन्ध सामने-आगे की ओर हो जाय और हाथ की अँगुलियाँ उदर की ओर हो जायँ। उन्मुखी-मुद्रा के द्वारा दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर करें; श्वास-प्रश्वास की गति स्वाभाविक रहे। दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर रखने का विधान भी मिलता है। (मणि-बन्ध=कलाई)।

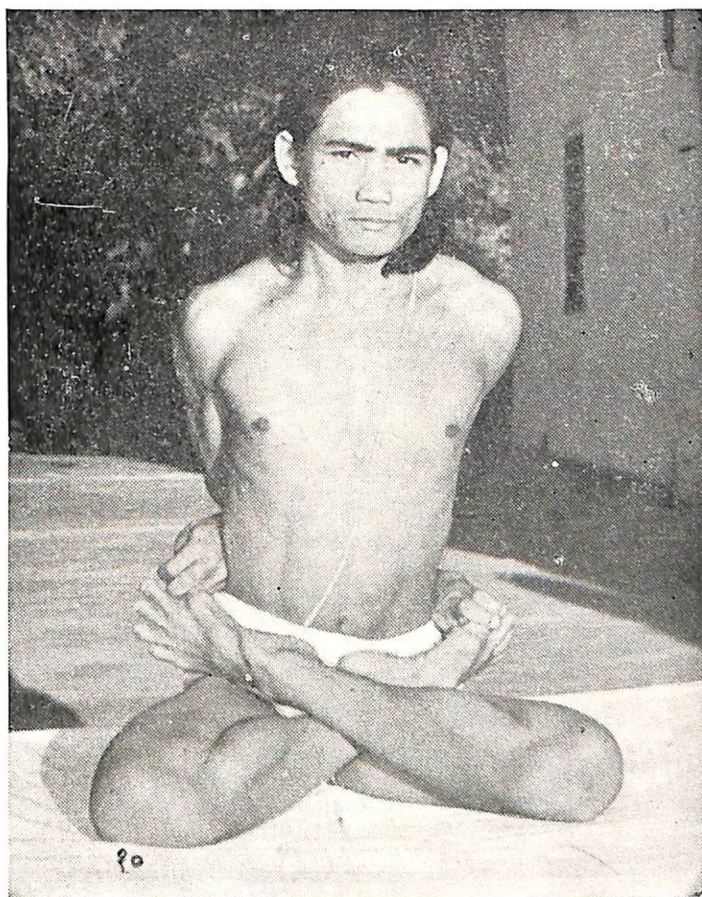
लाभ—साधनाभ्यास में इस आसन से बैठने में तन्द्रा, निन्द्रा, आलस्य, जड़ता, प्रमाद आदि का अभाव रहता है। इस पर दीर्घकाल तक बैठने से प्राणोत्थान होने लगता है तथा कुण्डलिनी जागरण की सम्भावना शीघ्र हो जाती है।

(१०) **बद्धपद्मासन**—पहले तो पद्मासन से बैठें, पश्चात् दोनों हाथों को पीठ की ओर से ले जाकर दक्षिण हाथ से दक्षिण पैर का अँगूठा और वाम हस्त से वाम-पाद का अँगूठा दृढ़ता से पकड़ लें। दोनों स्कन्ध तने रहें, पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगा लें, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर कर दें। घेरण्डसंहिताकार इसे भी पद्मासन ही कहते हैं।

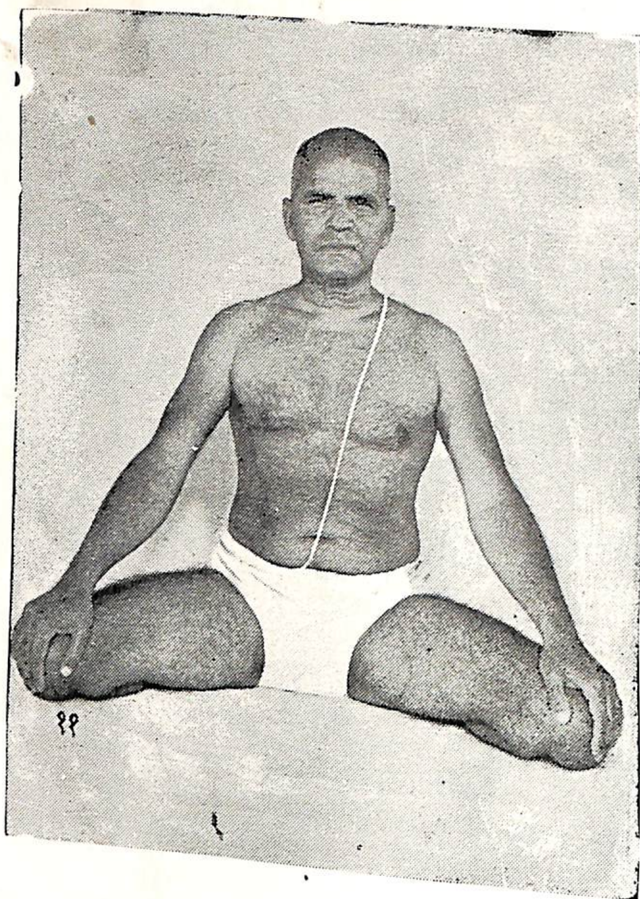
लाभ—तमोगुण के कार्यरूप तन्द्रा-निन्द्रा-आलस्य, कब्ज, स्वप्नदोषादि वीर्य-विकार दूर करता है। मृगी, क्षय, दमा, खाँसी, भगन्दर आदि रोगों से सुरक्षित रखता है। पाचन-शक्ति बढ़ाता और कटिभाग से ऊपर के अंगों को पुष्ट करता है; मन की स्थिरता करता है। महात्मा भर्तृहरिजी ने वैराग्य शतक में यत्र-तत्र इसका उल्लेख किया है।



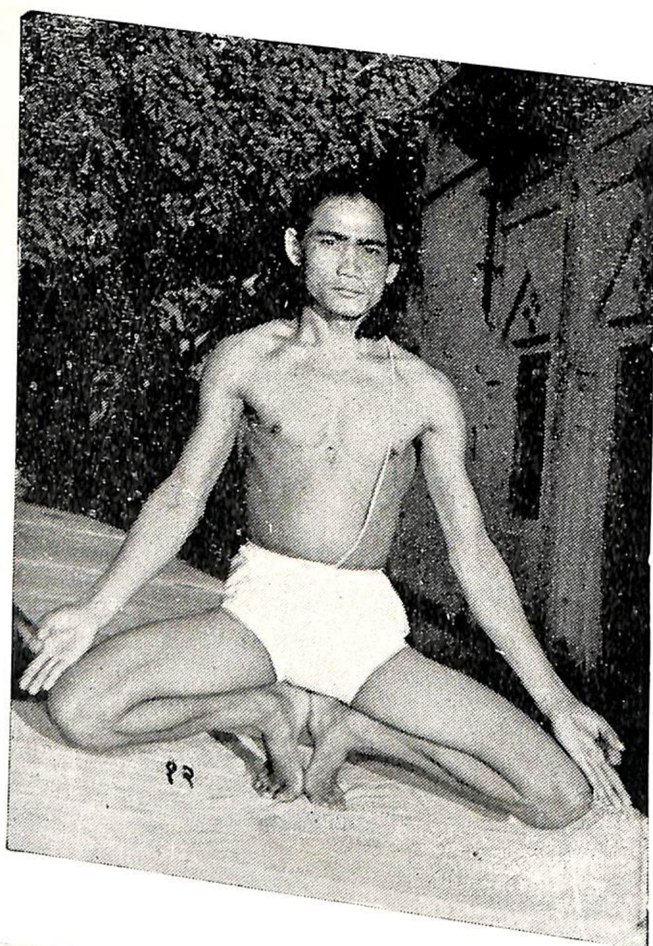
९
योगासन



१०
बद्धपद्मासन



११
मण्डूकासन



१२
मुक्तासन

(११) **मण्डूकासन**—भुजाग्रों को सीधा रखते हुए हथेलियों को भूमि पर दृढ़ता से स्थापित करके, घुटनों को मोड़कर पैर के पंजों को भूमि पर टेककर बैठ जायँ। ग्रब कोहनियों को थोड़ा झुकाकर, मुड़े घुटनों को यथाशक्ति फैलाकर, झुकी कोहनियों पर (दाईं कोहनी पर दायाँ घुटना ग्रौर बाईं कोहनी पर बायाँ घुटना) टेक दें ग्रौर पैरों के ग्रँगूठों को मिला लें। इस प्रकार एड़ियों पर नितम्ब ग्रा जाते हैं।

लाभ—इस ग्रासन के ग्रभ्यास से ग्रपान-वायु की गति नीचे को होकर मल-मूत्र का त्याग सुगमता से होने लगता है। प्राण का उत्थान होकर सुषम्ना में प्रवेश होने लगता है ग्रौर शरीर को ग्रारोग्य बनाता है।

(१२) **मुक्तासन**—प्रथम दोनों पैरों को संयुक्त करें। फिर दोनों पैरों की ग्रँगुलियों पर भार देकर इस प्रकार बैठें कि दोनों पादतल संयुक्त होकर दोनों एड़ियाँ मिलकर गुदा ग्रौर ग्रण्डकोशों के मध्य-सीवन-स्थान के मध्य में ग्राजायँ। पश्चात् दोनों घुटने भूमि पर टेक कर हाथों को 'ज्ञान-मुद्रा' बद्ध करके घुटनों पर स्थापित कर दें, ग्रौर सीधे होकर बैठ जायँ।

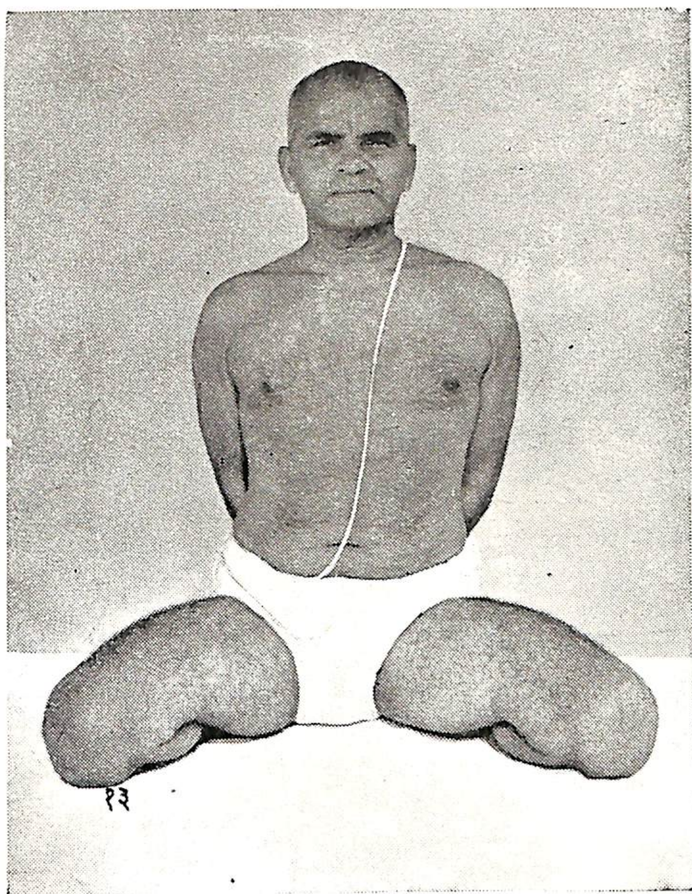
लाभ—यह ग्रासन टाँगों को सुगठित तथा दृढ़ बनाता है। नित्य के ग्रभ्यास से शिश्न ग्रौर योनिमण्डल की शुद्धि होती है।

(१३) **हस्तपाद गुप्तासन**—पहले दोनों घुटनों को मोड़े, और पैरों को पीछे की ओर ले जाकर एड़ियाँ नितम्ब (चूतर) के दोनों ओर स्थापित करके ऐसे बैठें जिससे कि दोनों पैरों के अँगूठे परस्पर मिल जायँ। तत्पश्चात् दोनों हाथों को पृष्ठभाग की ओर ले जाकर दक्षिण-हाथ से बाएँ पैर का अँगूठा और वाम-हस्त से दक्षिण-पाद का अँगूठा पकड़ लें। फिर पूरक द्वारा श्वास भर के जालन्धर और मूल बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक रक्खें।

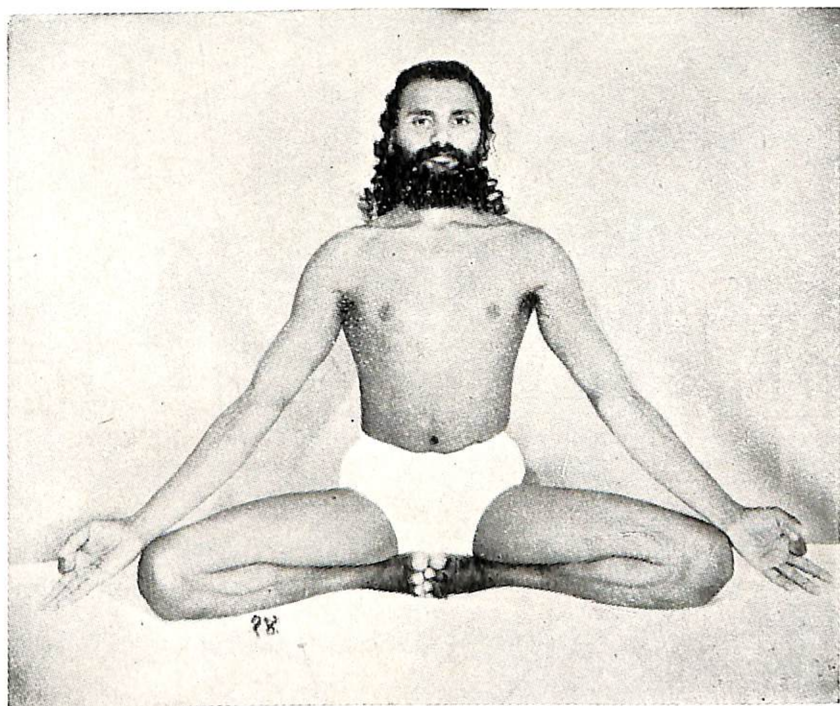
लाभ—उक्त आसन के अभ्यास से प्राण की गति मूलाधार से लेकर सहस्रार (ब्रह्मरन्ध्र) तक सीधी होती है, मन शान्त रहता है। अभ्यास के लिए यह उत्तम है।

(१४) **गोरक्षासन**—सहज आसन से बैठकर दोनों पाद-तलों को मिलाएँ, एड़ी से एड़ी और अँगूठे से अँगूठा मिल जाय। अब दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर गूँथ कर मिले हुए पादतलों के नीचे इस प्रकार ले जायँ जिससे हाथों के अँगूठे पैरों के अँगूठों के ऊपर आ जायँ। हाथों के अँगूठे परस्पर चढ़े न हों अपितु सम हों। अब दोनों घुटनों को भूमि पर दबाते हुए मिली हुई एड़ियों को अपने गुँथे हुए हाथों की सहायता से गुदा और लिङ्ग के मध्य-सीवन-स्थान कन्द तक ले जायँ। जब दोनों एड़ियाँ कन्द का स्पर्श करें तो कन्द स्थान को उठाकर एड़ियों से दबाएँ परन्तु दोनों जानुओं का भूमि से स्पर्श बना रहे। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर रख कर दोनों स्कन्धों को सम रखते हुए समकाय-ग्रीव होकर बैठें।

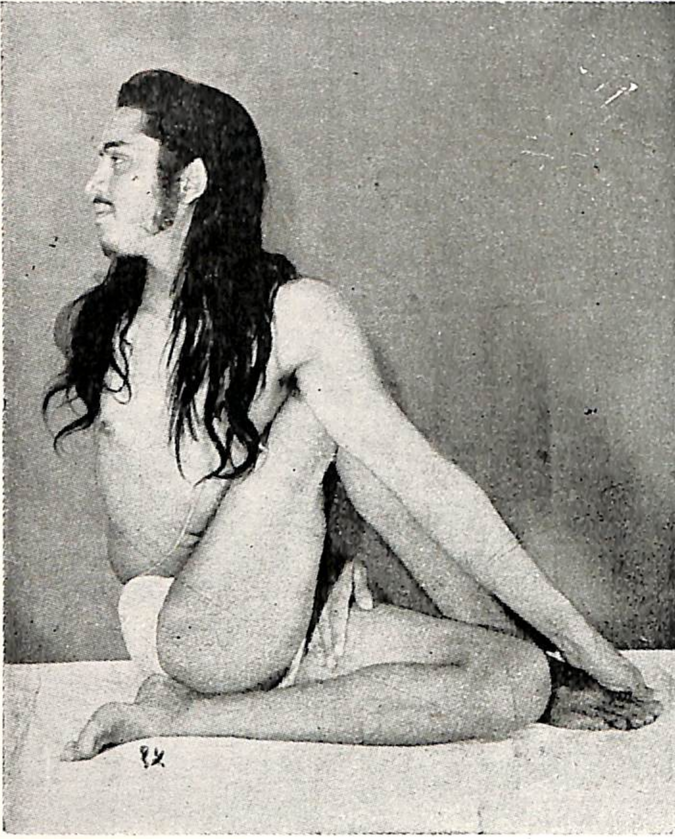
लाभ—इससे जानु (घुटने) और जाँघ की माँसपेशियाँ, नसें दृढ़ होती हैं, शुक्रग्रन्थियाँ, और डिम्बग्रन्थियाँ कन्द-पीड़न (दबाव) से पुष्ट होती हैं। फलतः रज-वीर्य सम्बन्धी विकार-स्वप्न-दोष, मधुमेह, प्रमेह, प्रदर आदि रोग शीघ्र दूर हो जाते हैं और भविष्य में अभ्यासी इनसे बचा रहता है। वातरोग भी नष्टप्रायः हो जाते हैं। श्री गोरक्षनाथ इस आसन से योग-साधना किया करते थे। अतः उन्हीं के नाम से यह प्रसिद्ध हो गया।



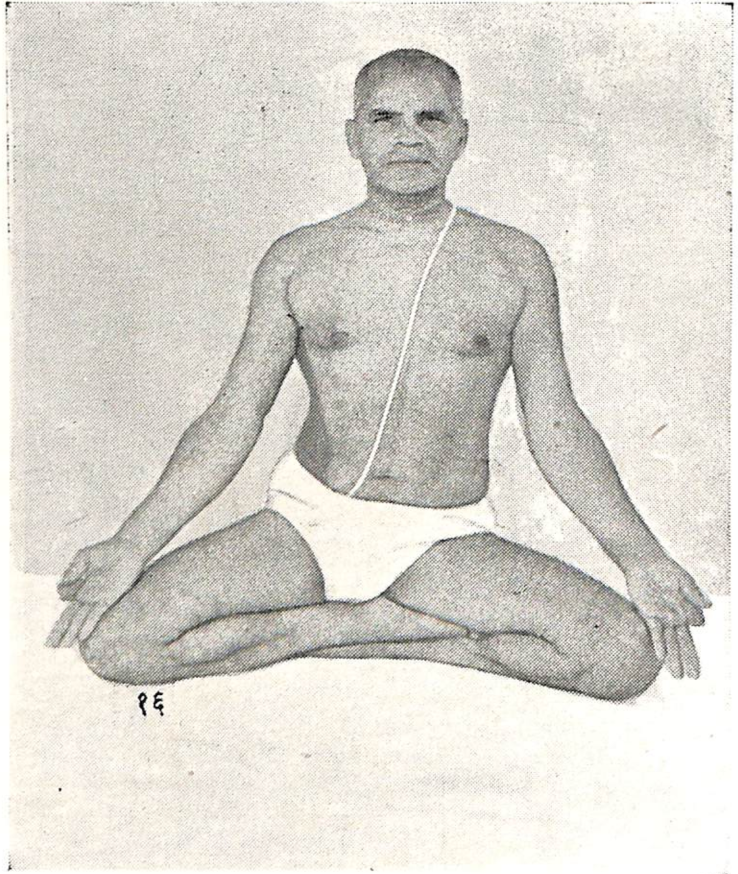
१३
हस्तपाद गुप्तासन



१४
गोरक्षासन



१५
अर्धमत्स्येन्द्रासन



१६
गुप्तासन

(१५) **अर्धमत्स्येन्द्रासन**—बाएँ पैर की एड़ी दक्षिण-नितम्ब के नीचे रख कर दाएँ पादतल को बाएँ घुटने के दक्षिण भाग की ओर भूमि पर रख लें। फिर वाम-हस्त को दाएँ घुटने के बाहर से ले जाकर दक्षिण पैर के पट्ठे को पकड़ लें। तत्पश्चात् दाएँ हाथ को दक्षिण पार्श्व की ओर ले जाकर बाईं जाँघ-मूल को पकड़ कर मुख तथा ग्रीवा को दाईं ओर घुमाकर दक्षिण-स्कन्ध की ओर रक्खें। हाथ-पैर बदलकर दूसरी ओर से इसी प्रकार अभ्यास करें। पूर्णमत्स्येन्द्र-आसन की कठिनाई का ध्यान रखते हुए पहले अर्धमत्स्येन्द्रासन की विधि दी जा रही है। इसके अभ्यस्त हो जाने पर फिर मत्स्येन्द्रासन सुगमता से किया जा सकता है। श्री गोरखनाथजी के गुरु श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी इसी आसन से योग-साधना करते थे। इसीलिए यह आसन उनके नाम से प्रसिद्ध है।

लाभ—यह आसन कमर, जाँघ, वक्ष, बाहु, ग्रीवा की नस-नाड़ियों तथा स्नायुमण्डल को पुष्ट करता है। पाचन-क्रिया के ठीक रहने से शरीर स्वस्थ रहता है; मूत्रदाह तथा प्रमेह-रोग नष्ट होते हैं, प्राण-मन पर वशित्व हो जाता है, देह तो सुडौल हो ही जाती है।

(१६) **गुप्तासन**—प्रथम बाँएँ पैर का पंजा अण्डकोशों के नीचे इस प्रकार धरें कि टखना भूमि पर टिक जाय और पाद-तल ऊपर को हो जाय। तत्पश्चात् वाम-पाद तल के ऊपर दाएँ पैर का टखना रखकर पैर की एड़ी के स्थान में अण्ड-कोश और गुदा के मध्यवर्ती सीवन स्थान पर दबाव देकर दोनों हथेलियों को दोनों टखनों पर रखकर समकाय होकर सुखपूर्वक बैठें। पैर बदलकर भी ऊपरिकथित आसन का अभ्यास करें। ये सब १६ आसन बैठकर ही किये जाते हैं। अतः धारणा-ध्यान-समाधियों के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं। इसी कारण इन्हें अन्य आसनों से पहले लिखा है।

लाभ—गृहस्थियों के अतिरिक्त तीनों आश्रमियों के लिए विशेषरूप से हितकर है। यह आसन वीर्यरक्षा—ब्रह्मचर्य पालन में सहायक, उपस्थेन्द्रिय पर अंकुश रूप है, कामोत्तेजना को शान्त करता है।

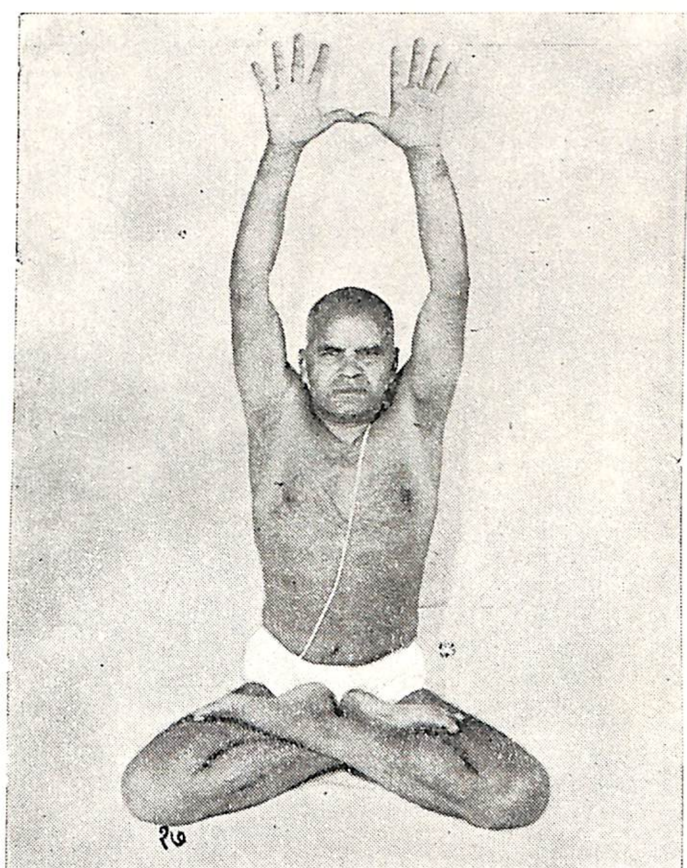
इससे अगले आसन मुख्यरूप से शारीरिक स्वास्थ्य-बल-दृढ़ता के लिए उपयोगी हैं। यही लाभ अगले आसनों से मुख्यतया होता है।

(१७) पर्वतासन—प्रथम पद्मासन से बैठें। तत्पश्चात् पूरक द्वारा उदर को श्वास से भर लें। अब छाती को बलपूर्वक फुला दें और दोनों हाथों को ऊपर उठा कर आकाश की ओर तान दें। यथाशक्ति कुम्भक रख कर दोनों नथुनों से शनैः-शनैः रेचक करते हुए पूर्व स्थिति में आ जायँ।

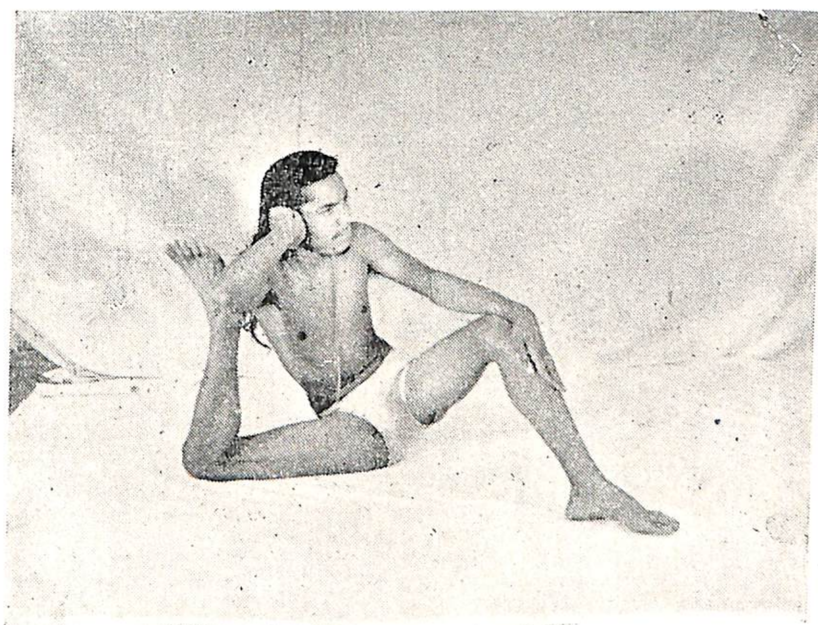
लाभ—इससे प्राण-शक्ति बलिष्ठ होती है। छाती का विकास और फेफड़ों का शोधन होकर बल बढ़ता है।

(१८) आसा-आसन—दोनों पैर फैलाकर बैठ जायँ। दक्षिण पैर उठाकर इस पादतल को दक्षिण बग़ल में लगा दें। अब इसी पादतल पर दाईं कोहनी दृढ़ता से रखकर दाईं हथेली को कनपटी से लगा लें। दक्षिण घुटना भूमि पर टिका रहे। तत्पश्चात् वाम-पाद का जानु किंचित् उठाकर घुटने पर वाम-हस्त की हथेली रख दें। इस आसन को पैर बदलकर, उक्त विधि के अनुसार दूसरी ओर से भी करें। जो योगाभ्यासी दिन और रात्रि में प्रायः बैठे रहते हैं वे काष्ठ की 'आसा' अथवा 'वैरागिन' नाम की टेकन बनाकर बग़ल में, कभी दोनों बग़लों के नीचे लगाकर अपनी ठोड़ी भी उस पर रखकर बैठ जाते हैं। इससे थकावट कम होती है, बिना लेटे विश्राम मिल जाता है। उसके अभाव में इस आसन से कार्य ले सकते हैं।

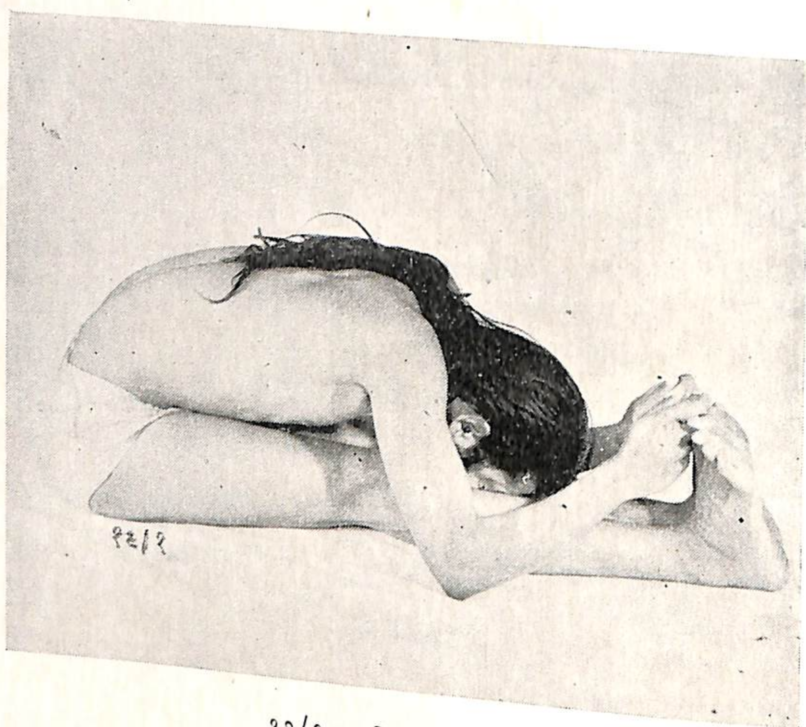
लाभ—इस आसन के अभ्यास से पैर और बाहु पुष्ट होते, देह बलवान् बनती तथा विश्राम भी मिलता है।



१७
पर्वतासन



१८
आसा-आसन



१६/१—पश्चिमोत्तान-आसन

(१९) **पश्चिमोत्तान-आसन**—१. बैठकर पैरों को सामने सीधा फैलाकर परस्पर मिला लें। पश्चात् दाएँ हाथ से दाएँ पैर का और वाम-हस्त से वाम-पाद का अँगूठा दृढ़ता से पकड़कर टाँगों को अकड़ाकर सीधा कर लें। अब प्रश्वास को रेचन करके मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध लगाकर पीठ को अगली ओर झुकाते हुए मस्तक को टाँगों पर टिका दें। यथाशक्ति बाह्य कुम्भ रखकर जब श्वास लेने की इच्छा हो तब मस्तक उठाकर शनैः-शनैः पूरक करके पुनः घुटनों पर मस्तक रख लें।

२. **दूसरी विधि—जानुबद्धपश्चिमोत्तान**—पश्चिमोत्तान की स्थिति में बैठकर पादाँगुलियों को छोड़कर दोनों हाथों से दोनों जानुओं को थामकर दृढ़ता से पकड़ लें। पूर्व प्रकार से प्राणायाम करते हुए मस्तक को घुटनों पर धर लें।

३. **पादबद्ध पश्चिमोत्तान**–सामने फैलाई टाँगों को मिलाकर पूर्ववत् बैठकर दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर गूँथकर, पीठ झुकाकर दोनों पादतलों को इन गुँथी अँगुलियों में बाँध लें, और पूर्ववत् रेचक-कुम्भक करते हुए मस्तक को भी पूर्ववत् घुटनों से उठाते और उन पर रखते रहें।

४. **पृष्ठबद्ध पश्चिमोत्तान**—टाँगों को पूर्ववत् फैलाकर अब दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर दक्षिण-हाथ से बाईं कोहनी और वाम हस्त से दाईं कोहनी पकड़कर बाँध लें। पुनः रेचक प्राणायाम करते हुए आगे को झुककर घुटनों पर सिर रखकर यथाशक्ति बाह्यकुम्भक रखकर मस्तक उठाते हुए पूरक कर लें।

५. **पार्ष्णी (एड़ी) बद्ध पश्चिमोत्तान**––दोनों पैर फैलाकर पूर्ववत् बैठकर दोनों हाथों से दोनों एड़ियों को दृढ़ता से पकड़े रहें। पूर्ववत् मस्तक को घुटनों से उठाकर रेचक-कुम्भक करके पुनः घुटनों पर टिका लें। यथाशक्ति कुम्भक रख कर शिर उठाकर रेचक कर दें, जैसा कि पहले करते आ रहे हैं।

६. **द्विहस्त-प्रसारण पश्चिमोत्तान**—पूर्ववत् पैर सामने फैलाकर मिला लें। अब दोनों भुजाओं को दाईं-बाईं ओर सीधा फैलाकर बिना मोड़े हुए अपनी पीठ झुकाकर पूर्ववत् रेचक-कुम्भक करते हुए मस्तक को दोनों घुटनों पर टिका दिया करें और श्वास लेने के लिए मस्तक उठाकर पूरक करके छोड़ दें। भुजाएँ सदा फैली रहें।

७. **पृष्ठ मुष्टिबद्ध पश्चिमोत्तान**—पूर्ववत् टाँगें पसारकर बैठें। दोनों हाथों

को पीठ पर ले जाकर अँगुलियों को परस्पर गूँथकर हथेलियों को मिलाकर रख लें। अब मस्तक आगे झुकाकर घुटनों पर टेकते समय रेचक करके कुम्भक कर लें।

८. एक पाद पश्चिमोत्तान—पूर्ववत् टाँगें पसार कर बैठें। फिर दायाँ पैर घुटने से मोड़कर दक्षिण नितम्ब के पार्श्व में एड़ी रख लें। अब आगे को झुककर दोनों हाथों से बाएँ पैर का अँगूठा पकड़कर, शिर को वाम-जानु पर लगाए रखकर पूर्ववत् रेचक-कुम्भक करें।

लाभ—पश्चिमोत्तान के इन सब प्रकारों से बढ़ा हुआ उदर कृश होकर प्रायः सब प्रकार के उदर-विकार नष्ट हो जाते हैं। समस्त शरीर सुडौल, सुगठित, लचकीला बन जाता है। उदर-गत वातगुल्म (बायगोला), बढ़ी तिल्ली, अग्नि-मान्द्य आदि रोग शान्त हो जाते हैं। टाँगों की नस-नाड़ियाँ, सन्धियाँ, स्नायु पुष्ट होते हैं। सुषुम्ना-द्वार खुल जाता है। प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी-उत्थान में सहायता मिलती है। शरीर, प्राण इन्द्रियों पर अधिकार होकर मन की एकाग्रता बढ़ती है।

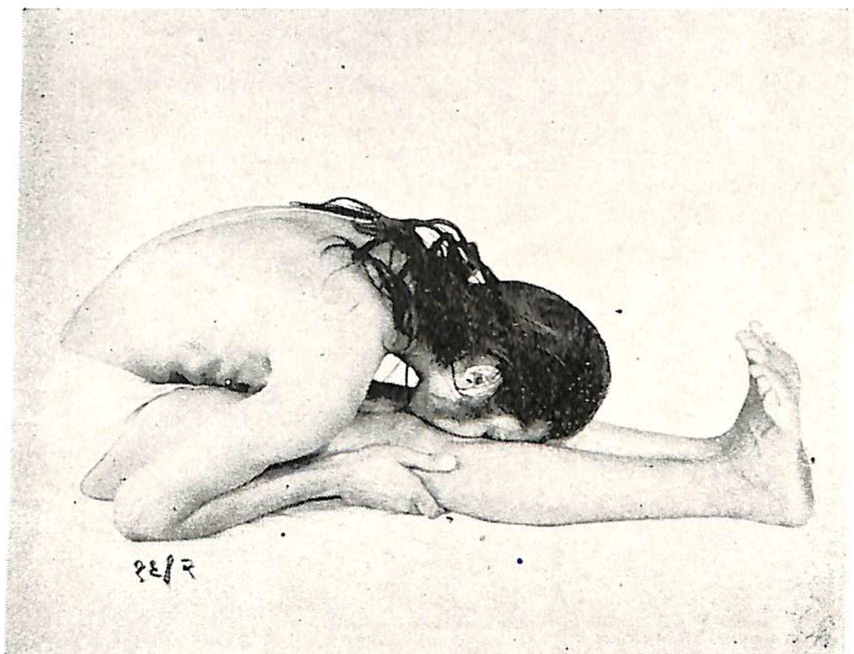
९. अर्द्धबद्ध पद्म पश्चिमोत्तान—दोनों पैरों को आगे पसारकर बैठें, और वाम-पाद की एड़ी दक्षिण जँघा मूल में जमायँ। अब वाम-हस्त को पीछे दक्षिण-पार्श्व की ओर ले जाकर वाम-पाद के अँगुष्ठ को पकड़ लें। फिर दक्षिण हस्त से, फैले हुए दक्षिण-पाद का अँगूठा पकड़कर, श्वास अन्दर भरकर, मस्तक से दाएँ-जानु का स्पर्श करें। इसी प्रकार पैर बदलकर भी करें।

लाभ—वीर्य-रक्षार्थ यह आसन उपयोगी है। यह वीर्य सम्बन्धी दोषों को दूर कर देता है।

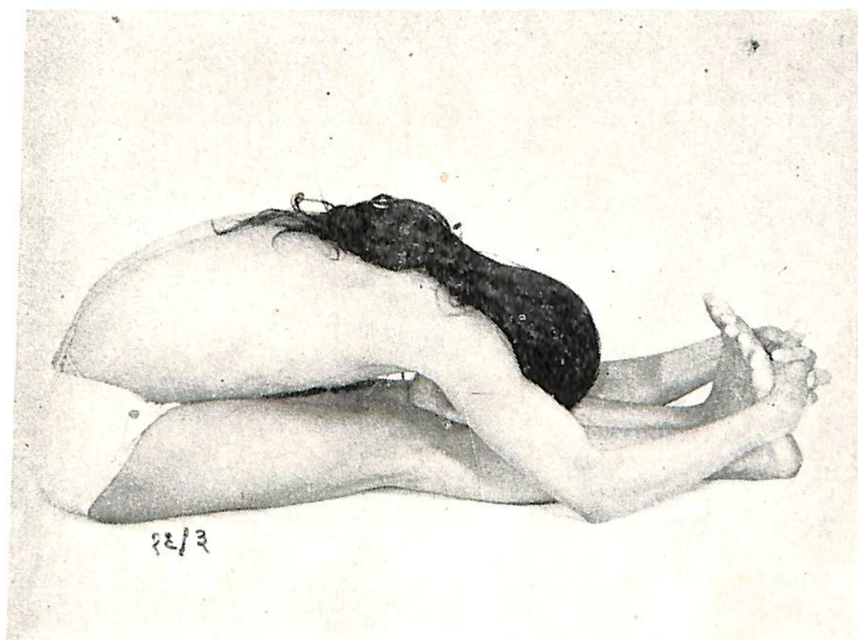
१०. पादग्रीवा पश्चिमोत्तान-आसन—बाईं टाँग को सामने सीधा फैला कर बैठें और दाईं-टाँग उठाकर गर्दन पर स्थापित करके दोनों हाथों से वामपाद को पकड़कर इतना झुकें कि मस्तक जानु से लग जाय।

लाभ—टाँगों की समस्त सन्धियाँ तथा ग्रीवा की नस-नाड़ियाँ दृढ़ बनती हैं।

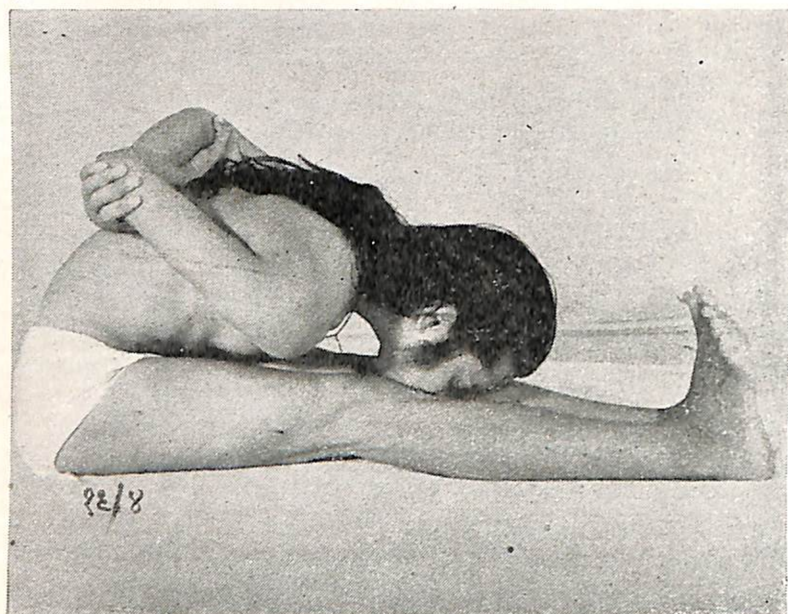
११. जानु पृष्ठबद्ध पश्चिमोत्तान—बाईं टाँग सामने सीधी फैला लें और दाईं टाँग मोड़कर पादतल को भूमि पर सीधा ही रख दें। अब दक्षिण हस्त को दाईं पिण्डली के ऊपर से पृष्ठ की ओर ले जायँ और वाम-हस्त को बाईं ओर



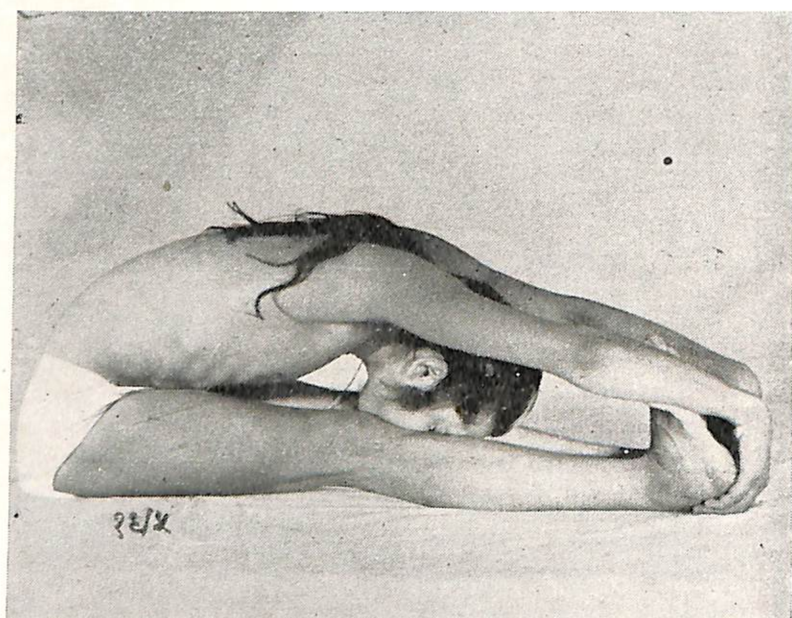
१६/२
जानुबद्ध-
पश्चिमोत्तान-आसन



१६/३
पादबद्ध-
पश्चिमोत्तान-आसन



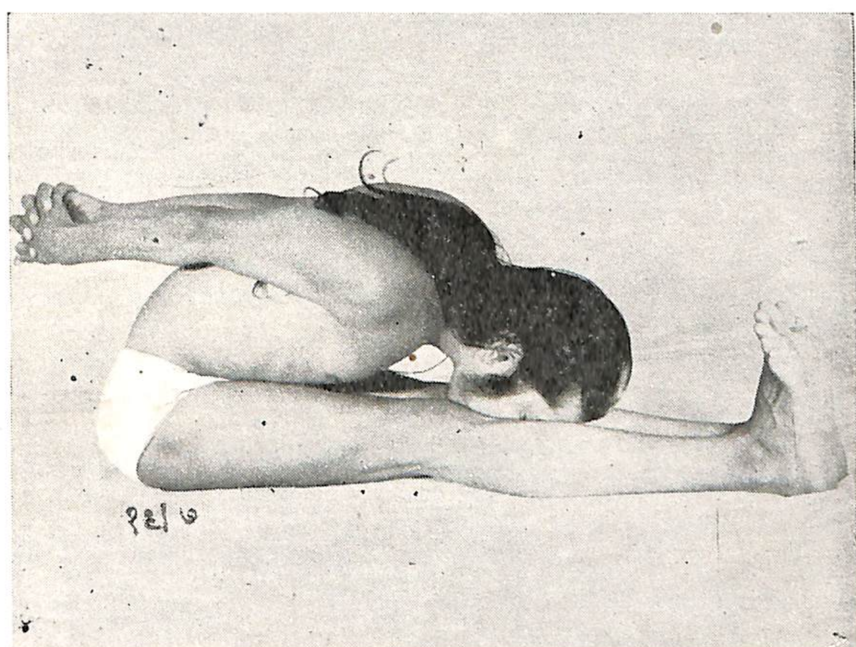
१६/४
पृष्ठबद्ध-
पश्चिमोत्त न-आसन



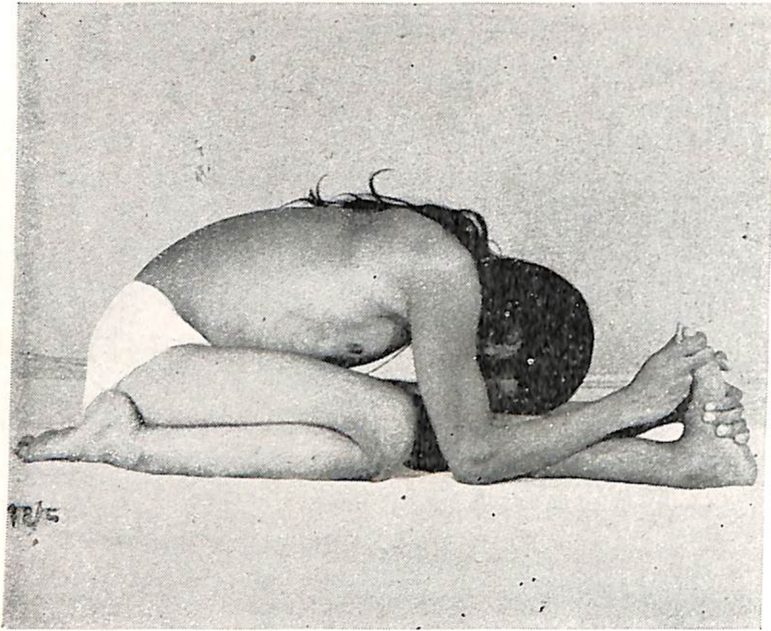
१६/५
पार्ष्णीबद्ध-
पश्चिमोत्तान-आसन



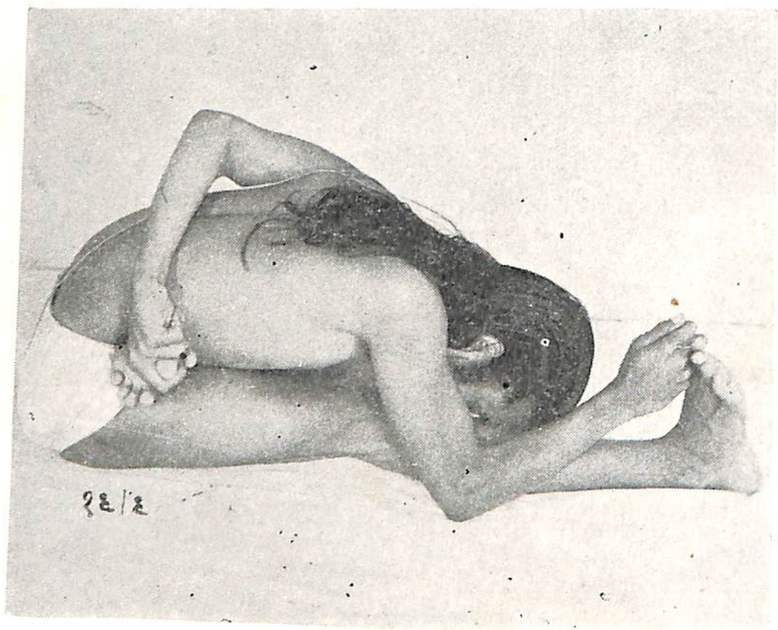
१६/६
द्विहस्त-प्रसारण-
पश्चिमोत्तान-आसन



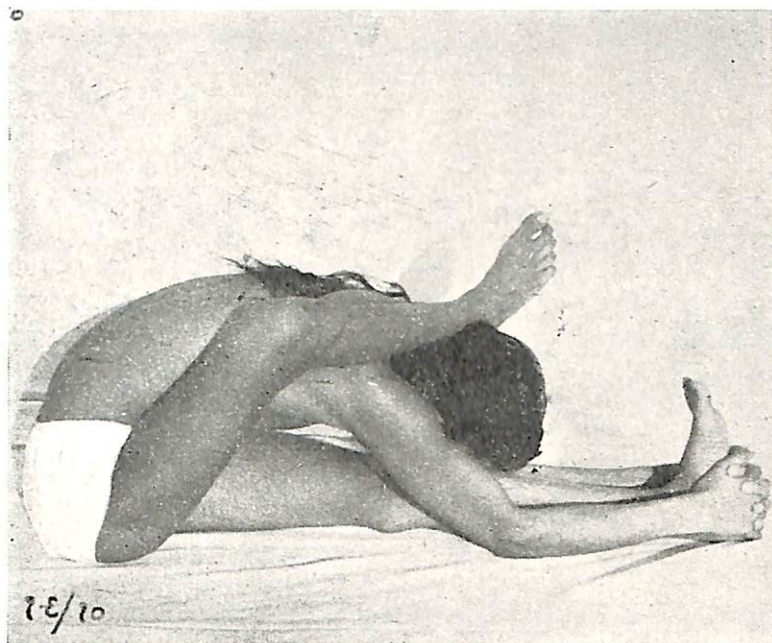
१६/७
पृष्ठ-मुष्टिबद्ध-
पश्चिमोत्तान-आसन



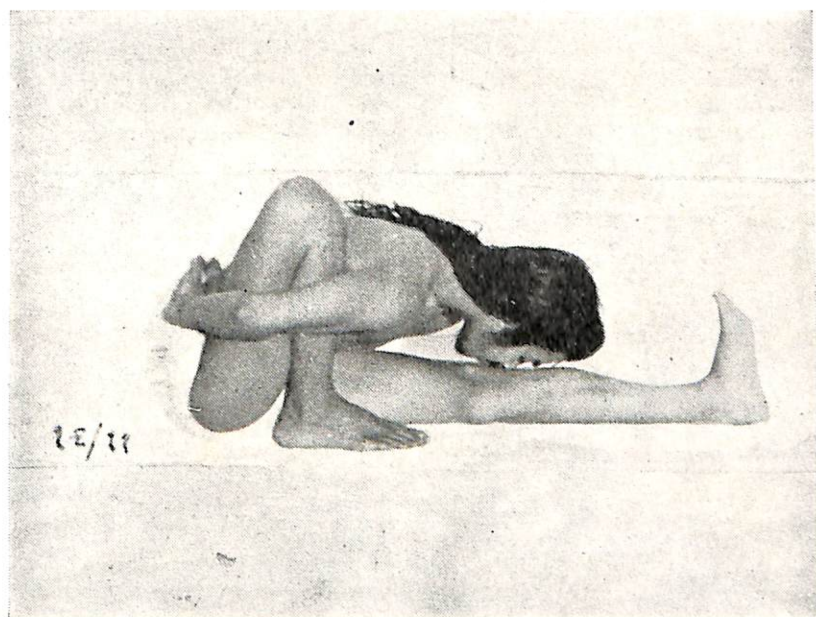
१९/८
एकपाद-
पश्चिमोत्तान-ग्रासन



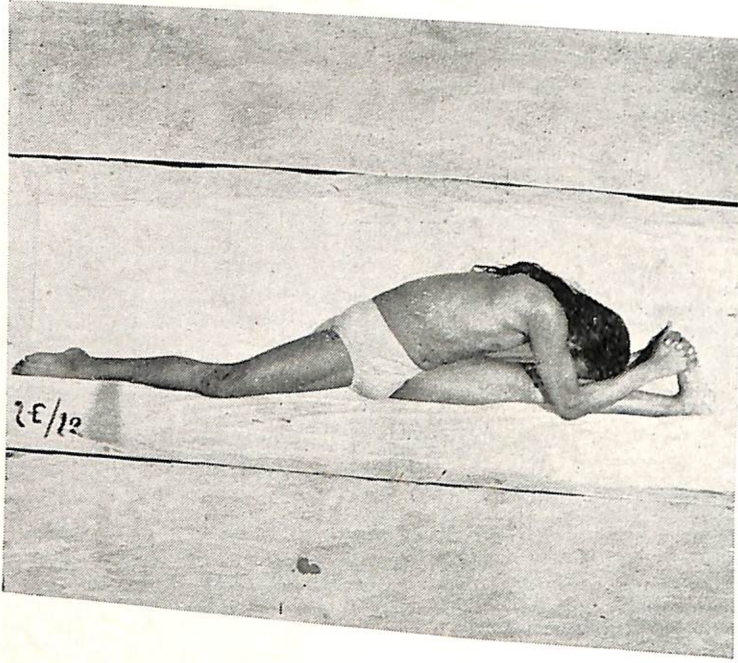
१९/९
ग्रर्द्धबद्ध-पद्म-
पश्चिमोत्तान-ग्रासन



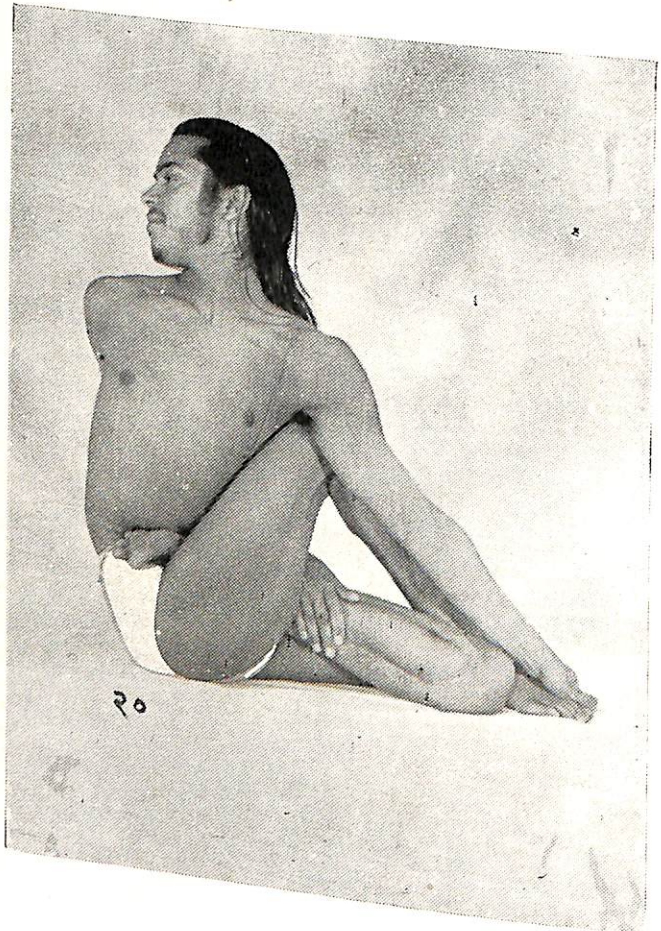
१६/१०
पादग्रीवा-
पश्चिमोत्तान-आसन



१६/११
जानुपृष्ठबद्ध-
पश्चिमोत्तान-आसन



१९/१२
विपरीतपाद प्रसारण-
पश्चिमोत्तान-आसन



२०
मत्स्येन्द्र-आसन

से पृष्ठ पर ले जाकर दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर गुम्फित करके मस्तक को बाएँ जानु से लगा दें।

लाभ—स्कन्ध और बाहु बलवान होते हैं।

१२. **विपरीत पाद प्रसारण-पश्चिमोत्तान**—दोनों टाँगें दक्षिण और वाम पार्श्वों में फैलाकर बैठें और दोनों हाथों से वाम-पैर को पकड़कर मस्तक को वाम जानु पर टेक दें। इसी प्रकार घूमकर दाएँ जानु पर भी टेकें।

लाभ—टाँगें अति दृढ़ हो जाती हैं, उदर शीघ्र कृश हो जाता है एवं वात-विकार जाता रहता है।

(२०) **मत्स्येन्द्र-आसन**—टाँगें आगे को फैलाकर बैठें। अब वाम-पाद की एड़ी को नाभि में इस प्रकार लगाएँ कि पैर का पंजा दक्षिण जँघा-मूल में आ टिके। अब दक्षिण-पादतल को बाएँ घुटने के वाम-पार्श्व में खड़ा करके वाम-हस्त को खड़े घुटने के दक्षिण-पार्श्व में बाहर की ओर से ले जाकर दक्षिण-पैर के अँगूठे को पकड़ लें। तदनन्तर दक्षिण-हस्त को पीठ की ओर घुमाकर बाईं एड़ी का इस प्रकार स्पर्श करें कि मुख घूमकर दाईं ओर हो जाय; दृष्टि पीछे की ओर सीधी रहे। इसी प्रकार हाथ-पैर बदलकर दूसरी ओर से भी अभ्यास करें। इस आसन की क्रिया कठिन है, परन्तु धीरे-धीरे नित्य के अभ्यास से फिर यह सुगमता से होने लगता है और सिद्ध हो जाता है। गोरखनाथ, घेरण्डनाथ तथा आत्माराम योगियों ने उपर्युक्त विधि ही प्रतिपादित की है।

लाभ—इसके निरन्तर अभ्यास से, मन्दाग्नि, आमवात, तिल्ली, यकृत्-विकार, यदि हों तो नष्ट हो जाते हैं, तथा इसके अभ्यासी को उदर-विकार होते ही नहीं। उदर के स्वस्थ और पाचन-शक्ति के ठीक रहने से समस्त शरीर स्वस्थ, सुडौल, सुन्दर, पुष्ट, तेजस्वी, कान्तिमान, बलिपलित-झुर्रियों और बुढ़ापे से रहित होकर स्फूर्त बना रहता है। ब्रह्मचर्य पालन तथा योग-सिद्धियों की प्राप्ति में यह सहायक होता है।

(२१) **पवनमुक्त-ग्रासन**—चित्त लेटकर पूरक द्वारा उदर को प्राण-वायु से भर लें। फिर दक्षिण घुटने को मोड़कर उदर पर स्थापित करके दोनों भुजाग्रों में कसकर इससे उदर को दबाएँ। शिर को उठाकर नासिका द्वारा घुटने को स्पर्श किये रहें, दूसरी फैली हुई टाँग भूमि से मिली रहे। इसे हाथ-पैर-टाँग बदल कर भी करें।

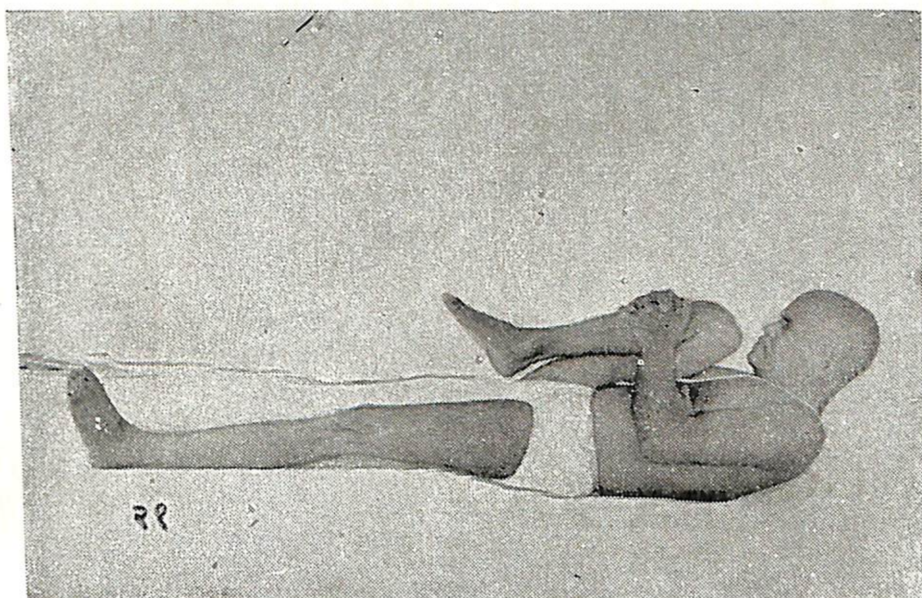
लाभ—इसके निरन्तर ग्रभ्यास से ग्रपानवायु की गति ठीक ग्रौर नीचे की ग्रोर हो जाने से बिना कष्ट ग्रपान का निःसरण हो जाता है। उदरगत वायु शान्त रहता है, ग्रौर कब्ज़ नहीं रहता। फुफ्फुस तथा हृदय सम्बन्धी विकार नहीं होते, उदर में मज्जा नहीं बढ़ती। पेट कभी ग्रफर जाय तो इसे करने से ग्रपान के मुक्त हो जाने से उदर हल्का पड़ जाता है। कुछ जल पीकर इस ग्रासन को बिना प्राणायाम के करने से थोड़े समय के पीछे ही शौच भली प्रकार हो जाता है।

(२२) **कूर्म ग्रासन**—१—दोनों टाँगों के घुटनों को मोड़कर पैरों को पीछे करके इस प्रकार बैठें कि टखने (गिट्टे) भूमि पर टिक जायँ ग्रौर नितम्बों के समीप एड़ी ग्रा जाय। फिर ग्रागे को झुककर दोनों कोहनियों को मिलाकर दोनों जानुग्रों के मध्य भूमि पर स्थापित कर दें। दृष्टि नासिकाग्र पर रहे ग्रौर श्वास की गति सूक्ष्म कर दें।

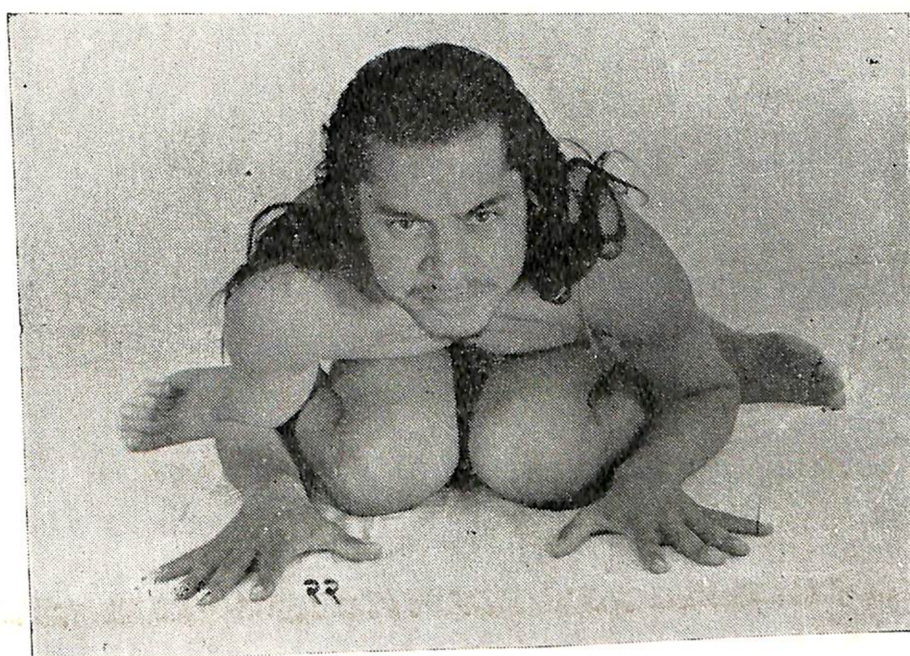
२—पैर के दक्षिण गिट्टे से गुदा के वाम भाग को ग्रौर पैर के वाम गिट्टे से गुदा के दक्षिण भाग को रोककर सावधानी से बैठें। इसे भी कूर्मासन कहते हैं। (हठ-प्रदी., श्लो. २२।)

३—दोनों एड़ियों को उलट कर ग्रण्डकोशों के नीचे रक्खें। शिर ग्रौर गर्दन को सीधा रखकर बैठ जायँ। (घेरण्ड, उप. २, श्लोक ३१) के ग्रनुसार यह भी कूर्मासन है।

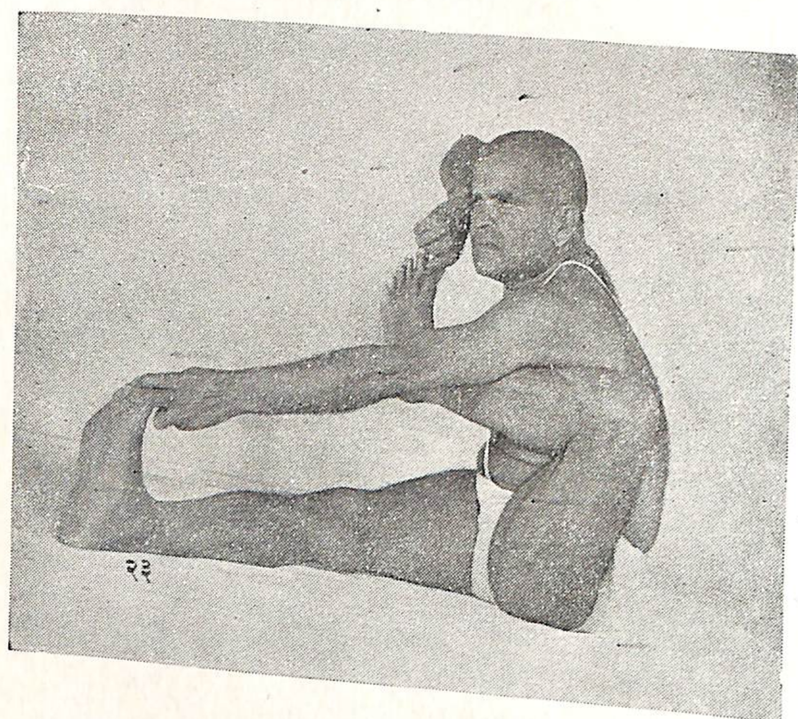
लाभ—इस ग्रासन में मूलबन्ध स्वाभाविक रूप से लग जाता है। ग्रतः प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी उत्थान शीघ्र होता है। इससे बवासीर ग्रौर भगन्दर नहीं होते।



२१
पवनमुक्त-आसन

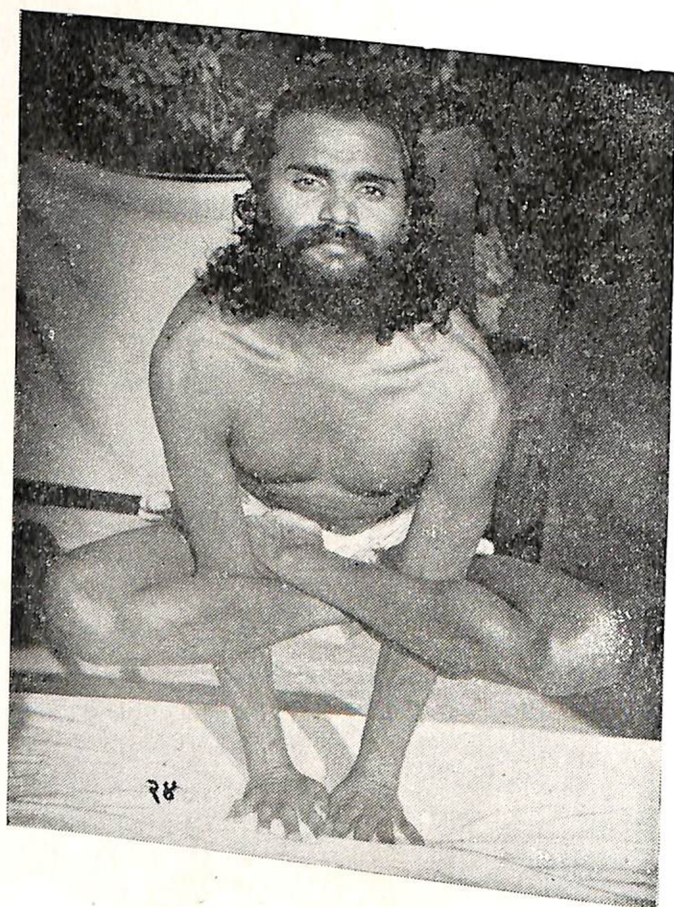


२२
कूर्म-आसन



२३
धनुपाकर्षण-आसन

२४
कुक्कुट-आसन



(२३) **धनुष-आकर्षण-आसन**—दोनों टाँगों को सामने सीधा फैलाकर बैठें। तत्पश्चात् वाम-हस्त से दक्षिण-पैर का अँगूठा दृढ़ता से पकड़ रखें। अब बाएँ पैर को दाएँ घुटने पर रखकर दक्षिण हाथ से बाएँ पैर का अँगूठा पकड़कर दक्षिण कान तक खींचकर ले आएँ। इस प्रकार धनुष पर बाण रखकर खींचने के समान शरीर की आकृति बन जाती है। अब इसे हाथ-पैर बदल कर भी करें। पाद-आकर्षण करते समय पूरक करके कुम्भक करना चाहिए, और रेचक करते समय पैर छोड़ दें।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से भुजदण्ड, स्कन्ध, जानु और जंघाएँ लच-कीली तथा हृष्ट-पुष्ट हो जाती हैं और प्राणनिरोध से प्राण बलवान होता है।

(२४) **कुक्कुटासन**—प्रथम पद्मासन लगाकर बैठें। तदुपरान्त दोनों जाँघों और पिण्डलियों के मध्य में से दोनों हाथ दोनों कोहनियों तक बाहर निकाल कर, तथा हथेलियों को भूमि पर टिकाकर दोनों हाथों के बल पर सम्पूर्ण शरीर को तोलकर रखें। दृष्टि आकाश की ओर रहे, कुछ देर इसी स्थिति में रहें, फिर छोड़ दें।

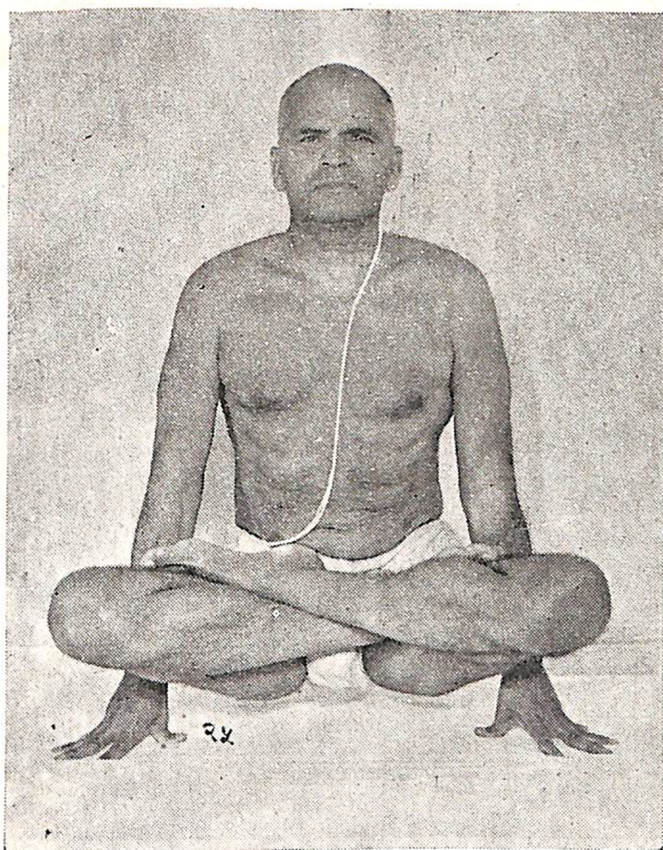
लाभ—इसके अभ्यास से भुजाओं और छाती में दृढ़ता आती है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता और आमाशय तथा पक्वाशय को शक्ति प्रदान करता है। उदर-कृमि तथा हाथ-पैरों की स्थूलता एवं दुर्बलता को नष्ट करता है।

(२५) **तुला आसन**—प्रथम पद्मासन लगाकर बैठें। फिर दोनों हाथों के पंजों को दक्षिण-वाम पार्श्वों में भूमि पर दृढ़ता से टेक कर पूरक करके दोनों हाथों पर बल देकर पद्मासन लगाये हुए ही शरीर को ऊपर उठाकर भुजाओं (हाथों) पर तोल दें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर छोड़ दें। धीरे-धीरे इसका अभ्यास बढ़ा लें।

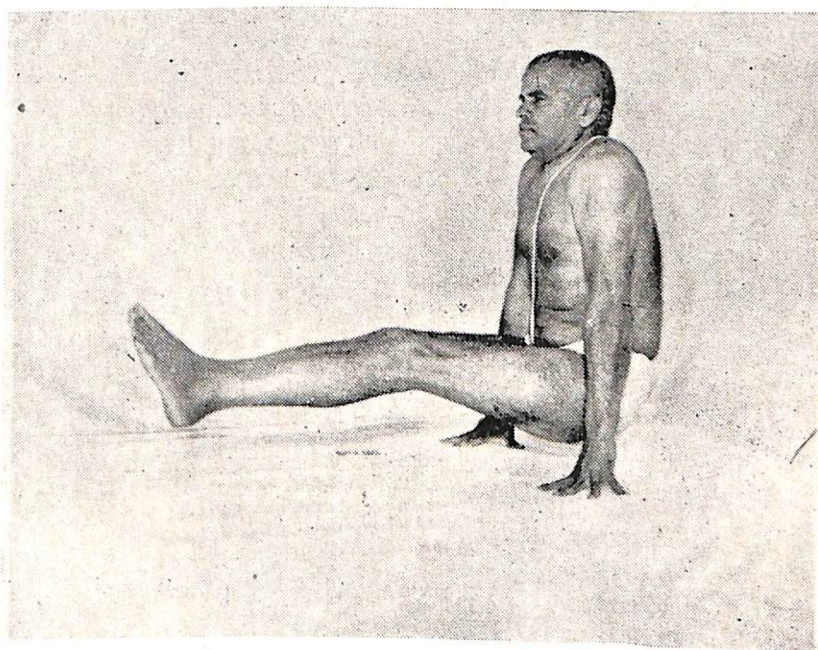
लाभ—इसके अभ्यास से भुजाएँ तथा हथेलियों के पंजे दृढ़ तथा पुष्ट और बलिष्ठ बनते हैं। छाती और कन्धों में शक्ति आती है, उदर और आँतों की शुद्धि और पुष्टि, एवं ग्रीवा भी बलिष्ठ बनती है।

(२६) **पादप्रसारण सर्वाङ्गतुला आसन**—दोनों टाँगों को सीधा, सामने फैलाकर बैठें। दोनों टाँगों के जानु और एड़ियाँ मिली रहें—परस्पर जुड़ी रहें। अब दोनों हथेलियों को अपने-अपने पार्श्वों में नितम्बों के समीप भूमि पर दृढ़ता से टेककर, भुजाओं को दृढ़ता से कसते हुए सीधा रखकर एवं पूरक करके समस्त देह को टाँगों-सहित हाथों पर उठा लें और कुम्भक रखते हुए कुछ समय इसी स्थिति में रहें।

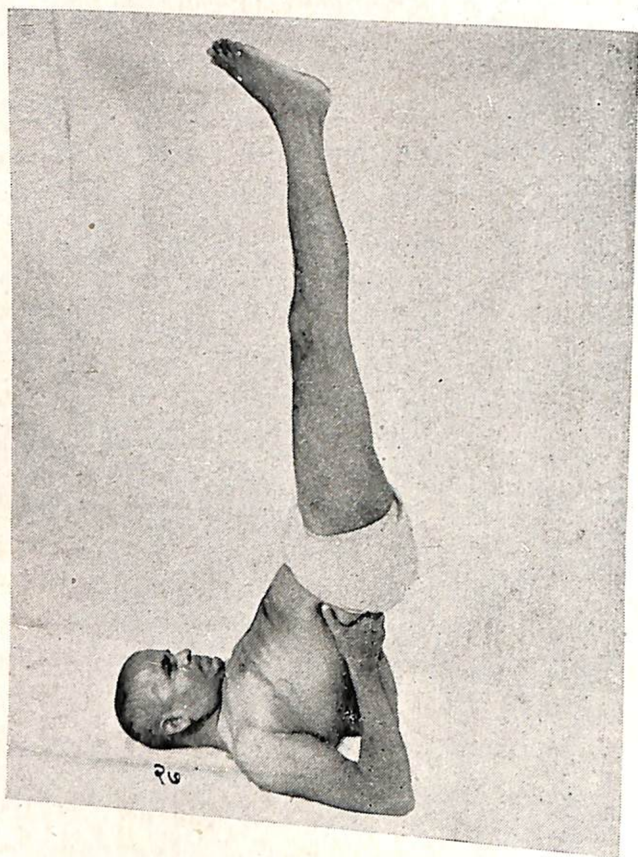
लाभ—इसके अभ्यास से स्कन्ध-भुजाएँ-हथेलियाँ बलिष्ठ—पुष्ट होती हैं। जिस पर रक्त-संचार तीव्रता से होकर रक्तशुद्धि भी होती है।



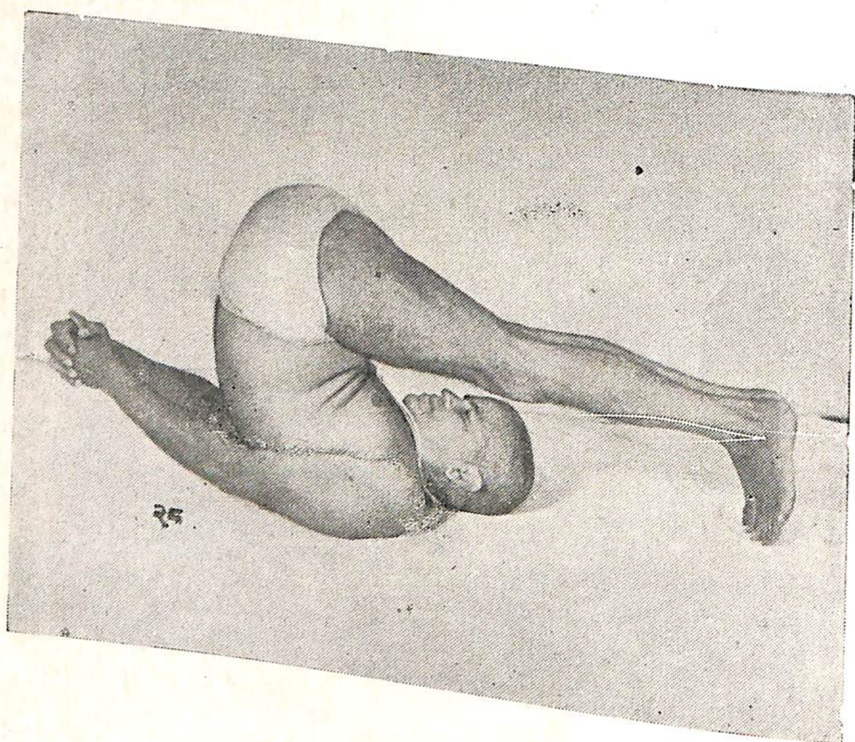
२५
तुला-आसन



२६
पादप्रसारण-
सर्वाङ्गतुला-आसन



२७
सर्वाङ्ग-आसन



२८
हल-आसन

(२७) **सर्वाङ्ग ग्रासन**—पीठ के सहारे चित्त होकर लेट जायँ ग्रौर दोनों टाँगें ग्रौर पैर परस्पर जुड़े रहें। ग्रब कन्धों से पैरों तक का समस्त भाग ऊपर की ग्रोर सीधा उठाएँ, दोनों भुजाएँ कोहनियों तक दृढ़ता के साथ भूमि से जुड़ी रहें। ग्रब कोहनी के मोड़ से हाथों को उठाकर कमर को पकड़कर कन्धों से पैरों तक सारे शरीर को सीधा तान दें–समस्त शरीर दोनों कन्धों ग्रौर ग्रीवा पर ग्रा ठहरे। इस प्रकार टाँगों को सीधा रखते हुए, पैरों को मिलाए, पैरों के ग्रँगूठों को नाक की सीध में रखते हुए, समस्त शरीर को कन्धों ग्रौर ग्रीवा पर तोल दें एवं हाथों से कटि-भाग को पकड़कर साधे रहें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर छोड़ दें।

लाभ—रक्तशुद्धि, मस्तिष्क, हृदय-फुफ्फुसों की पुष्टि के लिए यह ग्रासन प्रसिद्ध है। शिर-नेत्र-मस्तिष्क की शक्तियों को विकसित करता, नेत्र-ज्योति को बढ़ाता, वातरोग, रक्तविकार को दूर करता, शिर-पीड़ा तथा रक्तपित्त-पाण्डुरोग को शान्त करता ग्रौर पाचनशक्ति की वृद्धि करता है।

(२८) **हल-ग्रासन**—प्रथम पीठ के बल सीधे लेट जायँ, ग्रब दोनों टाँगों को परस्पर मिलाकर शिर के पीछे ले जाकर सीधा रखते हुए पैर के पंजों को भूमि पर टिका दें। भूमि पर पड़ी हुई सीधी भुजाग्रों के हाथों को सरकाकर परस्पर मिला दें।

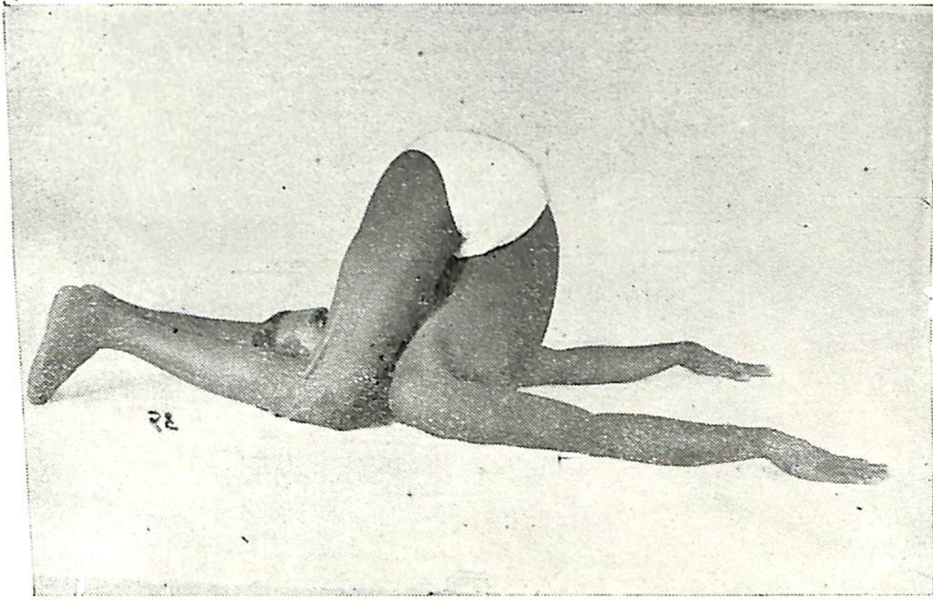
लाभ—इस ग्रासन के ग्रभ्यास से वक्ष ग्रौर पीठ की पुष्टि, रक्त का यथा-वत् संचार होकर रुधिर-शुद्धि ग्रौर जठराग्नि तथा क्षुधा की बृद्धि होती है। उदर-वृद्धि, पृष्ठ ग्रौर कटि-पीड़ा का क्षय एवं ग्रंतड़ियों की दुर्बलता का नाश हो जाता है। ग्रीवा पुष्ट होती है।

(२९) कर्णपीड़-ग्रासन—पहले पीठ के सहारे चित्त होकर लेटें। ग्रब दोनों टाँगों को पैर के पंजों सहित मिलाए रखकर ताने हुए शिर के पीछे ले जायँ। फिर घुटनों को चौड़ाकर पाँवों को मिलाए, दोनों कानों के इधर-उधर लगा कर कानों को दबाएँ ग्रौर भुजाएँ भूमि पर सीधी फैली रहें।

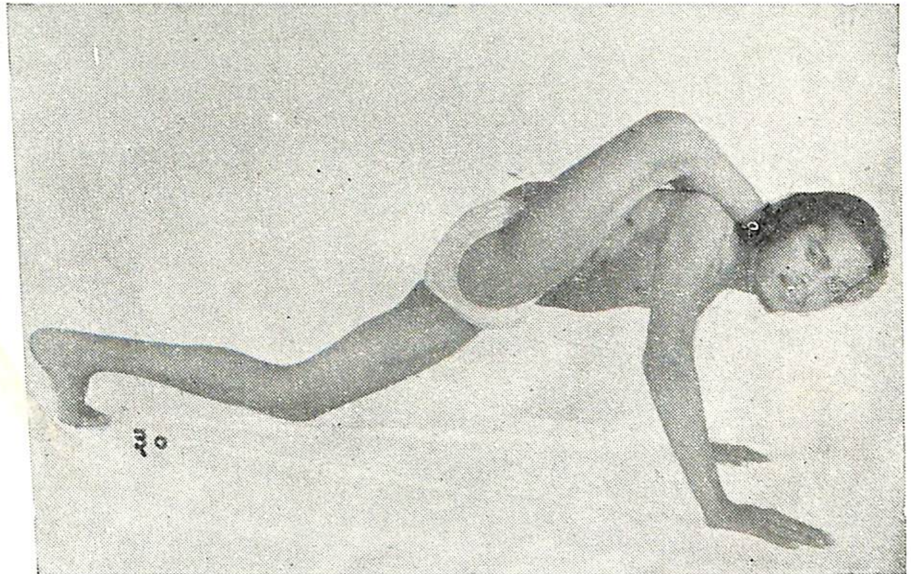
लाभ—इसके ग्रभ्यास से पीठ-कमर-गर्दन-कानों की पुष्टि के साथ बहरापन ग्रौर जिगर-तिल्ली के विकार तथा मन्दाग्नि दूर होती है। उदर ठीक रहता, मेरुदण्ड पुष्ट तथा लचकीला बनता ग्रौर उदर कृश हो जाता है।

(३०) एकपाद ग्रीवा दण्ड-ग्रासन—बैठकर पहले दक्षिण पैर को ग्रीवा के पृष्ठ भाग पर धरें। फिर दोनों हथेलियों को भूमि पर दृढ़ता से जमाकर, वाम-पैर को पीछे ले जाकर एवं तानकर स्थित हो जायँ। फिर कमर को कुछ पीछे करके ऊपर उठाएँ, शिर ग्रौर छाती को झुकाकर ग्रागे—ऊपर को इस प्रकार उठाएँ कि कटि नीचे हो जाय। दोनों हथेलियाँ ग्रौर बायाँ पैर जहाँ के तहाँ जमे रहें। ग्रब इस प्रकार इसी स्थिति में रहते हुए यथाशक्ति दो-चार-छः दण्ड निकालें। इसी प्रकार पैर बदल कर भी करें।

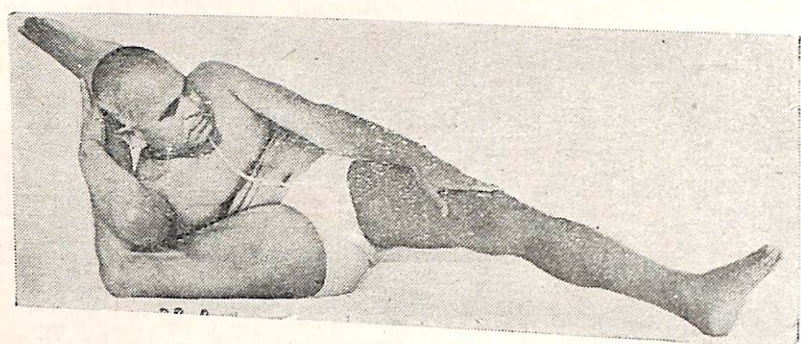
लाभ—इसके ग्रभ्यास से गर्दन-छाती-कन्धे तथा टाँगें बलवान होती हैं। शरीर सुदृढ़, ग्रौर शक्तिशाली बनता है। छाती को विकसित तथा भुजाग्रों को दृढ़ करता है। यह ग्रासन जितना कठिन है उतना ही बल-वर्धक भी है।



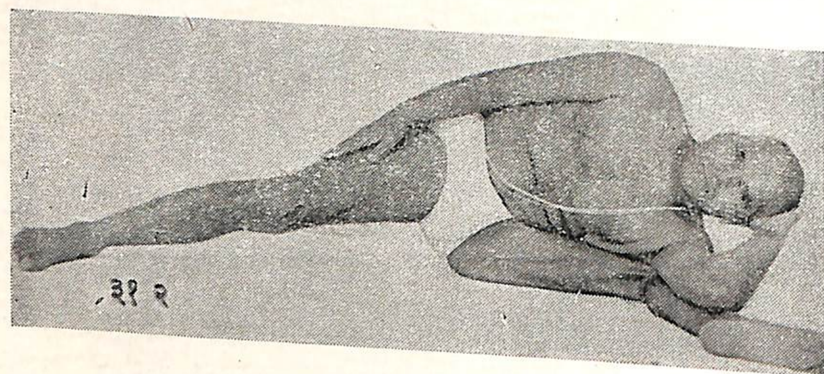
२९
कर्णपीड़-आसन



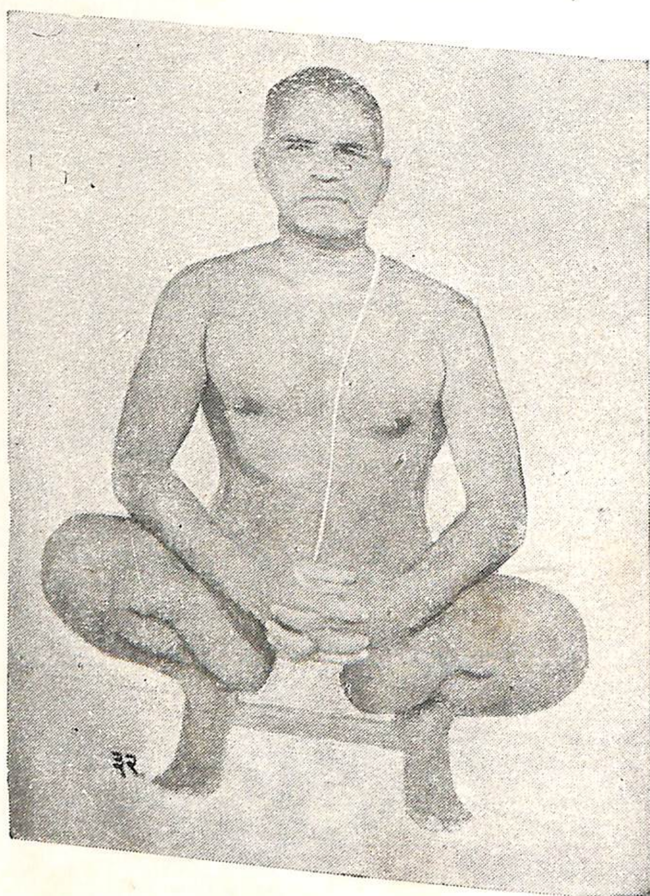
३०
एकपाद-
ग्रीवा-दण्ड-आसन



३१/१
पर्यंक-आसन
(दाईं ओर से)



३१/२
पर्यंक-आसन
(बाईं ओर से)



३२
उत्कट-आसन

(३१) **पर्यंक-आसन**--दोनों पैरों को आगे फैलाकर बैठें। अब दक्षिण पाद को उठाकर शिर के पृष्ठभाग—गर्दन पर दक्षिण-पार्श्व से इस प्रकार ले जायँ कि दक्षिण हाथ की कोहनी भूमि पर टिक जाय। अब हथेली से कनपटी को सहारा दे लें। बाईं टाँग सीधी भूमि पर फैलाकर बायाँ हाथ उसी पर रख लें। इसे हाथ और टाँग को बदल कर दूसरी ओर से भी करें।

लाभ—इस आसन से उदर-पृष्ठ-हृदय प्रदेश, तथा आँतों की शुद्धि और पुष्टि भी होती है। योगी इसे विश्राम तथा स्वर बदलने के लिए प्रयुक्त करते हैं।

(३२) **उत्कट-आसन**—भूमि पर दोनों पैरों के सहारे ऐसे बैठें जैसे शौच (टट्टी करने) के लिए बैठते हैं। फिर पंजों पर भार डाल कर एड़ियाँ ऊँची उठाकर इन पर दोनों नितम्ब टिका कर सावधानी से बैठ जायँ।

उपयोग—जल में इसी प्रकार बैठकर प्रश्वास को बाहर फेंक दें। गुदामें पतली-सी नलकी लगाकर नौलि करें। और गुदा की ओर वायु को आकर्षित करने से जल इस मार्ग से आँतों में आने लगता है। अभ्यास हो जाने पर फिर अंगुलि के सहारे से जल भरने लगता है। नौलि करके फिर जल को गुदा-द्वार से निकाल देने से यह 'बस्ति' हो जाती है। अच्छा अभ्यास हो जाने पर फिर बिना किसी सहारे के नौलि करने से ही जल गुदा-द्वार से चढ़ आता है।

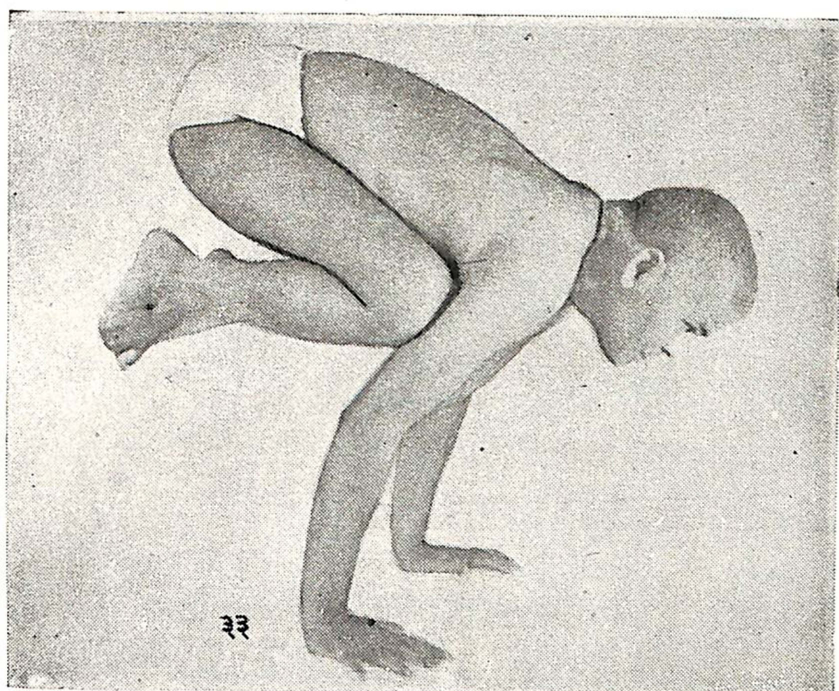
इसी प्रकार बैठकर कैथेटर को मूत्रनलि में डालकर जल इत्यादि को मसाने में खींचा जाता है, और वज्रोलि भी इसी आसन से बैठकर की जाती है।

(३३) **वक-आसन**—प्रथम सीधे खड़े हों। अब आगे को झुककर दोनों हथेलियों को पैरों के सामने भूमि पर दृढ़ता से टिका दें। फिर कोहनियों को थोड़ा झुकाकर इनके ऊपरी भाग पर दोनों घुटनों को मोड़कर दृढ़ता से जमा दें। पैर उठकर कोहनियों के सामने-नितम्बों की ओर आ जायँ। अब हथेलियों पर सम्पूर्ण शरीर को तोलकर रक्खें। श्वास-प्रश्वास की गति सामान्य रूप से रहे तथा इस स्थिति को यथाशक्ति बढ़ा लें।

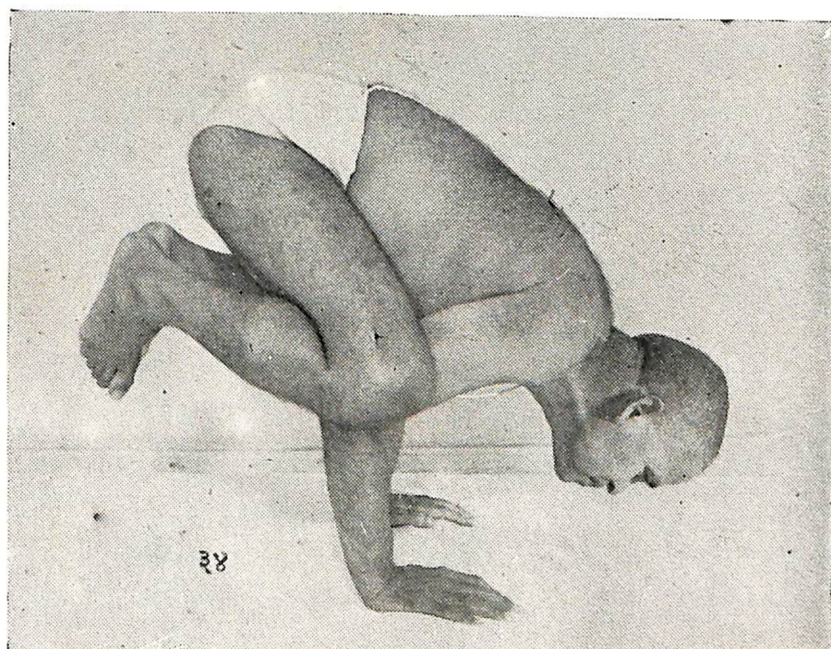
लाभ—यह आसन भुजाओं की माँसपेशियों और नस-नाड़ियों को सुगठित तथा दृढ़ बनाता है एवं छाती को सुदृढ़ और पुष्ट करता है।

(३४) **हंस-आसन**—दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर दृढ़ता से जमा लें और उकड़ूँ होकर बैठें। अब दोनों घुटनों से दोनों कोहनियों को बाहर की ओर से दबालें और हाथों पर सम्पूर्ण शरीर को तोल कर हंस जैसी आकृति बना लें। इसके पश्चात् ग्रीवा को आगे बढ़ा और झुकाकर नासिका को भूमि से लगा दें। नासिका द्वारा भूमि को पुनः-पुनः स्पर्श करें।

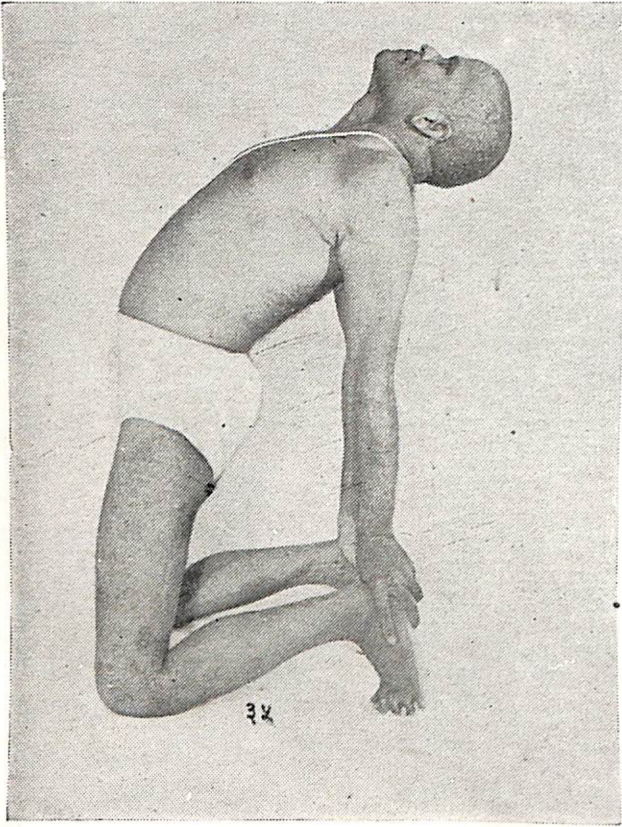
लाभ—इसके अभ्यास से भोजन में हुई अरुचि, मन्दाग्नि, भूख की कमी नहीं रहती; बढ़ा हुआ तालु ठीक हो जाता है। अन्य लाभ 'काक-आसन' के समान होते हैं।



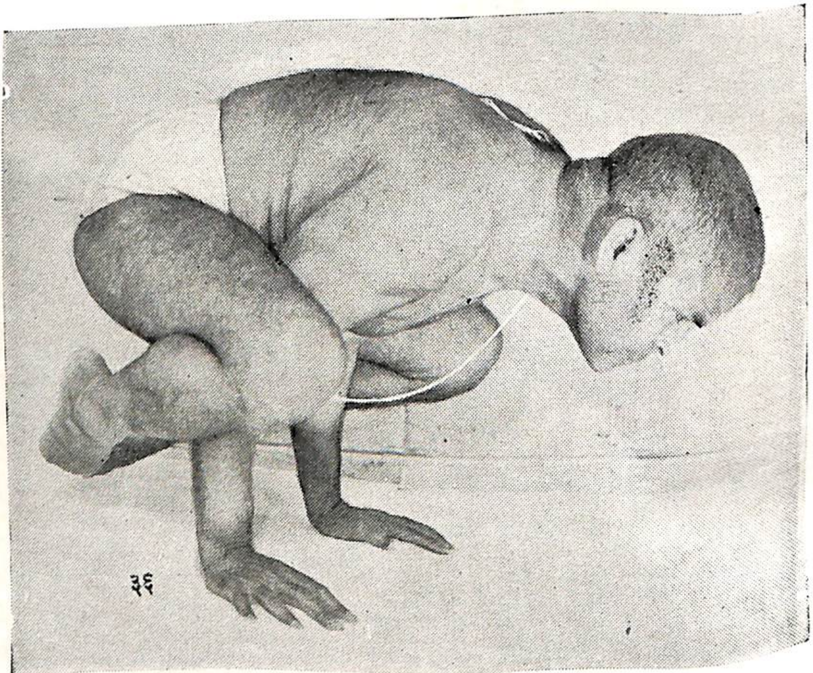
३३
बक-आसन



३४
हंस-आसन



३५
उष्ट्र-आसन



३६
काक-आसन

(३५) **उष्ट्र-आसन**—दोनों टाँगों के घुटनों को मोड़कर उन पर खड़े हों, पाँव पीठ की ओर मोड़कर फैला लें। अब पीछे की ओर झुककर दोनों हाथों को पीछे ले जाकर दोनों पैरों की एड़ियाँ पकड़ लें और मुख को आकाश की ओर करके ठहर जाएँ, स्थिर रहें। तत्पश्चात् आगे को झुककर पीठ मोड़कर मुख से भूमि का स्पर्श करके पूर्व-स्थिति में आ जायँ। पूरक करके कुम्भक रखते हुए भी इस आसन का अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ—इनके करने से ग्रीवा दृढ़, कटि और उदर की स्थूलता नष्ट होकर दृढ़ता तथा लचकीलापन आ जाता है। त्रिदोष नाशक है, पाचनशक्ति की वृद्धि होंकर उदर-विकार नहीं होते और पसलियों को दृढ़ बनाता है।

(३६) **काक-आसन**—पूर्व कहे उत्कट-आसन पर बैठकर दोनों हाथों की हथेलियाँ भूमि पर दृढ़ता से जमा दें। इसके पश्चात् दोनों जँघा-मूलों को दोनों कोहनियों पर रखकर कुछ कुम्भक करके पैरों को घुटनों से पीछे की ओर मोड़कर शरीर को कोहनियों पर तौल दें।

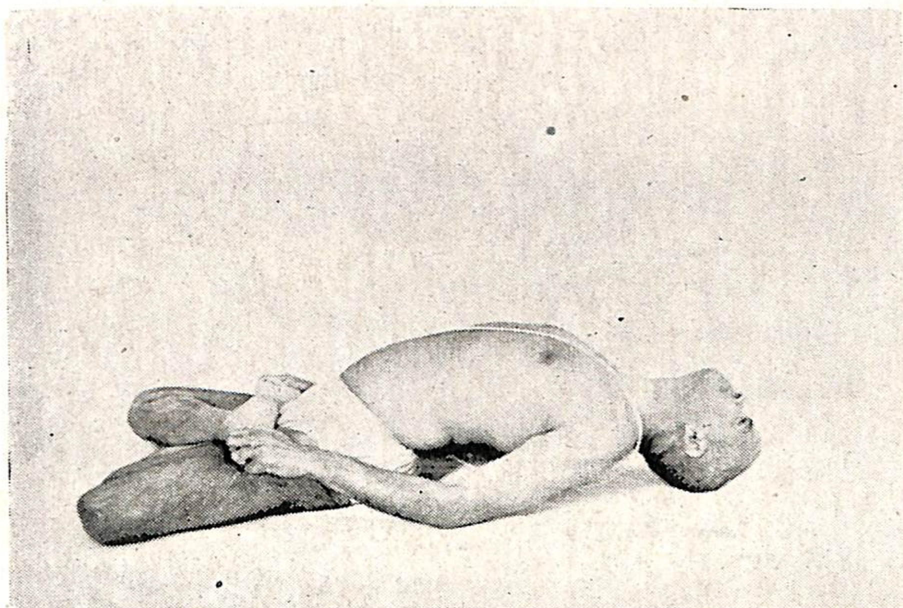
लाभ—इसके लाभ 'हंस-आसन' के समान ही हैं।

(३७) **मत्स्य-आसन**--पद्मासन लगाकर पीठ के सहारे लेट जायँ। शिर तथा पद्मासनबद्ध भाग भूमि से लगा रहे और कटि-भाग भूमि से कुछ उठा रहे। अब दोनों हाथों से पैरों के अँगूठे पकड़ कर इसी स्थिति में कुछ देर रहें। अथवा दोनों कोहनियाँ परस्पर हाथों से पकड़कर शिर के नीचे रख लें। हाथों की इन दोनों स्थितियों में यह आसन कर सकते हैं।

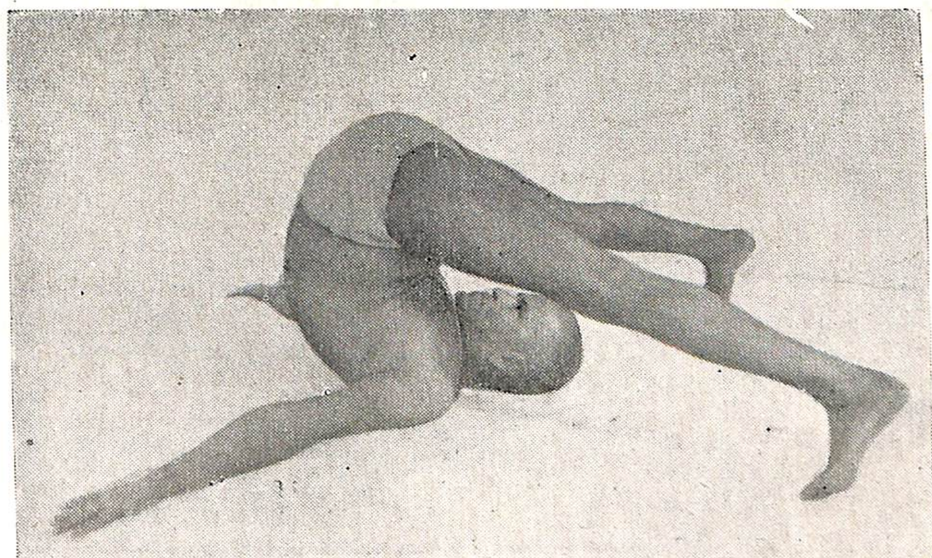
लाभ—यह उदर सम्बन्धी विकारों को दूर करके धड़ तथा टाँगों को पुष्ट बनाता है।

(३८) **लता-आसन**--भूमि पर पीठ के सहारे लेट जायँ। अब दोनों पैरों को उठाकर हलासन के समान आकृति बनाते हुए, जहाँ तक हो सके पैरों को दाएँ-बाएँ फैला दें। इसके पश्चात दोनों हाथों को भी दाएँ-बाएँ फैला दें—दोनों भुजाएँ भूमि से सटी रहें। जितना अन्तर पैरों की चौड़ाई में हो उतना ही अन्तर हाथों की चौड़ाई में भी होना चाहिए।

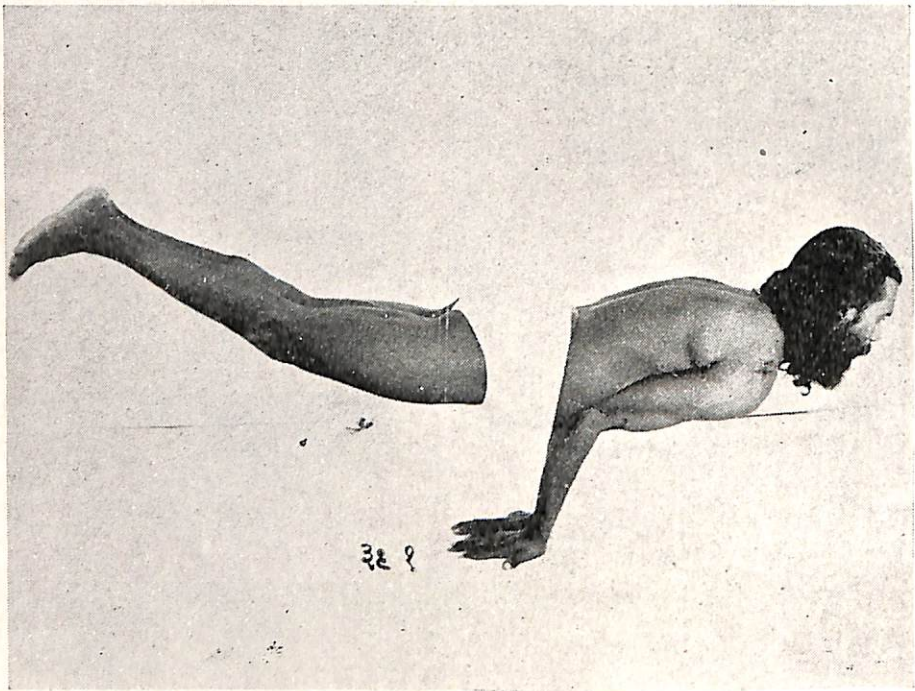
लाभ—इसके अभ्यास से रक्तवाहिनी नाड़ियाँ और अँतड़ियाँ शुद्ध और बलवान हो जाती हैं। चर्मरोग, नाक,मुख, कान, नेत्र के विकार दूर होते हैं। पीठ, कमर लचकीली हो जाती है और भूख अच्छी लगती है।



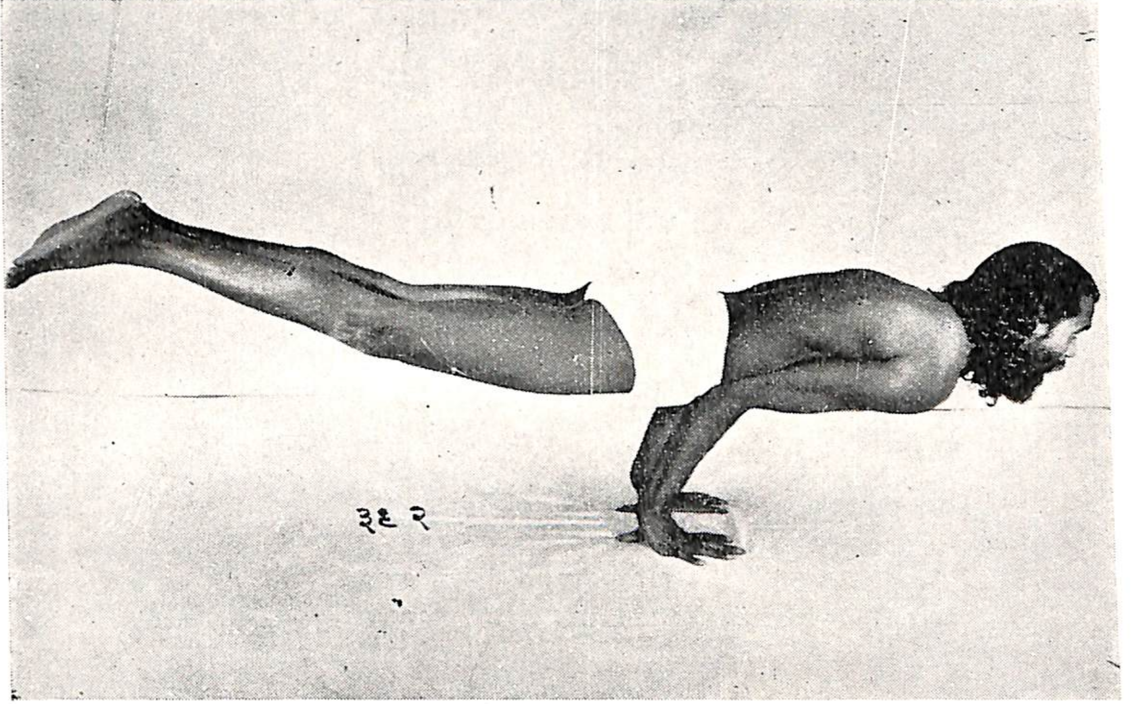
३७
मत्स्य-ग्रासन



३८
लता-ग्रासन

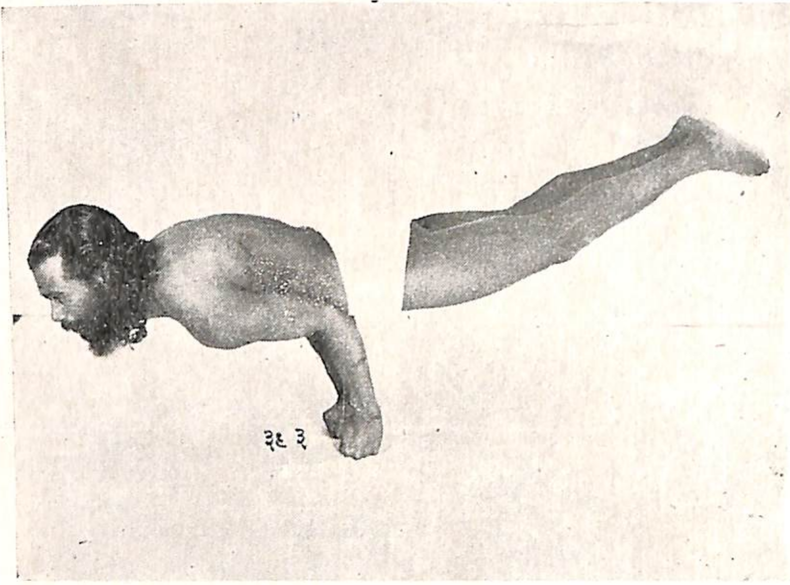


३६/१
मयूर-आसन (पहली विधि)

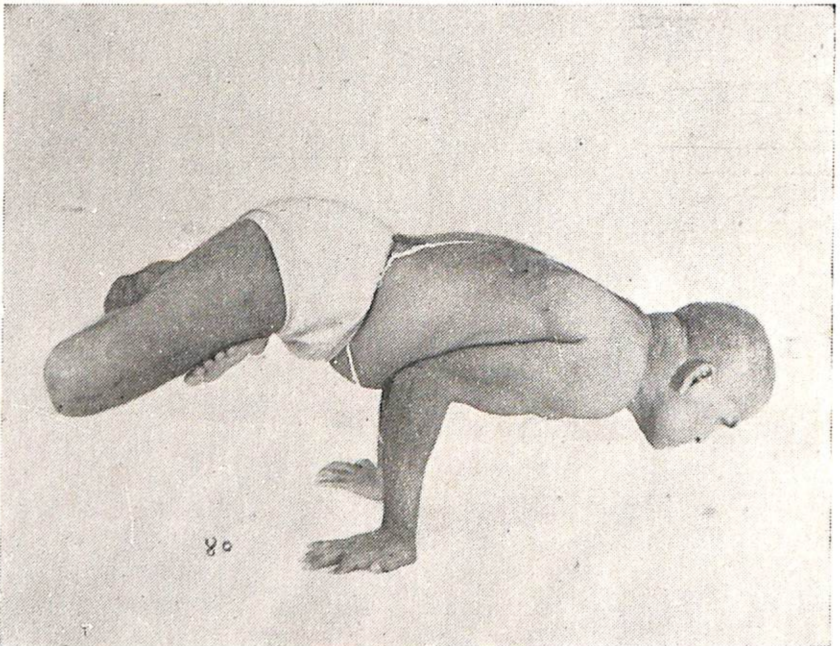


३९/२

मयूर आसन (दूसरी विधि)



३९/३
मयूर-आसन
(तीसरी विधि)



४०
मयूरी-आसन

(३९) मयूर-आसन––दोनों हाथों के पंजों को भूमि पर दृढ़ता से टेक दें। अब कोहनियों को मिलाकर, इन पर पेट (नाभि) को टेककर, पूरक करके, पैरों को पीछे और शिर को आगे बढ़ाकर शरीर को संतुलित कर दें—शरीर लगभग दण्ड के समान सीधा रहे। अब कुम्भक रखते हुए इस स्थिति में यथाशक्ति स्थिर रहें। अपनी सामर्थ्य के अनुसार इसी स्थिति में रहने का अभ्यास बढ़ाते रहें।

लाभ––हठयोग प्रदीपिका में ये लाभ कहे हैं: गुल्म, जलोद, उदर-वात, वात-पित्त-कफ के विकार शीघ्र दूर हो जाते हैं। तिल्ली और जिगर एवं उदर की अनुचित वृद्धि रुक जाती है। पाचनशक्ति, गुर्दों की कार्यशक्ति बढ़ती है। शरीर में रक्त-संचार बढ़ने से रक्त-शुद्धि के द्वारा शरीर में तेज, कान्ति, लावण्यता आ जाती है। नवयौवन-सा बना रहने से मनुष्य दीर्घायु होता है।

२. **दूसरी विधि**––वज्रासन से बैठकर, घुटनों को चौड़ा करके दोनों हाथों के पंजों को आगे भूमि पर इस प्रकार स्थापित करें कि अँगुलियाँ खुलकर आगे की ओर हो जायँ। तत्पश्चात् दोनों कोहनियों के ऊपर नाभि-प्रदेश को टिकाकर हाथों के बल पर सम्पूर्ण शरीर को पूर्वोक्त मयूरासन के समान ऊपर संतुलित कर दें।

३. **तीसरी विधि**––घुटनों के बल बैठकर, हाथों की मुट्ठियाँ बाँधकर, सामने भूमि पर दृढ़ता से टिका लें। उसके पश्चात् दोनों कोहनियों पर नाभि रख कर मुट्ठियों पर समस्त शरीर को मयूरासन के समान तौल लें।

इनके लाभ मयूरासन के समान हैं।

(४०) मयूरी-आसन—यह आसन मयूरासन का ही रूपान्तर है। थोड़ा-सा अन्तर होने से इसका नाम 'मयूरी' हो गया है। पद्मासन लगाकर शेष विधि मयूरासन के समान ही की जाती है। मयूरासन में पाँव पसारे जाते हैं, इसमें पद्मासन के समान बँध जाने से पूँछ छोटी हो जाती है, शेष वही कुछ है।

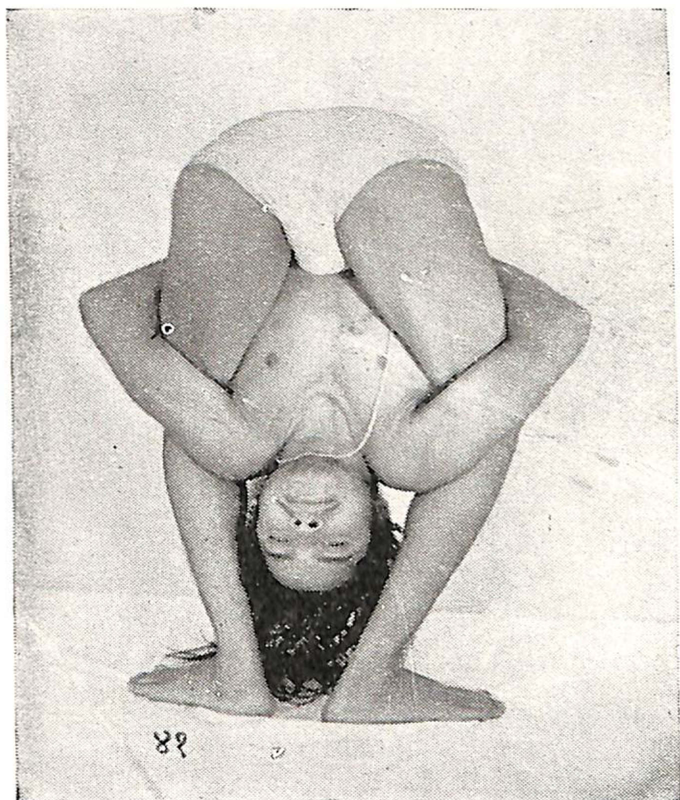
लाभ—इसके लाभ भी मयूरासन के समान हैं। उदर पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(४१) **कल्याण-आसन**—खड़े होकर दोनों पैरों को मिलायें। एड़ियाँ मिलाकर पंजे चौड़े कर लें और आगे को झुक कर दोनों हाथों को दोनों टाँगों के मध्य से निकाल कर, बाहर को मोड़ कर, घुमाकर, कमर पर ले जाकर, दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर गूँथ कर, शिर को भी दोनों टाँगों के मध्य से निकाल कर खड़े रहें। थकने पर हाथ-पैर खोल कर पुनः-पुनः करें, श्वास-प्रश्वास की गति समान रहे।

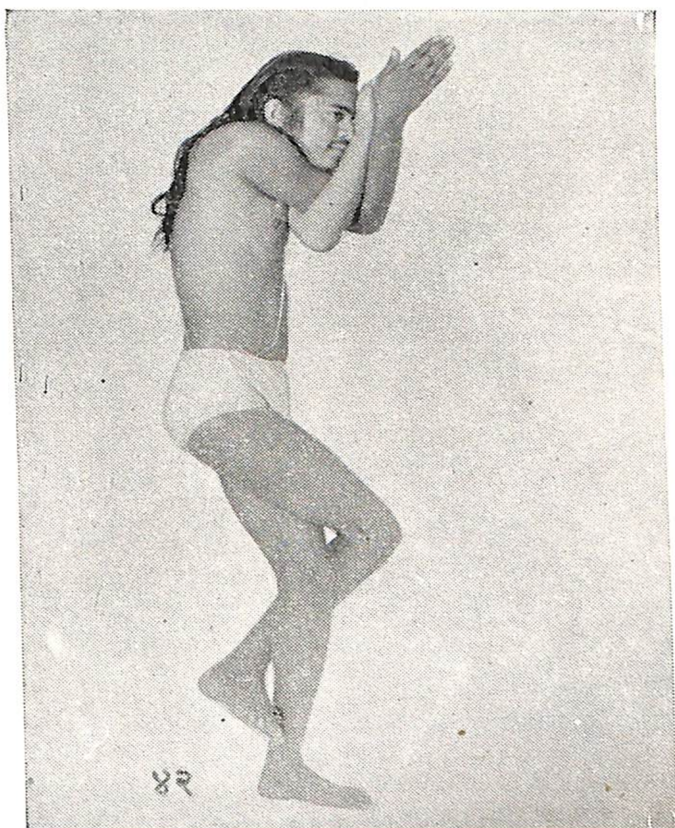
लाभ—उदर-विकारों से पीड़ित रहनेवालों के लिए अत्युत्तम है। इसके निरन्तर अभ्यास से उदर-विकार जाते रहते हैं, और भविष्य में नहीं होते। मन्दाग्नि नष्ट होकर जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, उदर में वायु संचित होकर कुपित नहीं होती, रक्त-विकार भी नहीं होता, शरीर स्वस्थ्य, स्फूर्तियुक्त (चुस्त) पराक्रम-युक्त बना रहता है।

(४२) **गरुड़-आसन**—सीधे खड़े होकर, वाम पाद को सीधा रखते हुए दक्षिण-पैर लपेट लें। पश्चात् दोनों भुजाओं को परस्पर लपेट कर दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर मिला लें अथवा बाँध लें। एक पैर पर खड़े रह कर मणि-बंधों (कलाइयों) को नासाग्र पर रखकर गरुड़ की चँचु के समान आकार बनाकर यथा-शक्ति खड़े रहें। यही गरुड़ासन होता है।

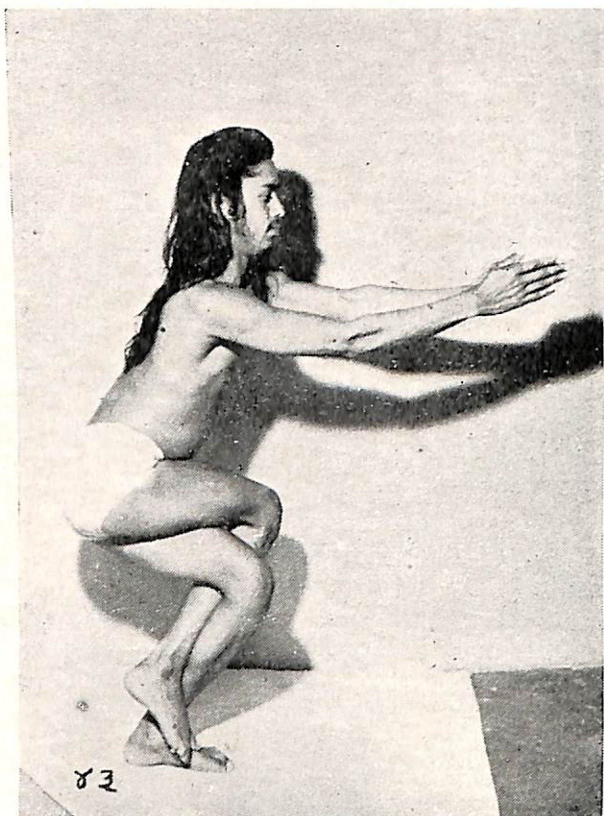
लाभ—इसके अभ्यास से भुजा तथा पैरों की नस-नाड़ियाँ, स्नायु, माँस-पेशियाँ पुष्ट तथा अस्थियाँ दृढ़ बनती हैं। अण्डकोष-वृद्धि का विकार नष्ट होता है।



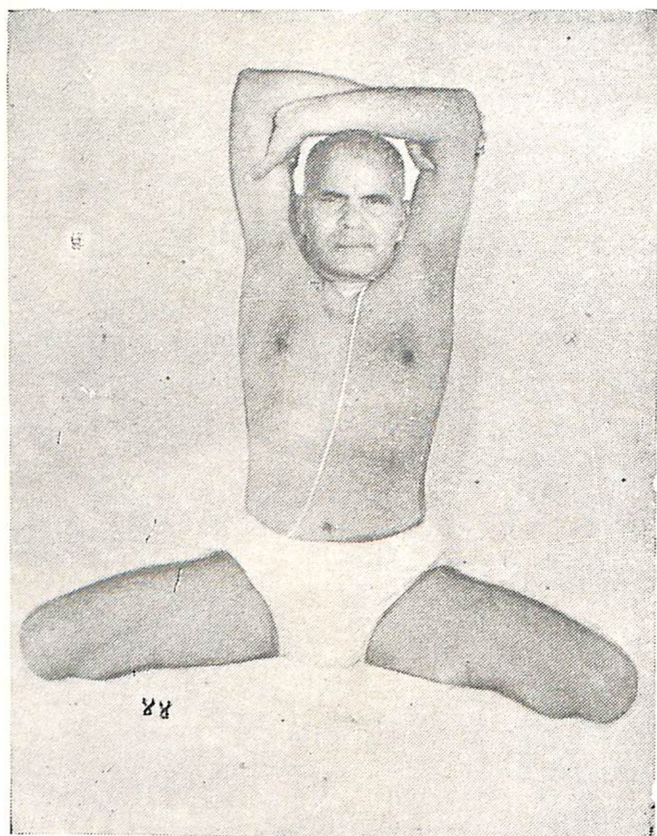
४१
कल्याण-आसन



४२
गरुड़-आसन



४३
संकट-ग्रासन



४४
उत्तान-मण्डूक-ग्रासन

(४३) **संकट-आसन**—सीधे खड़े होकर वाम-पाद को दक्षिण-पाद से लपेट कर गरुड़ासन के समान खड़े हो जायँ; पश्चात् दोनों भुजाओं को सामने की ओर पसार कर हाथों को मिला कर ताने रहें और वाम-घुटने को झुकाकर इस पर आधा बैठें। ध्यान रहे, नितम्ब पैरों से ऊपर रहें। इसे पैर बदल कर भी करें।

लाभ—गरुड़ासन के समान सर्वांग सुदृढ़ बनते हैं।

(४४) **उत्तान-मण्डूक-आसन**—दोनों घुटनों को मोड़ कर पैर पीछे को मोड़ लें। अब दोनों घुटनों को इतना फैलाएँ कि पैरों के अँगूठे परस्पर मिल जायँ। अब दोनों भुजाओं को सिर पर ले जाकर ऐसे बाँधें कि दक्षिण हस्त से बाईं-कोहनी और वाम-हस्त से दाईं कोहनी पकड़ी जा सके। पूरक करें और कुम्भक रख कर, छाती तानकर, दृष्टि आकाश की ओर रखते हुए खड़े रहें।

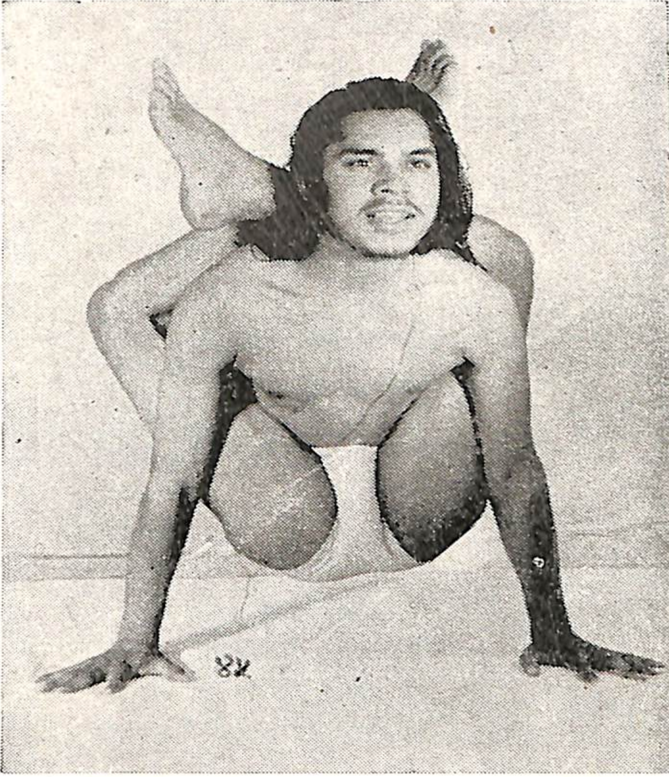
लाभ—इस आसन में स्थित होकर कुम्भक साधने से फुफ्फुसों की शक्ति बढ़ती है, रक्त विशेष रूप से शुद्ध होता है, प्राण पर वश होता है।

(४५) उत्थित-द्विपाद-ग्रीवा ग्रासन—नितम्बों पर बैठकर, एक पैर को उठाकर गर्दन पर दृढ़ता से बैठा लें। ग्रब दूसरा पैर भी उठाकर इसी पैर पर जमा लें ग्रौर पैरों के पंजों को परस्पर बाँध लें। ग्रब पूरक करते हुए दोनों भुजाग्रों को ग्रकड़ा कर हथेलियों के बल उठ कर शरीर को तौल लें। यथाशक्ति खड़े रहकर, पैरों को खोलकर, थोड़ा विश्राम लेकर फिर एक-दो बार करें।

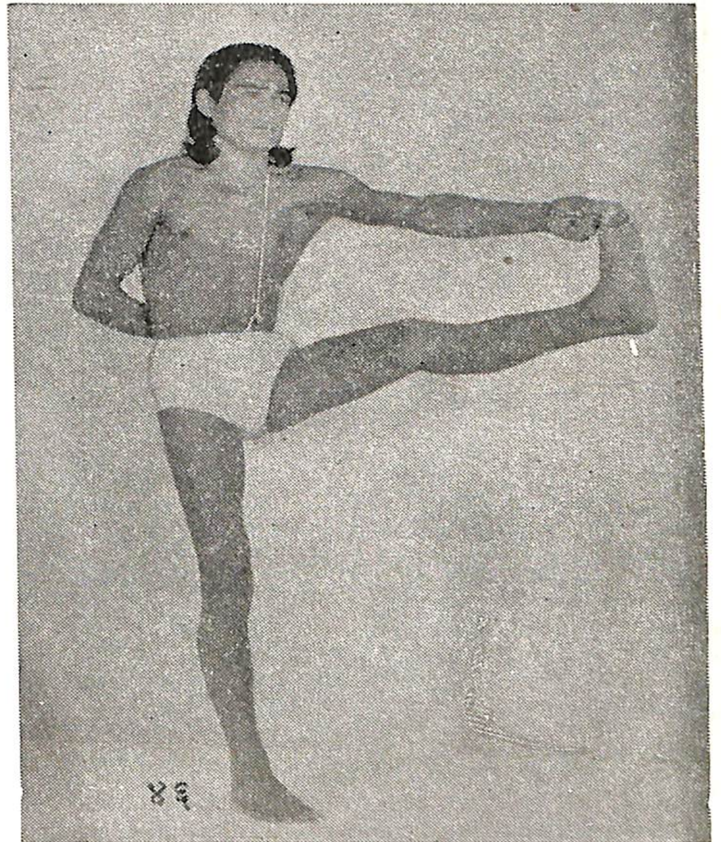
लाभ—इसके ग्रभ्यास से ग्रीवा, कटि, उदर, जाँघें, पंजे, भुजाएँ सुदृढ़ तथा शक्तिशाली ग्रौर लचकीली बनती हैं। प्राण बलवान ग्रौर देह सदा नीरोग तथा स्वस्थ रहती है।

(४६) उत्थित-एकपाद-हस्त ग्रासन—सीधे खड़े होकर पैरों को मिला लें। ग्रब बाईं टाँग सामने को फैलाकर पैर का ग्रँगूठा वाम हस्त से पकड़ कर पूरक करते हुए हाथ ग्रौर टाँग को तान दें। दक्षिण हाथ दक्षिण जाँघ पर रहे। इसी प्रकार दूसरी टाँग ग्रौर हाथ से करें।

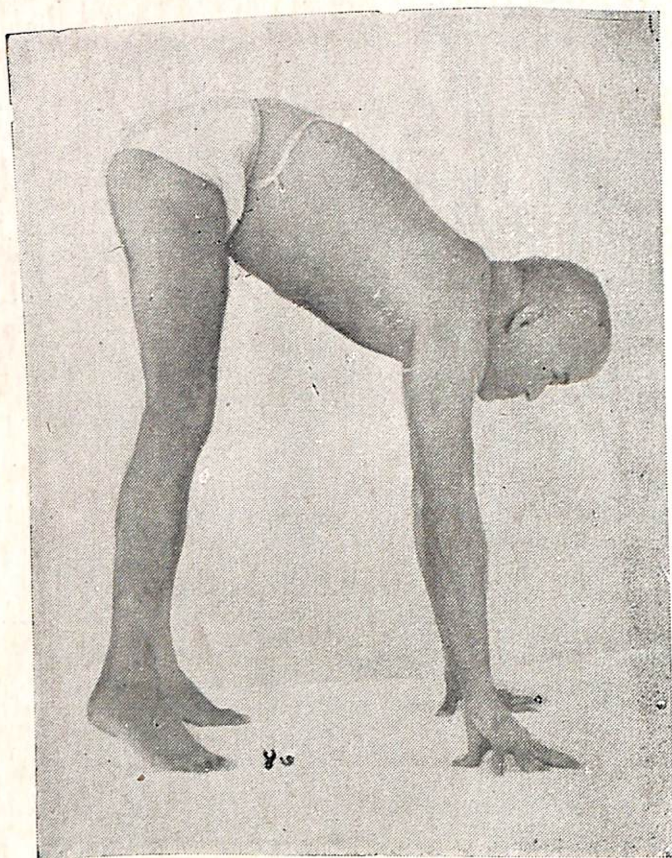
लाभ—इसके ग्रभ्यास से कटि ग्रौर जानु दृढ़ होते हैं।



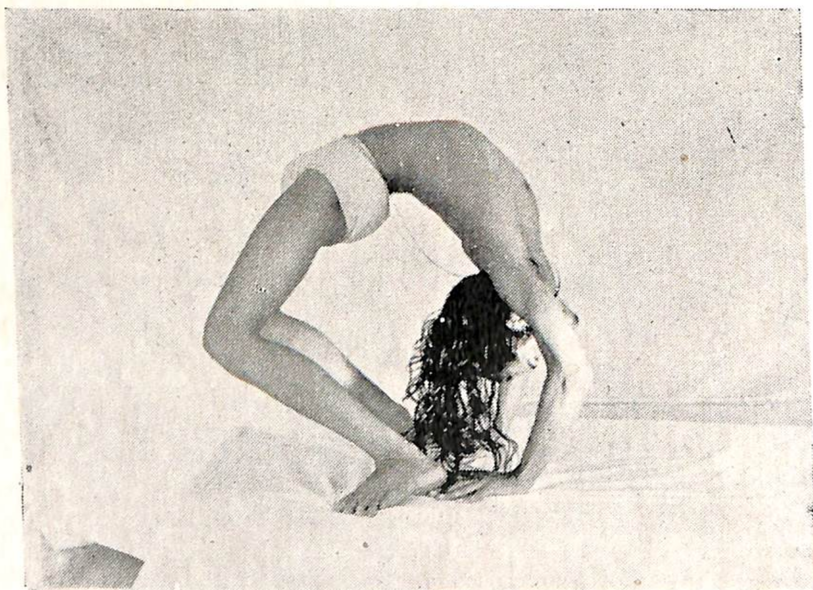
४५
उत्थितद्विपाद-ग्रीवा-ग्रासन



४६
उत्थित-एकपाद-हस्त-ग्रासन



४७
शुतरमुर्ग-आसन



४८
चक्र-आसन

(४७) **शुतरमुर्ग़-आसन**—सीधे खड़े होकर कटि से ऊर्ध्व भाग को आगे झुकाकर दोनों हथेलियाँ भूमि पर दृढ़ता से टेक कर और टाँगों को सीधा अकड़ाकर कटि तथा नितम्बों को ऊपर की ओर तानकर सम्पूर्ण शरीर का भार हाथ और पैर के पंजों पर डालते हुए हाथ-पैरों से इधर-उधर चलें-फिरें।

लाभ—यह आसन कटि, उदर, टाँगों को पुष्ट करता है। समस्त देह को स्फूर्ति देता है।

(४८) **चक्र-आसन**—(१)—भूमि पर सीधे लेटकर घुटनों से दोनों टाँगों को मोड़कर नितम्बों के समीप खड़ा करें। अब दोनों हाथों के पंजों को शिर की ओर ले जाकर और भूमि पर टेक कर हाथ-पैरों का आधार लेकर पीठ, छाती, कटि को ऊपर उठाते हुए हाथ-पैरों को इतना समीप लाने का प्रयत्न करें कि शरीर मुड़कर गोल चक्राकार बन जाए।

(२)—**इसे इस प्रकार भी किया जा सकता**—सीधे खड़े होकर दोनों हाथों को ऊपर उठाकर पीछे को मोड़ते हुए धीरे-धीरे इतना झुकते चलें जिससे कि हथेलियाँ भूमि पर टिक जाएँ। अब हथेलियों को पैरों की ओर बढ़ाते हुए शरीर की गोल आकृति बनाने का प्रयत्न करें।

लाभ—स्पष्ट है इससे छाती, पीठ, उदर, कटि, ग्रीवा, भुजाएँ, हाथ, टाँगें, घुटने, पैर ये सभी अङ्ग बलिष्ठ और लचकीले होने लगते हैं। वृद्धावस्था में भी कमर न झुकेगी। शिर, ग्रीवा, हाथों के कम्पन का रोग नहीं होगा। स्वास्थ्य अच्छा रहेगा।

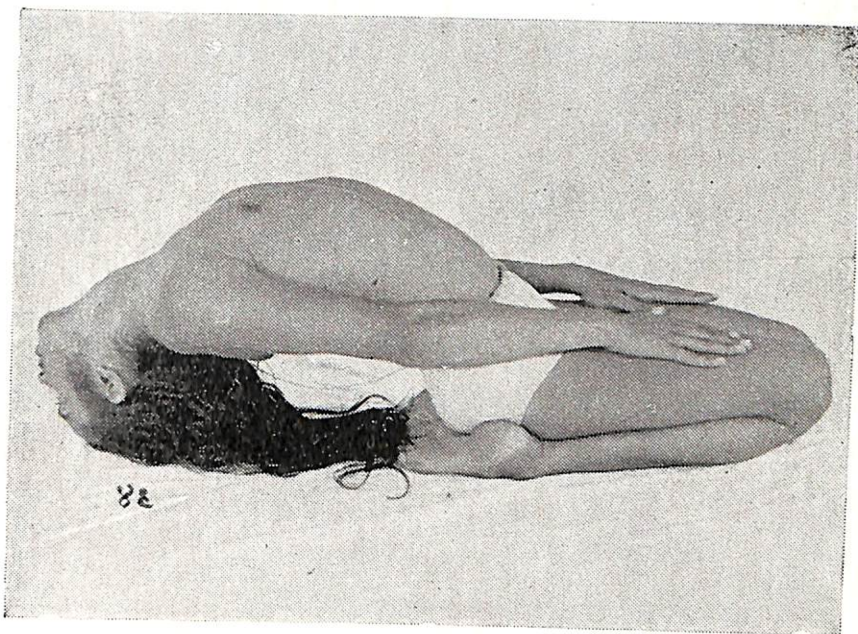
(४९) सुप्त-वज्रासन—(१)—घुटनों को मोड़कर और पैरों को पीछे रखकर इस प्रकार बैठें कि दोनों एड़ियाँ मिलकर गुदा-द्वार के नीचे आजाएँ और तलवे ऊपर को होकर पंजों की अँगुलियाँ बाहर को रहें। पश्चात् पूरक करके पीठ के भार लेटे रहें, शिर भूमि पर टिका दें, कुछ देर तक कुम्भक रखते हुए जाँघों पर हाथ रख कर लेटे रहें, फिर रेचक करके बैठ जाएँ। इसी प्रकार २–४ बार करते हुए ५–७ बार तक बढ़ा लें।

(२)—यदि क्रिया कठिन प्रतीत हो तो एड़ियाँ गुदा के नीचे न रखकर नितम्बों के समीप रख लें। पहले इसी प्रकार अभ्यास करें, फिर ऊपर की क्रिया का अभ्यास करें।

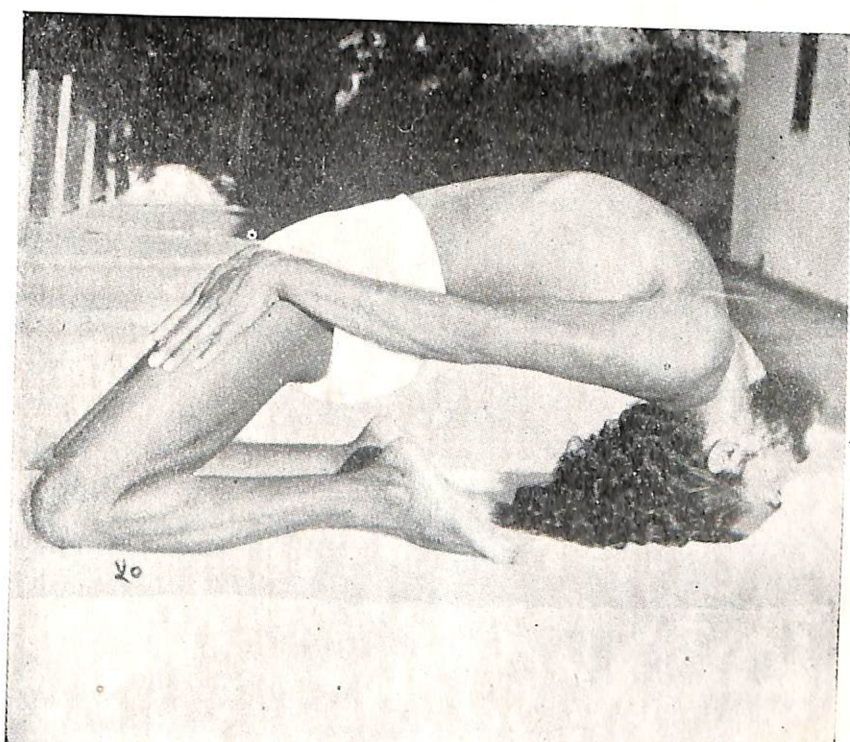
लाभ—इसके अभ्यास से पैरों के पंजे, घुटने, जंघाएँ, कटि, उदर, पीठ, ग्रीवा पुष्ट और स्वस्थ बनते हैं।

(५०) पूर्ण सुप्त-वज्रासन—घुटनों को मोड़कर, पैरों को मिलाकर पीछे रखते हुए घुटनों के बल खड़े हों। अब हाथों को जंघा-मूल (रानों) पर जमाकर पूरक करके कुम्भक रखते हुए पीछे को धीरे-धीरे मुड़ते हुए लेट जाएँ। शिर को भूमि पर टेककर छाती तथा पीठ और कमर को ऊपर और कुम्भक रखते हुए कुछ देर इसी स्थिति में रह कर उठ बैठें और शनैः-शनैः रेचक कर दें। दो-चार बार करके आगे अभ्यास बढ़ा लें।

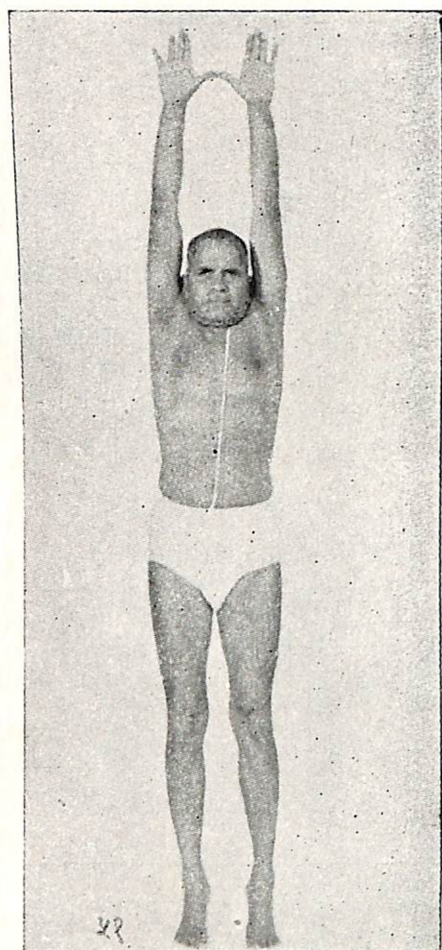
लाभ—उदर का मेद छँट जाता है। कटि, जांघें, जानु लचकीले हो जाते हैं। कटि-पीड़ा नहीं होती, शरीर सुडौल, स्वस्थ रहता है। टांगों के स्नायु पुष्ट-दृढ़ हो जाते हैं, श्वास-रोग की निवृत्ति होती है।



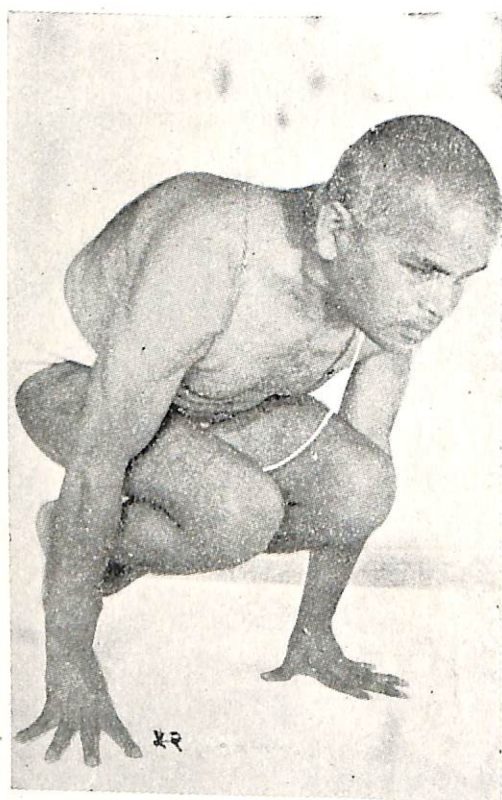
४६
सुप्त-वज्र-आसन



५०
पूर्ण सुप्त-वज्र-आसन



५१
ताड़-आसन



५२
शुक-आसन

(५१) **ताड़-ग्रासन**—पैर मिलाकर सीधे तन कर खड़े हो जाएँ। ग्रब पूरक करके उदर को वायु से भर कर कुम्भक कर लें, ग्रौर दोनों भुजाग्रों को हाथ खोल कर ग्राशा की ग्रोर तान कर, पैरों के ग्रँगूठे ग्रौर ग्रँगुलियों पर समस्त शरीर को तौले रखकर इधर-उधर चलें-फिरें। भुजाग्रों सहित सारा शरीर तना रहे। यदि बच्चों को निरन्तर कराया जाए तो शरीर की लम्बाई बढ़ने लगेगी।

लाभ—इसका विशेष लाभ लम्बाई बढ़ाने का है।

(५२) **शुक-ग्रासन**—दोनों पैरों की एड़ियाँ परस्पर मिला कर पैरों के पंजों पर उकड़ूँ-उत्कट ग्रासनवत् बैठें। तदुपरान्त दोनों हाथों की ग्रँगुलियाँ खोलकर भूमि पर जमा दें। ग्रब पूरक करके कुम्भक करें ग्रौर हाथ की ग्रँगुलियों पर शरीर को इस प्रकार तौल दें कि तोते जैसी शरीर की ग्राकृति बन जाए। कुछ देर ठहर कर फिर-फिर करें।

लाभ—भुजाग्रों, हाथ के पंजों की पेशियाँ दृढ़, बलिष्ठ एवं पुष्ट होती हैं।

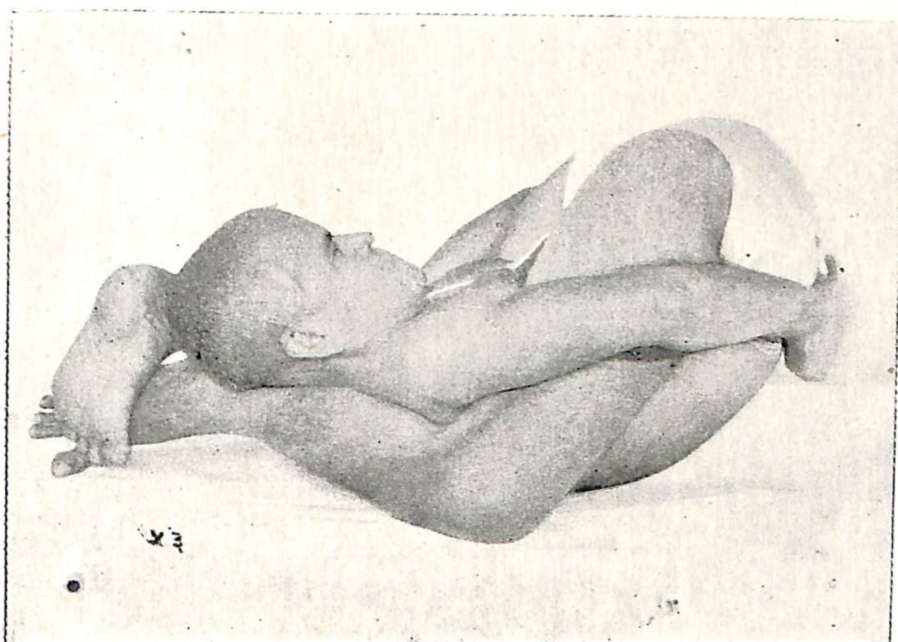
(५३) **गर्भासन**—सर्वप्रथम पीठ के सहारे पृथिवी पर लेटें। अब दोनों पैरों को ग्रीवा की ओर ले जाकर, ग्रीवा को थोड़ा उठाकर, दोनों पैरों को ग्रीवा पर रख कर दृढ़ता से टिका दें। और दोनों हाथों को जंघाओं के ऊपर से ले जाकर कटि-प्रदेश पर दबाव देकर कमर के नीचे हाथों को ले जाकर अँगुलियों को परस्पर बाँध लें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहें; श्वास-प्रश्वास की गति साधारण रहे।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से समस्त देह में लचकीलापन एवं दृढ़ता आती है; शरीर और प्राण पर अधिकार होता जाता है।

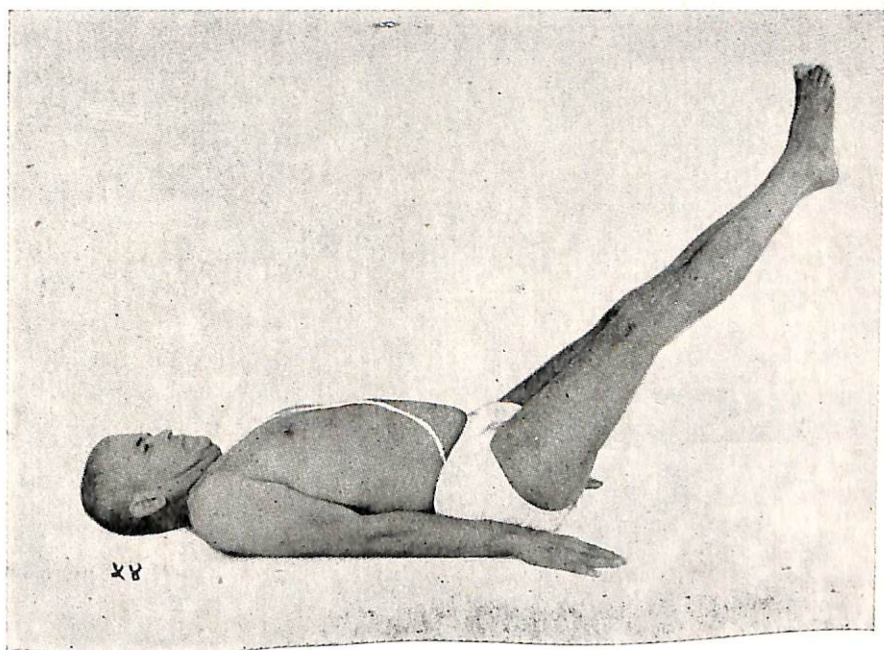
(कश्मीर के हार्वन प्रदेश में रहते समय मैं दो-दो घण्टे इसी आसन में स्थित रह कर गायत्री-जप करता था।)

(५४) **उत्तान-पाद-आसन**—पीठ के बल भूमि पर लेटें। अब दोनों हथेलियाँ जाँघों के दोनों ओर भूमि पर स्थापित करें। फिर दोनों पैरों को लगभग दो हाथ भूमि से ऊँचा उठाकर पैरों को मिलाकर सीधा तान दें। दृष्टि सामने पैरों के अँगूठों पर स्थिर रखें।

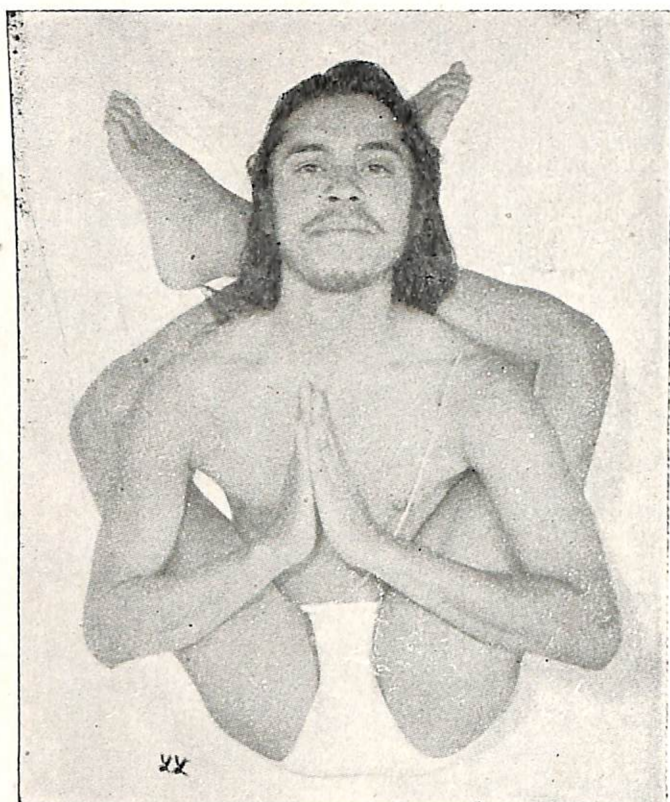
लाभ—सर्वांग आसन के समान ही इसके भी लाभ हैं।



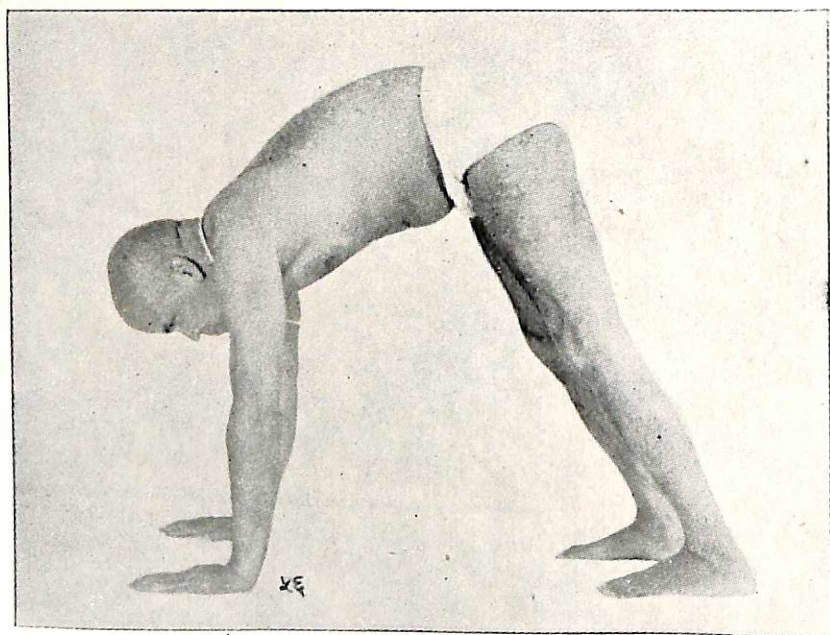
५३
गर्भ-आसन



५४
उत्तानपाद-
आसन



५५
द्विपाद ग्रीवा-आसन



५६
गज-आसन

(५५) द्विपाद-ग्रीवा आसन—दोनों पैरों को आगे फैलाकर बैठें। अब दोनों हाथों की सहायता से क्रमशः दक्षिण और वाम-पाद को धीरे-धीरे ग्रीवा के पृष्ठभाग की ओर ले जाकर गर्दन पर परस्पर एक दूसरे पर रख कर बांध लें, और नितम्बों के सहारे बैठकर हथेलियों को परस्पर मिलादें।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से टाँगों की सन्धियाँ, नस-नाड़ियाँ, कटि, ग्रीवा विशेष रूप से दृढ़ बनते हैं। समस्त देह सुडौल, स्फूर्त, सुन्दर बनती जाती है; पाचनशक्ति की वृद्धि, मेद की न्यूनता और कान्ति की अभिवृद्धि होती है।

(५६) गज-आसन—सीधे खड़े होकर, फिर कटि से आगे को झुककर, दोनों हथेलियों को सामने भूमि पर धरें। टाँगें और भुजाएँ सीधी तनी रहें। इसी स्थिति में इतस्ततः गमनागमन करें।

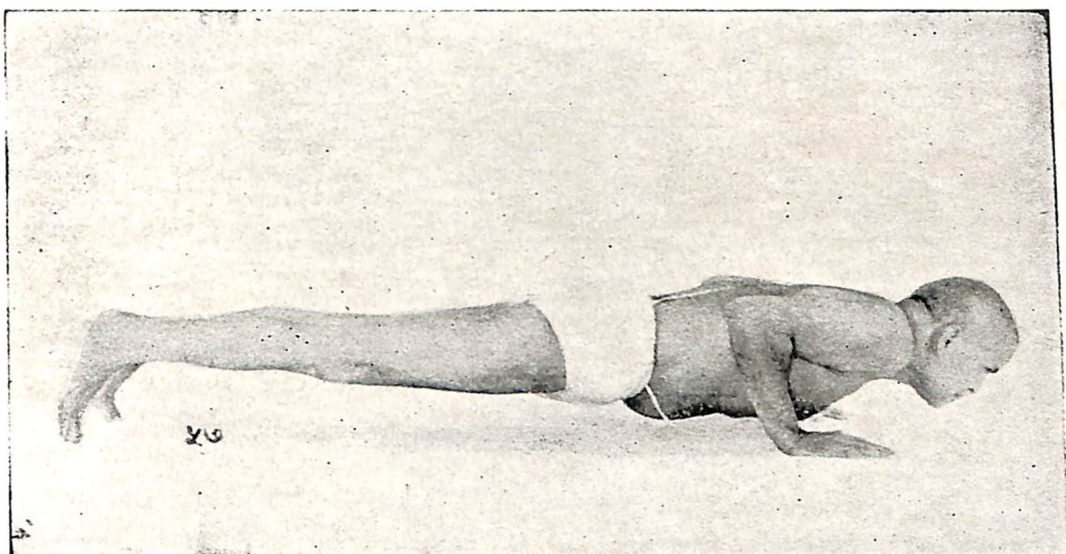
लाभ—यह आसन उदर को आरोग्यता देता है और आमाशय तथा पक्वाशय की शक्ति को बढ़ाता है।

(५७) **मकर-आसन**—पेट के बल पैर फैलाकर लेटें। अब दोनों हाथों को छाती के दाएँ-बाएँ रखकर पूरक प्राणायाम करके, कोहनियों को खड़ा करके हथेलियों पर छाती का, और पेट-कटि-घुटनों को भूमि से उठाकर पैरों के पंजों पर समस्त शरीर का भार डालकर तौल दें। अब छिपकली की भाँति हाथ-पैरों को क्रम से आगे-पीछे रखते हुए अथवा उछल-उछल कर घूमें-फिरें। ध्यान रहे कि हाथ और पैरों के पंजों पर समस्त शरीर एक तख़्ते के समान रहे और भूमि पर दोनों हथेलियाँ और पैरों के पंजे मात्र टिकें।

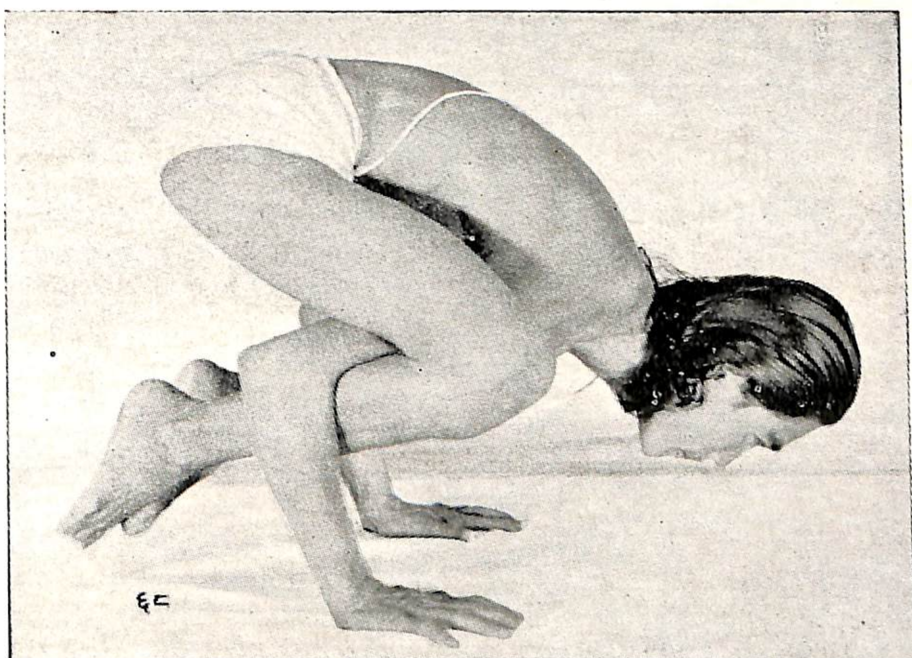
लाभ—इससे समूचे शरीर का कड़ा व्यायाम हो जाता है, स्वेद शीघ्र आ जाता है, थकावट भी हो जाती है। रक्त-संचार तीव्र होने के कारण रक्त-शुद्धि और भुजाओं, पंजों, टाँगों की पुष्टि विशेष रूप से होती है।

(५८) **कच्छप-आसन**—दोनों टाँगों को सामने फैलाकर बैठें। अब दोनों हाथों को जाँघों के बीच से निकाल कर पीछे की ओर ले जाकर हथेलियों को भूमि पर टिका दें। पश्चात्, दोनों पैरों को डेढ़ हाथ के अन्तर पर रखकर, पूरक करके, छाती को इतना आगे को झुकाएँ कि भूमि का स्पर्श कर ले। दृष्टि सामने रहे। रेचक करते समय गर्दन उठाकर प्रश्वास को बाहर निकाल दें।

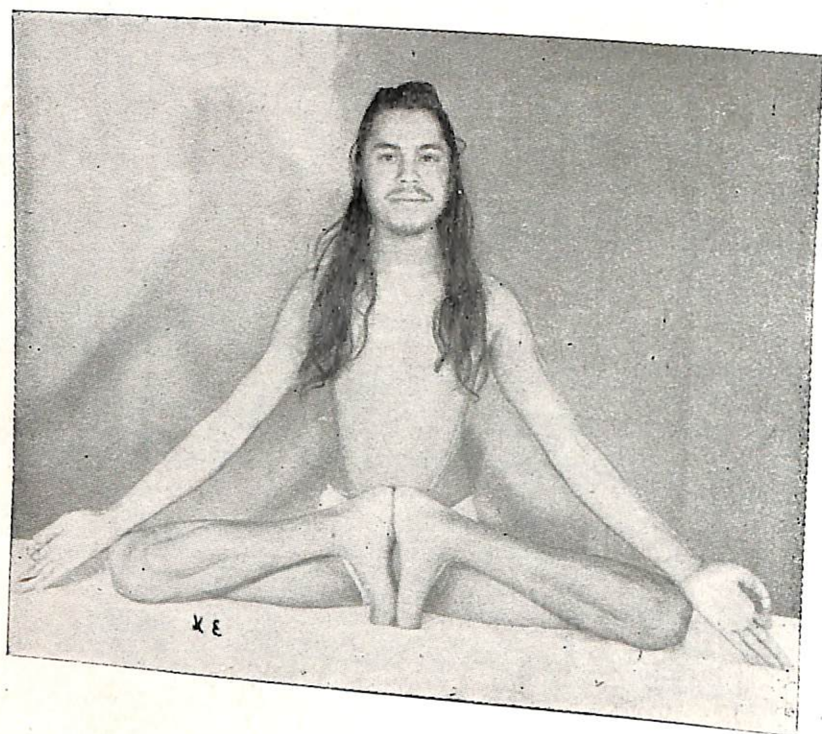
लाभ—इसके अभ्यास से हस्त-पाद आदि शक्तिशाली बनते हैं; उदर और समस्त शरीर बलिष्ठ बनता है।



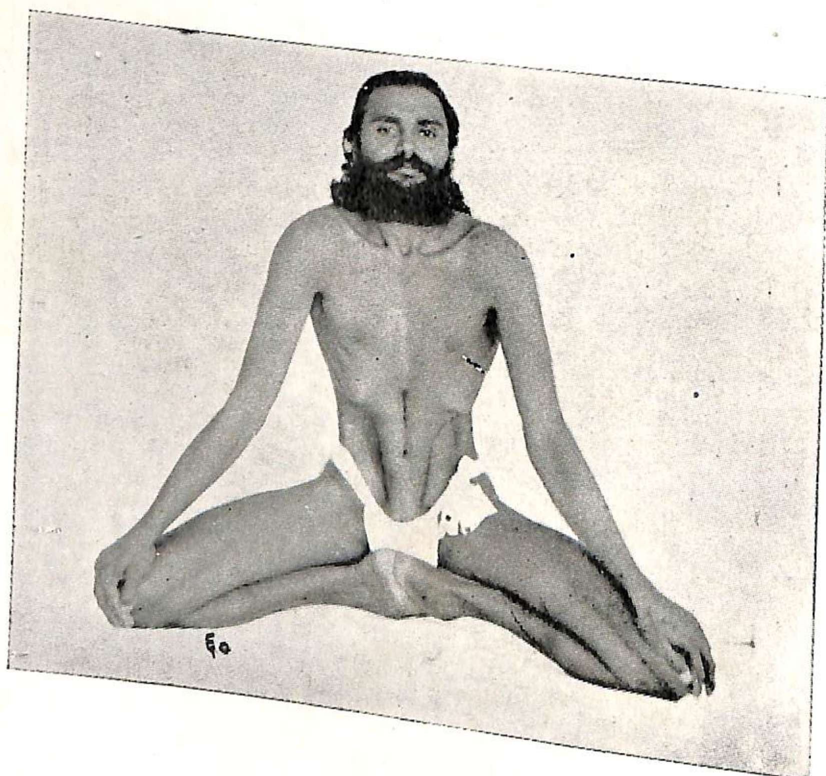
५७——मकर-आसन



५८——कच्छप-आसन



५९
योनि-आसन



६०
भद्र-आसन

(५६) **योनि-ग्रासन**—दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठें। ग्रब पादतलों को जोड़कर दोनों हाथों से गुल्फों (पैरों के गिट्टों वा टखनों) को घुमाकर उपस्थेन्द्रिय के समीप इस प्रकार स्थापित करें कि दोनों पैरों के ग्रँगूठे ग्रण्डकोशों के निकट भूमि पर टिक जाएँ ग्रौर एड़ियाँ नाभिस्थान के नीचे की ग्रोर ग्राजाएँ। ग्रब दोनों हथेलियों को घुटनों पर रख लें, ग्रौर समकाय ग्रीव होकर बैठ जाएँ। इसका नाम भगासन भी है।

लाभ—इसके ग्रभ्यास से जहाँ पैरों के समस्त ग्रवयव पुष्ट होते हैं वहाँ मूत्र-सम्बन्धी-विकार, बवासीर तथा भगन्दर रोगों का शमन भी होता है।

(६०) **भद्र-ग्रासन**—पिछले कहे योन्यासन के समान ही पाद-तलों को परस्पर संयुक्त करके उपस्थ के समीप इस प्रकार रखें कि पैरों के ग्रँगूठे भूमिपर ग्रौर एड़ियाँ नाभि-मण्डल के नीचे समीप ग्रा जाएँ। ग्रब पैरों को धीरे-धीरे इस प्रकार घुमाएँ कि ग्रँगुलियाँ नितम्बों के नीचे ग्रौर एड़ियाँ ग्रण्डकोशों के नीचे होकर सामने दीखने लगें। दोनों हथेलियों को घुटनों पर जमा दें, यदि चाहें तो नौलि भी कर लें, रेचक करके बाह्य कुम्भक रखें।

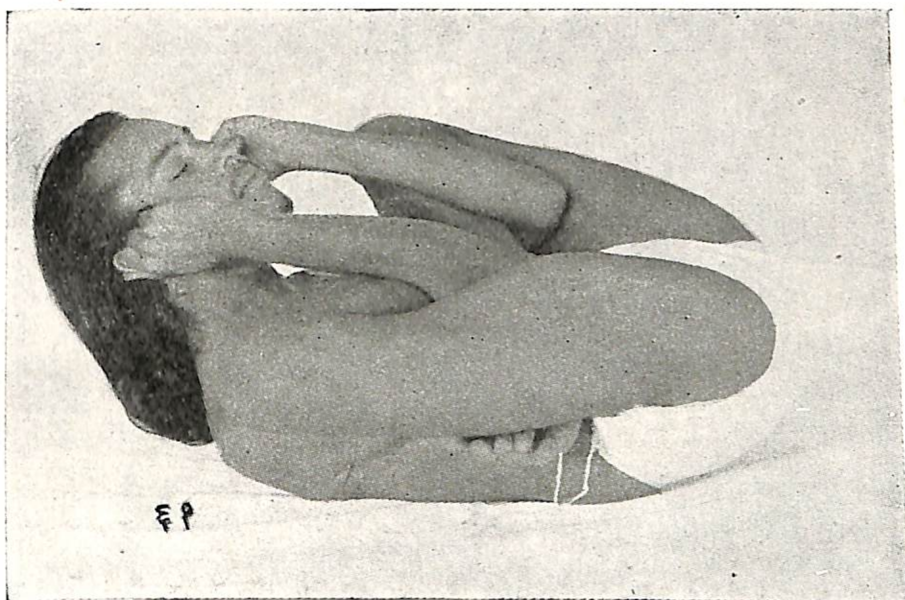
लाभ—घुटने, पैरों की ग्रँगुलियाँ, ग्रण्डकोश, सीवन के विकार नहीं होने पाते; कामोत्तेजना शान्त रहती है, ब्रह्मचर्यपालन में सहायक है। प्रमेह ग्रादि मूत्र-रोग तथा ग्रर्श, भगन्दर नहीं होते।

(६१) **मूढ़-गर्भ-ग्रासन**—सर्वप्रथम पद्मासन लगाकर बैठें। ग्रब पीठ के सहारे भूमि पर लेटकर, दोनों हाथों को जाँघों ग्रौर पिण्डलियों के मध्य में कोहनियों से कुछ ग्रागे तक बाहर निकाल लें। फिर दोनों हाथों से ग्रीवा ग्रथवा कान पकड़ कर, दृष्टि सामने रखते हुए, नितम्बों पर बैठ जाएँ। इस स्थिति में श्वास-प्रश्वास की गति मन्द रखें।

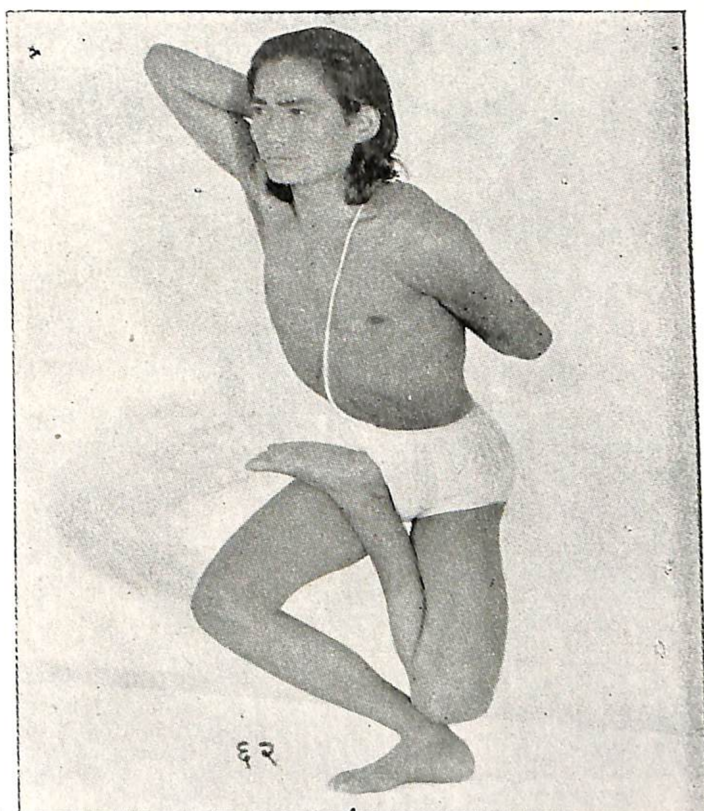
लाभ—यह ग्रासन श्वास-प्रश्वास की गति को मन्द बनाता है ग्रौर शरीर को लचकीला, पुष्ट, दृढ़, सुडौल बनाता है। देह की स्थूलता को घटाता, पाचन-शक्ति को प्रदीप्त करता, तमोगुण, जड़ता, ग्रालस्य को नष्ट करता है। गर्भासन की ग्रपेक्षा यह ग्रधिक गुणकारी है।

(६२) **जानु-ग्रासन**—सीधे खड़े होकर दोनों पैरों को मिला लें। ग्रब दक्षिण-पाद को दक्षिण जंघा के मूल में (रान के पास) दृढ़ता पूर्वक स्थापित करें। बायें घुटने को बायें पैर के टखने के समीप ग्रथवा भूमि पर स्थापित करें। ग्रब दोनों हाथों को सामने जोड़कर ग्राधे बैठे जैसी स्थिति में हो जाएँ। दूसरा पैर बदल कर भी करें।

लाभ—इस ग्रासन के ग्रभ्यास से पिण्डलियों, घुटनों, पाद-मूल की सन्धियों की दुर्बलता दूर होकर इनकी पुष्टि होती है।

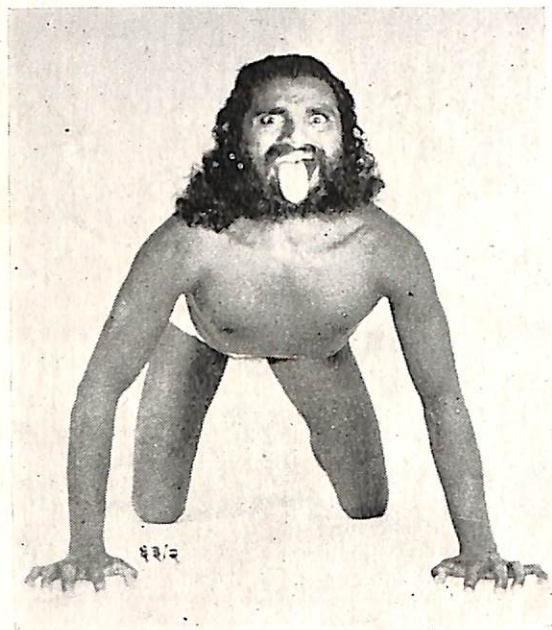


६१
मूढ़-गर्भ-आसन



६२
जानु-आसन





६३/१ --सिंह-आसन-- ६३/२



६४
वज्राङ्ग-आसन

(६३) **सिंह-आसन**—(१)—पैरों को नितम्बों के नीचे इस प्रकार स्थापित करें कि बायाँ पैर दक्षिण-नितम्ब के और दक्षिण-पैर वाम-नितम्ब के नीचे आजाए। अब हाथों की अँगुलियों को फैला कर, सिंह के पंजे जैसी आकृति बनाकर दोनों घुटनों पर रख कर, उदर को अन्दर की ओर करके और छाती को आगे को बढ़ाकर, मुख खोल कर, जीभ को बलपूर्वक अधिक-से-अधिक बाहर निकाल कर, नेत्र-दृष्टि को भ्रूमध्य में रखते हुए बैठें।

(२)——**दूसरी-विधि**—घुटनों के बल भूमि पर खड़े होकर, कमर मोड़ कर आगे झुकें, और हथेलियाँ भूमि पर टिका कर पीठ सीधी रखते हुए छाती को आगे तान दें, एड़ियाँ नितम्बों के साथ मिला लें। अब मुख नेत्र फाड़कर भयंकर दृष्टि से सामने देखते हुए जीभ को यथाशक्ति बाहर निकाल कर बैठें।

लाभ—इस आसन से छाती चौड़ी—उन्नत होती है; उदर कृश, शरीर पुष्ट, जीभ-नेत्र विकसित होते हैं, तोतलापन दूर होता, कण्ठ की नाड़ियाँ दृढ़ बनतीं एवं पाचन-शक्ति बढ़ती, नेत्र-ज्योति ठीक रहती, शरीर, शरीर पुष्ट होता, एवं मुख सुन्दर बनता है।

(६४) **वज्राङ्ग आसन**—खड़े होकर पैरों को परस्पर मिला लें। अब दायाँ पैर सामने फैला कर लगभग दो हाथ की दूरी पर भूमि पर स्थापित कर दें। फिर पूरक करते हुए इसी दक्षिण टाँग को घुटनों पर से कुछ आगे को झुकाकर छाती आगे को तान लें, और कोहनियों से मोड़कर दोनों हाथ पृथक्-पृथक् ऊपर को उठाए रख कर खड़े रहें। जब तक कुम्भक रहे इसी स्थिति में रहें और रेचक करते समय पूर्व स्थिति में आ जाएँ।

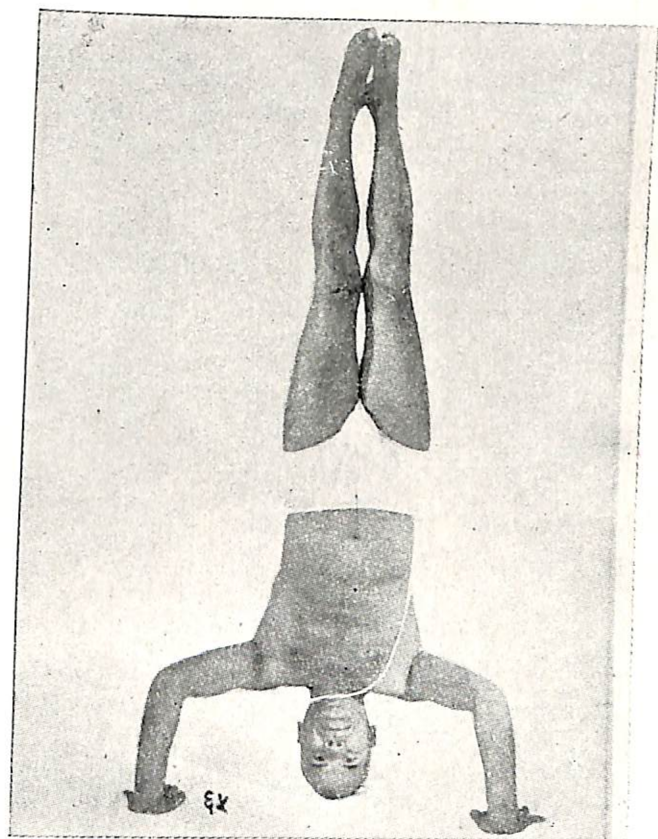
लाभ—इस आसन के नित्याभ्यास से वक्षस्थल-फेफड़े विकसित होते हैं, देह स्वस्थ और प्राण-शक्ति बलिष्ठ होती है।

(६५) **वृक्ष-ग्रासन**—कोमल कम्बल, गद्दा ग्रादि बिछे स्थान पर उकड़ूँ होकर बैठें, ग्रब दोनों हथेलियों के मध्य में डेढ़ फुट का स्थान छोड़कर, हथेलियों को सामने भूमि पर टिका कर, शिर को कोमल वस्त्र पर रख कर, ग्रपने पैरों को ऊपर ग्राकाश की ग्रोर ले जाकर, समस्त देह को दण्ड के समान तानकर दोनों हथेलियों तथा शिर पर सन्तुलित करके ग्रपनी शक्ति भर खड़े रहें। फिर धीरे-धीरे समय को बढ़ा लें।

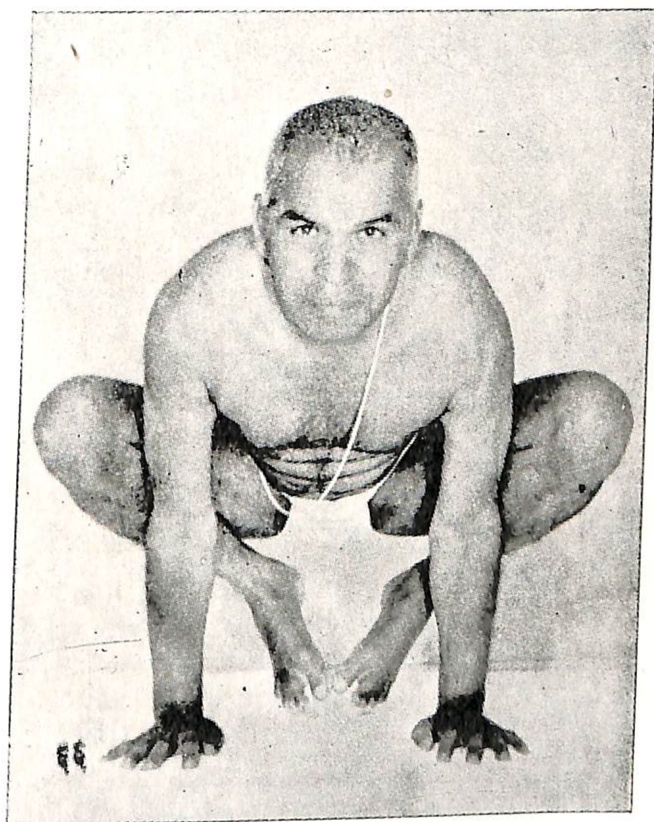
लाभ—शिर, ग्रीवा, वक्षस्थल, हृदय, नेत्रों के लिए ग्रति लाभदायक है। शिर की ग्रोर रक्त संचार विशेष रूप से होने के कारण उत्तमाङ्गों को विशेष पुष्टि मिलती है। केशों को शीघ्र श्वेत नहीं होने देता, मन्दाग्नि को दूर करता ग्रौर ब्रह्मचर्य-पालन में सहायता देता है।

(६६) **सारिका-ग्रासन**—पैरों को एक हाथ-भर के ग्रन्तर पर रखते हुए बैठ जायँ। ग्रब दोनों हथेलियाँ दोनों घुटनों के मध्य में भूमि पर टेक दें। थोड़ा-सा झुककर, घुटनों के थोड़े निचले भाग को, थोड़ी-सी झुकाई कोहनियों पर रखकर समस्त शरीर को तौल दें ग्रौर पैरों के पंजे पीछे रहें।

लाभ—शरीर के सभी ग्रङ्ग, शिराएँ, नस-नाड़ियाँ, स्नायु लचकीले ग्रौर पुष्ट होते तथा सन्धियों के विकार मिटते हैं।



६५
वृक्ष-आसन



६६
सारिका-आसन



६७
वृश्चिक-ग्रासन



६८
पिक-ग्रासन

(६७) **वृश्चिक-आसन**—उकड़ूँ बैठकर, सामने को झुककर, दोनों हाथों को कोहनियों तक भूमि पर दृढ़ता से स्थापित करके, थोड़े झटके के साथ पैरों को आकाश की ओर उठाकर धीरे-धीरे कटि, टाँगों और पैरों को शिर की ओर मोड़ते हुए सावधानी से—ऊपर उठाए शिर पर रखने का प्रयत्न करें। इस प्रकार पाद-तल शिर पर और समस्त शरीर कोहनियों पर सन्तुलित हो जाता है। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहने का प्रयत्न करें। प्रारम्भिक अवस्था में दीवार का सहारा ले लेना अच्छा रहता है।

लाभ—इसके अभ्यास से बाहुबल बढ़ता, मेरुदण्ड लचकीला और दृढ़ बनता है, जड़ता तथा आलस्य दूर होता है। यह तिल्ली, जिगर, गुर्दे, उदर विकारों का निवारण करता तथा समस्त देह को स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट बनाता है।

(६८) **पिक-आसन**—सीधें खड़ें होकर, कटि से आगे झुककर, दोनों हाथ टाँगों के मध्य से निकालकर, पैरों के बाहर पास ही भूमि पर स्थापित कर दें। अब पैरों से दोनों कोहनियों को बाँधकर हथेलियों पर ही समस्त शरीर को तौल दें। पैरों के पंजे पिछली ओर पक्षी की पूँछ के समान निकल आते हैं। इसी स्थिति में यथाशक्ति स्थित रहने का प्रयत्न करें।

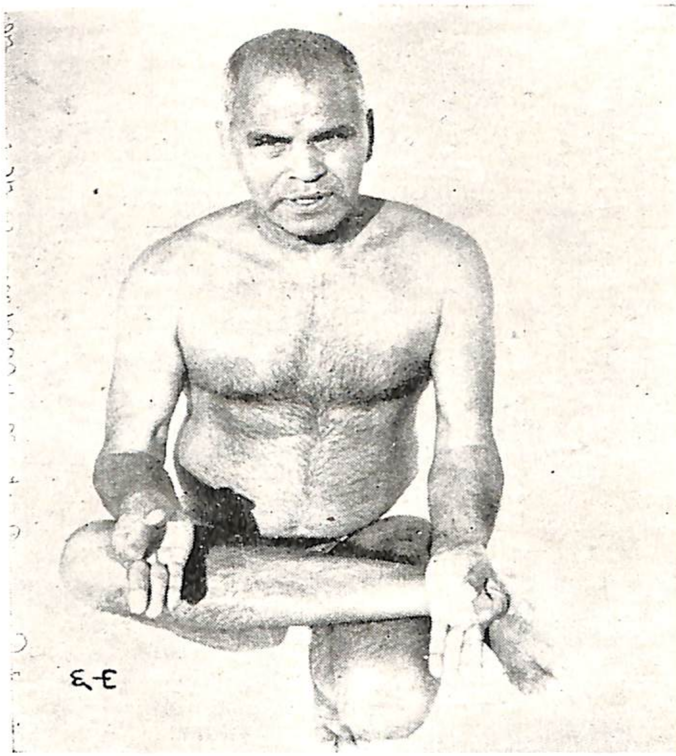
लाभ—इस आसन का अभ्यास शारीरिक अङ्गों को दृढ़, पुष्ट और सन्धियों को लचकीला बनाता है।

(६९) एकपाद अंगुष्ठ-आसन—पहले दोनों पैरों के पंजों के बल बैठें। अब वाम-पाद की एड़ी को कुछ उठाकर गुदा और अण्डकोशों के मध्य-सीवनी में लगा दें तथा दाईं टाँग को बाएँ पैर की जाँघ या घुटने पर दृढ़ता से रख दें। विशेषकर बाएँ पैर के अँगूठे पर समस्त शरीर का भार तौलकर, फिर दायाँ हाथ दाईं जँघा पर और बायाँ हाथ दाएँ पैर पर 'ज्ञान-मुद्रा'-बद्ध करके स्थापित करें। दूसरे पैर से भी इसी प्रकार करें।

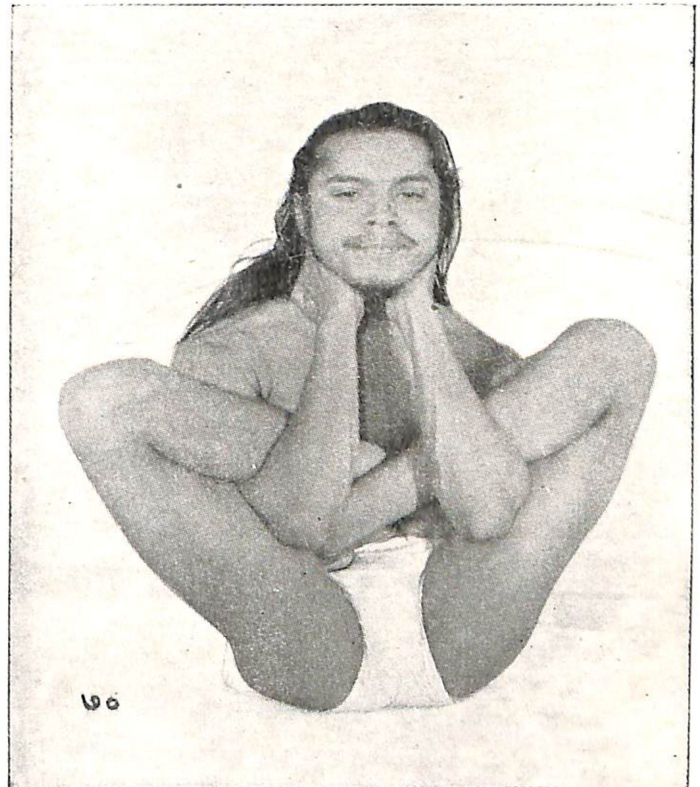
लाभ—इसके अभ्यास से ब्रह्मचर्य-रक्षा में अत्यन्त सहायता मिलती है, संयम-शक्ति को बढ़ाता तथा पैरों की नस-नाड़ियों को पुष्ट और लचकीला बनाता है।

(७०) उत्तान-कूर्म आसन—पद्मासन लगाकर बैठें। अब दोनों हाथों को जाँघों और पिण्डलियों के मध्य में से कोहनियों तक बाहर निकाल कर झुकी ग्रीवा पर दोनों हाथों को ले जाकर, अँगुलियों को गूँथकर, नितम्बों पर बैठ जाएँ। यदि हाथ ग्रीवा पर न पहुँचें तो कानों को पकड़ कर बैठें। यथाशक्ति बैठें और इसी स्थिति में बैठने का समय बढ़ाते रहें।

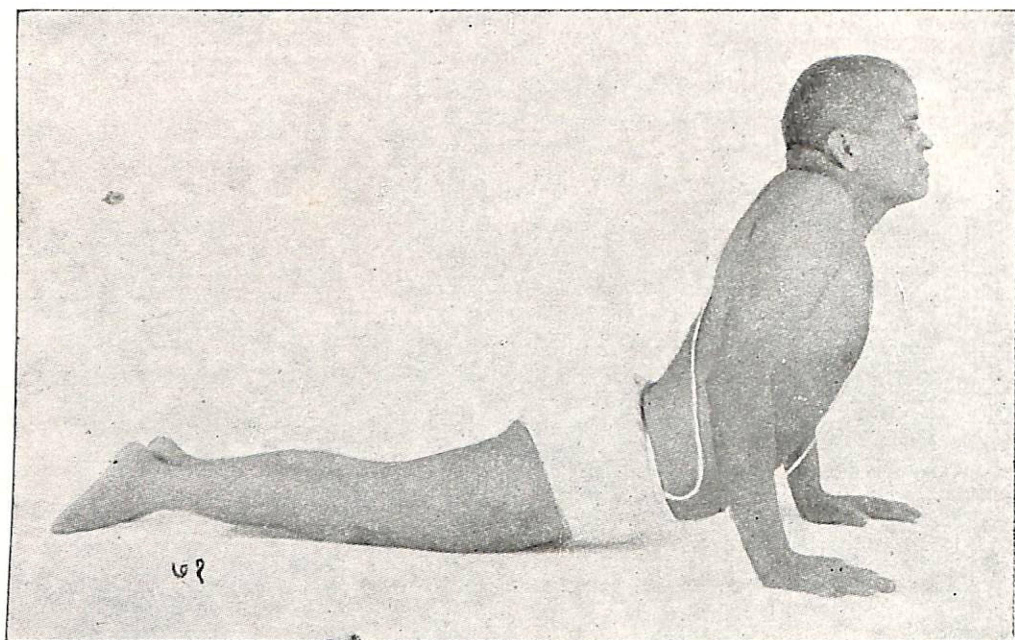
लाभ—इसके अभ्यास से शरीर लचकीला, सुडौल, बलिष्ठ, पुष्ट और सुन्दर बनता है। सन्धियों के लचकीला तथा पुष्ट होने से गठिया तथा सन्धियों में पीड़ा नहीं होती। त्रिदोष—वात, पित्त, कफ सम रहते हैं। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन पर अधिकार बढ़ने लगता है। वात तथा कफ-प्रधान प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिए यह आसन विशेषतः उपयोगी है।



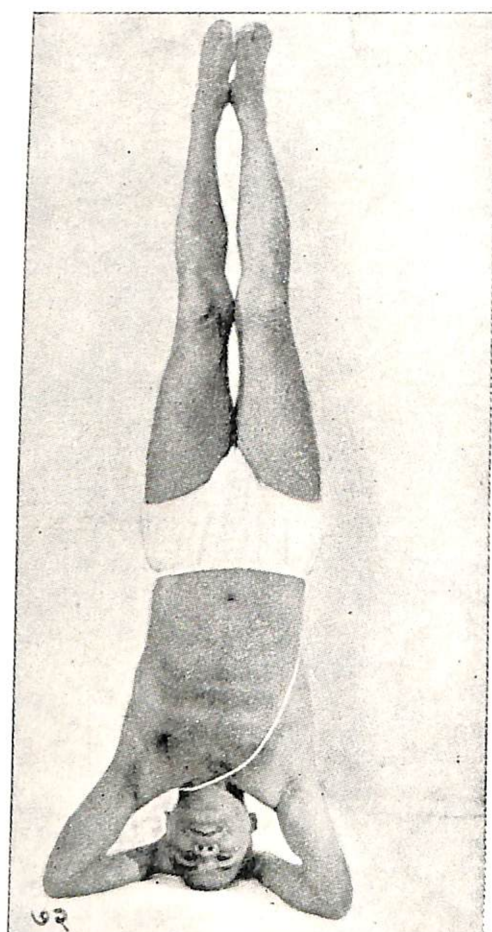
६९
एकपादांगुष्ठ-आसन



७०
उत्तान-कूर्म-आसन



७१
सर्प-ग्रासन



७२
शीर्ष-ग्रासन

(७१) **सर्प-आसन**—भूमि पर उदर के बल सीधा लेटें, और दोनों हाथों की हथेलियाँ छाती के पार्श्वों में भूमि पर टेक दें, फिर पूरक द्वारा श्वास भरकर, शिर-ग्रीवा-छाती को यथाशक्ति ऊँचा ले जाकर कमर तक उठने के प्रयत्न के साथ नाभि से लेकर पैरों तक के भाग को भूमि पर टिकाए रखकर आगे हथेलियों तक लाकर कुम्भक रखकर इसी स्थिति में रहें। रेचक करते समय शिर को नीचे कर लें। इस प्रकार इसी स्थिति में देर तक ठहरने का अभ्यास करें।

लाभ—इसके अभ्यास से ग्रीवा, छाती, उदर, कटि, उरु, पैर, भुजाएँ, हथेलियाँ पुष्ट-स्वस्थ, रीढ़ की अस्थियाँ लचकीली बनी रहती हैं। गण्डमाला, गुल्म आदि रोग होने की सम्भावना कम ही रहती है।

(७२) **शीर्ष-आसन**—१—कई तह किया मोटा वस्त्र अथवा छोटा तकिया भूमि पर रख कर हाथ की अँगुलियों को हथेली की ओर फँसाकर—'दौना' सा बना कर तकिए पर रखें। उस पर शिर को रख कर पैरों को उठाते हुए शरीर का भार धीरे-धीरे कोहनियों और हथेलियों पर डालते हुए पैरों को आकाश की ओर ले जाकर शिर के बल शरीर को तान कर खड़ा करने का यत्न करें। इस तरह शरीर का भार कोहनियों, हथेलियों और शिर पर आ जाता है।

२—**दूसरी विधि**—हथेलियों पर शिर न रख कर केवल भूमि पर शिर रखें, दोनों हथेलियाँ शिर के दाईं-बाईं ओर भूमि पर रहें। प्रथम की अपेक्षा यह कुछ कठिन है। इससे शिर पर अधिक दबाव पड़ता है। इसे वृक्षासन भी कहते हैं।

३—**तीसरी विधि**—इसमें सब क्रिया पूर्ववत् करें। अन्त में दक्षिण पैर वाम जंघा पर रख कर खड़े रहें। इस शीर्षासन को 'विपरीत-करणी-मुद्रा' भी कहते हैं।

लाभ—अनेक ग्रन्थों में इसके बहुत लाभ वर्णन किये हैं, तथा कई घन्टे तक करने का निर्देश भी किया है। परन्तु मैं कई घन्टों तक करने के पक्ष में नहीं हूँ। शिर तथा मुख पर नेत्र, कान आदि इन्द्रियाँ अति कोमल हैं। शिर के बल अधिक खड़े होने से सम्वेदनशील नेत्रों पर अनुचित रक्त-संचार के कारण नेत्रों के श्वेत भाग में लाल-लाल डोरे पड़कर स्थिर हो जाते हैं। नेत्रों में गर्मी से दुखन होने लगती है। दृष्टि-माँद्य तथा मोतिया उतरने की आशंका बन जाती है। शिर में फोड़े-फुंसी निकलने लगते हैं। कानों में गूँजन होने लगती है, पीप आदि भी बहने लगती है, पीड़ा तथा बधिरता भी हो जाती है। इस आसन को अधिक देर करने वाले व्यक्तियों में से अनेक को पूर्व कथित रोग होते मैंने अपनी आँखों से देखा है। एक-दो दृष्टान्त भी देता हूँ—पंजाब के होशियारपुर नामक नगर में रणवीर नाम का १९–२० वर्ष का युवक पैर के गट्टे के नासूर की पीड़ा से दुखी रहता था। उसे किसी ने शीर्षा करने को कह दिया। जब वह १५–२० मिनट तक इस आसन से खड़ा रहता था, पीड़ा शान्त हो जाती थी, परन्तु उसे स्थाई लाभ नहीं हुआ। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि नासूर का विष शिर की ओर रक्त के साथ बह कर अन्य कोई विकार कर देता। इसी युवक के पिता डाक्टर मोतीसिंह जी भी प्रातः दो घन्टे तक नित्य शीर्षासन किया करते तथा इसी आसन में रहकर गायत्री जपते थे। इनको भी मैंने अनेक बार समझाया कि—सुपठित बुद्धिमान् डाक्टर होकर भी आपने नेत्रों की कोमलता की ओर ध्यान न दिया। प्रकृति के विरुद्ध शिर पर रक्त का अति दबाव पड़ने से इन्हें हानि पहुंच सकती है, यह नहीं सोचा। अन्त में मोतिया उतर आया और दृष्टि जाती रही; ये दो दृष्टान्त पर्याप्त हैं।

लाभ—इसके उपयुक्त अभ्यास से निद्रा अच्छी आती है। बहुधा मुख, नाक, कान और कण्ठ के विकार भी शान्त हो जाते हैं। रक्त का संचार ऊर्ध्व अंगों की ओर होकर वहाँ के विकार नष्ट कर देता है, रक्त-वाहिनी नाड़ियाँ तथा ज्ञानवाहक तन्तु स्फूर्ति से कार्य करने लगते हैं, नेत्रों की ज्योति ठीक रहती तथा शरीर भी स्वस्थ रहता और मनुष्य दीर्घायु होता है। शीर्षासन करके कुछ देर तक 'विश्राम-आसन' अवश्य कर लेना चाहिए जिससे रक्त-संचार पूर्ववत् हो जाए।

(७३) **सूर्य-नमस्कार आसन**—१२ आकृतियों वाले इस आसन का क्रमशः निम्नप्रकार से वर्णन करते हैं—

१—प्रातःकाल सूर्य की ओर मुख करके खड़े होकर प्रणाम करने के समान हाथ जोड़ लें। अब पूरक द्वारा श्वास को अन्दर भरते हुए पैरों के पंजे एड़ियाँ और घुटने परस्पर मिलाकर खड़े रहें।

२—अब, दोनों को खोलकर पीछे की ओर झुकाते हुए पीठ लचायें, परन्तु दोनों टाँगें सीधी तनी रहें।

३—इसके उपरान्त आगे को झुकते हुए दोनों हथेलियों को दोनों पैरों के बराबर इस प्रकार रखें कि हाथ और पैर के अँगूठे एक सीध में आ जाएँ, दोनों टाँगें सीधी तनी रहें, मस्तक घुटनों पर भली प्रकार लग जाए।

४—तत्पश्चात् दाएँ पैर को यथासम्भव पीछे ले जाएँ, छाती आगे को तान कर आकाश की ओर देखें।

५—फिर बाएँ पैर को दक्षिण-पाद के समानान्तर (बराबर) ले जाकर ऐसे रखें कि दोनों अँगूठे, एड़ियाँ और जानु परस्पर मिल जाएँ; ग्रीवा, शिर, पीछे सीध में रहें।

६—अब घुटनों सहित वक्षस्थल और मस्तक को भूमि से स्पर्श करें।

७—अब ग्रीवा और वक्षस्थल को ऊपर की ओर इतना उठाएँ कि नाभि तक का भाग भूमि से ऊपर उठ आए और सर्पासन जैसी आकृति बन जाए।

८—फिर कमर को उठाते हुए दानों एड़ियों को भूमि से लगाएँ और कटि-प्रदेश को पीछे की ओर ताने रहें।

९—अब दक्षिण-पाद आगे बढ़ाकर दोनों हाथों के मध्य में रख दें, सिर और ग्रीवा ऊपर आकाश की ओर करें, पीठ और कमर झुका लें।

१०—तदनन्तर दूसरा बायाँ पैर भी दक्षिण पैर के बराबर लाकर इस प्रकार रखें कि दोनों हाथ-पैरों के अँगूठे एक सीध में हो जाएँ, और कमर को ऊपर उठाकर मस्तक को दोनों घुटनों के मध्य में झुकाएँ।

११—फिर दोनों हाथ और शिर को उठाकर पीछे की ओर झुका दें।

१२—इसके पश्चात् अब सीधे खड़े हो जाएँ, शिर, ग्रीवा को बराबर करके दोनों हाथों को, जंघा के अति निकट लाकर स्वाभाविक स्थिति में रख लें।

इन १२ आकृतियों को पूरक करके कुम्भक साधकर करनेका प्रयत्न करें, तब ये विशेष लाभप्रद होंगे।

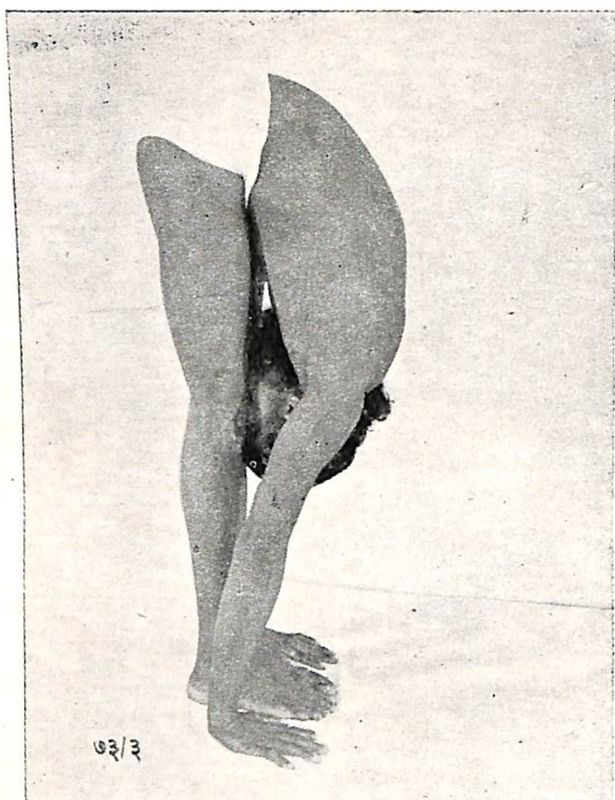
लाभ—स्पष्ट है कि इन १२ आकृतियों में समस्त देह का व्यायामहो जाने से शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग लचकीले, सुडौल और पुष्ट होते जाते हैं। इन्हें विशेष लाभप्रद बनाने के लिए पूरक-कुम्भक सहित १०-१५ बार अवश्य करें। यदि एक प्राणायाम में (कुम्भक में) ये सब न हो सकें तो दो-तीन बार में करें, अथवा प्राण की गति को स्वाभाविक रूप में रखते हुए करें। ये सभी आसन दुर्बल-देह वाले भी करके स्वास्थ्य-लाभ कर सकते हैं।



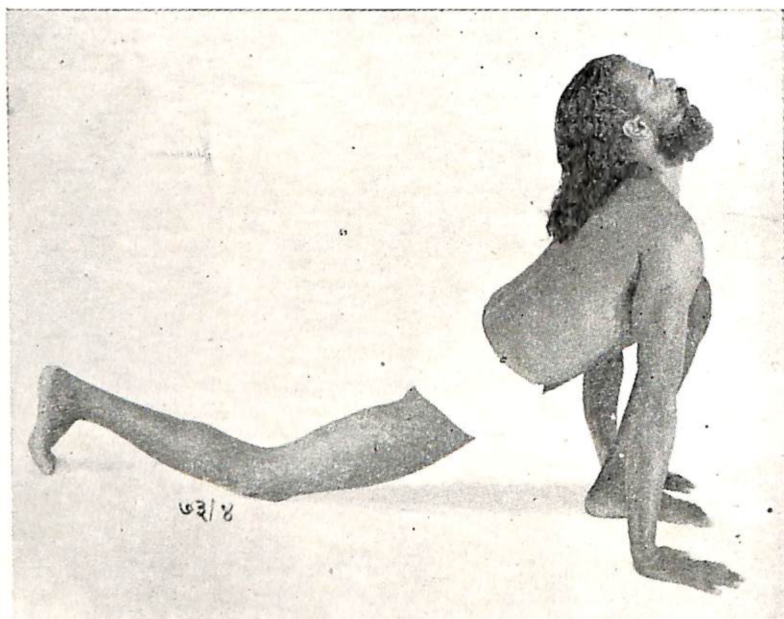
७३/१
सूर्य-नमस्कार-आसन



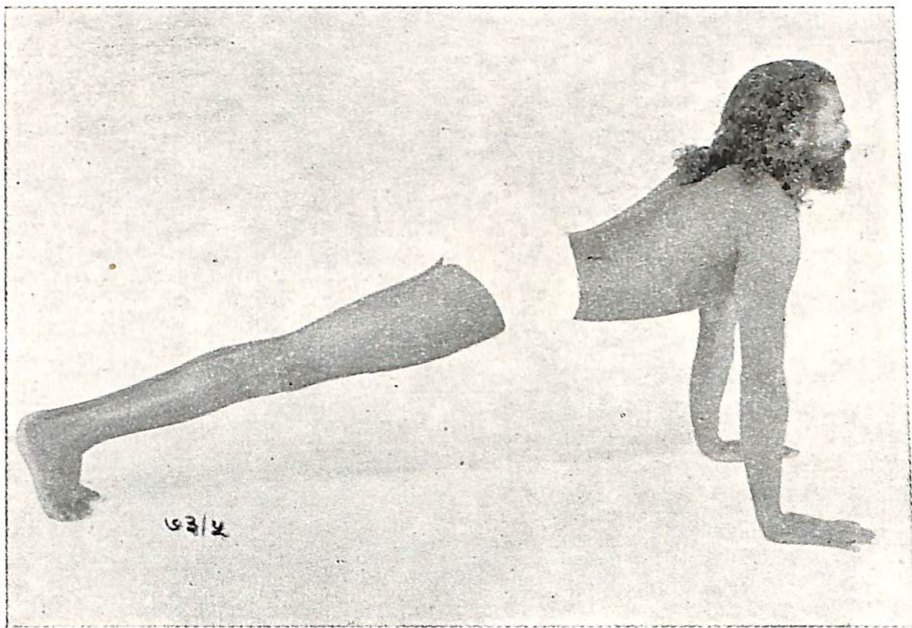
७३/२
सूर्य-नमस्कार-आसन



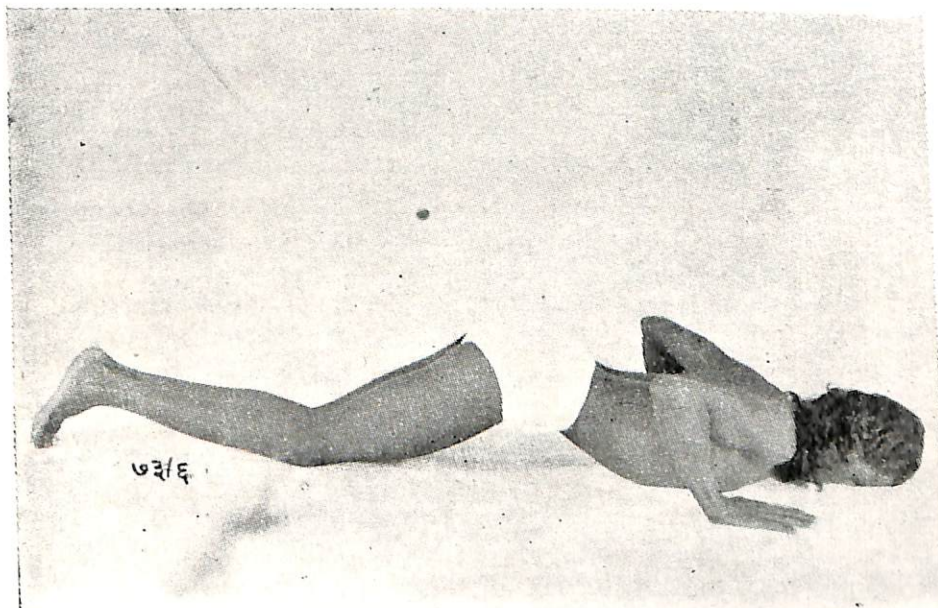
७३/३
सूर्य-नमस्कार-आसन



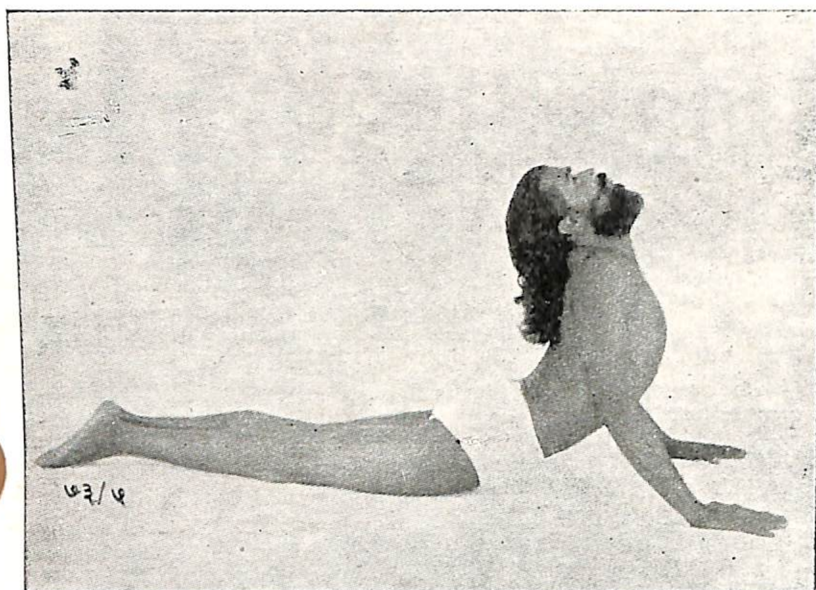
७३/४
सूर्य-नमस्कार-आसन



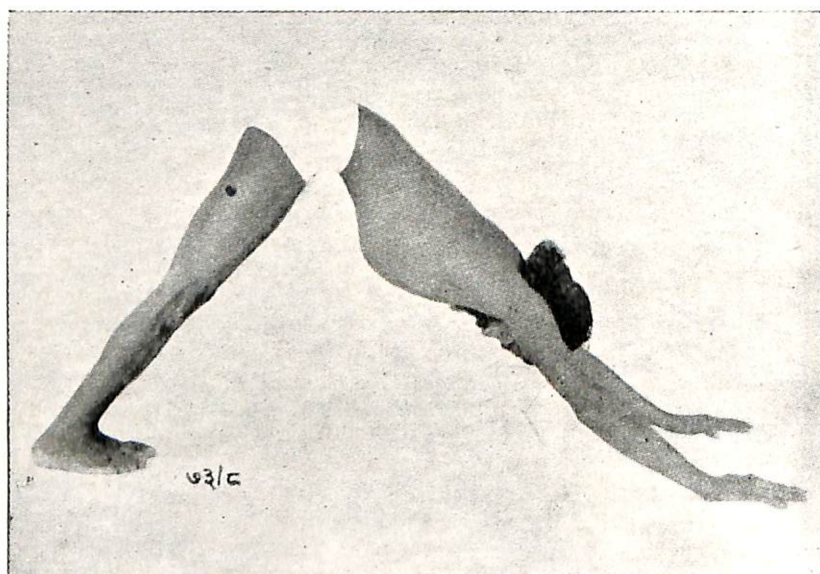
७ ३/५
सूर्य-नम स्कार-आसन



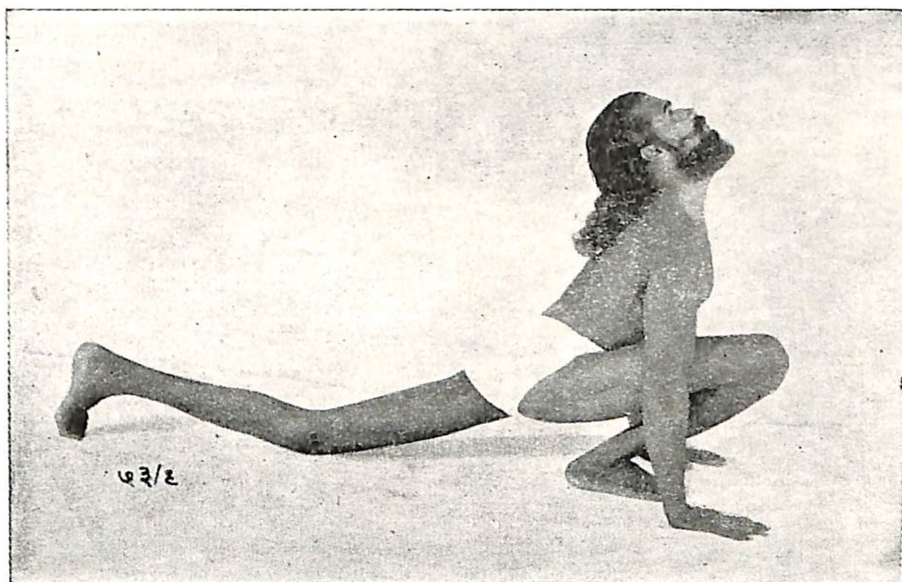
७३/६
सूर्य-नमस्कार-आसन



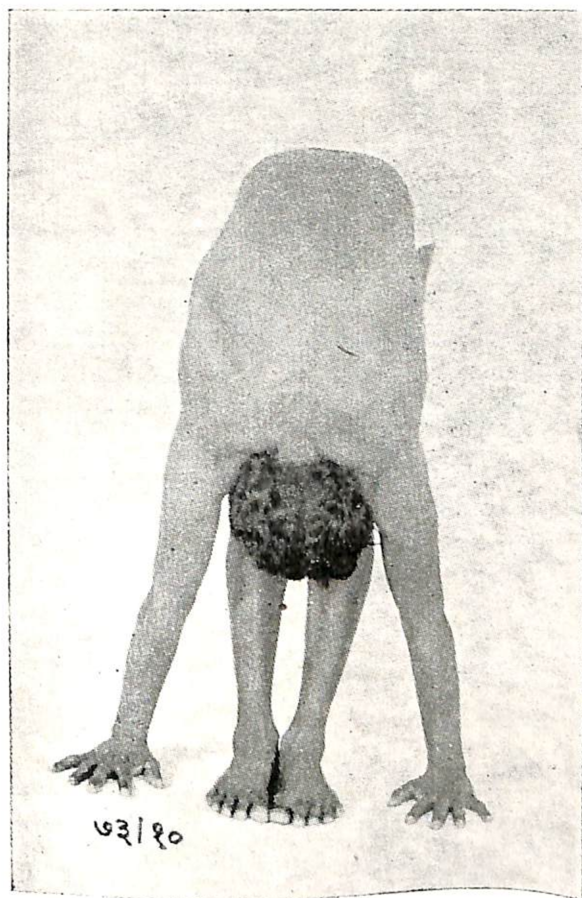
७३/७
सूर्य-नमस्कार-आसन



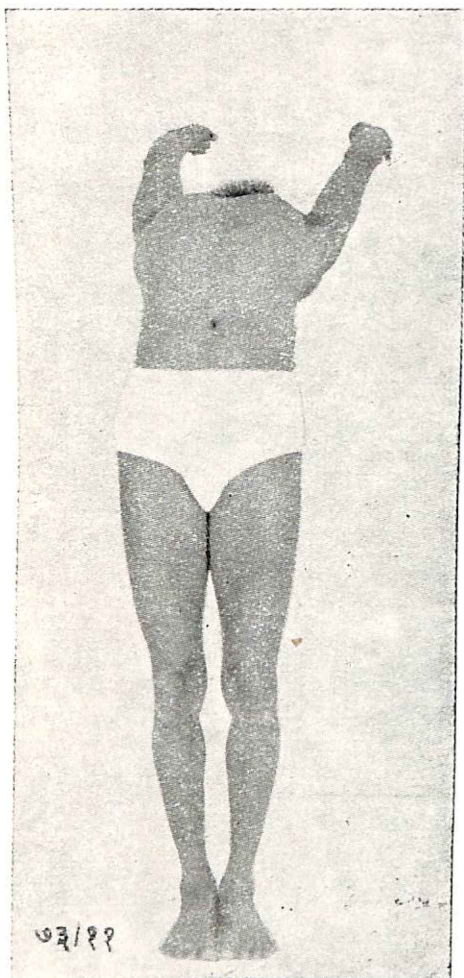
७३/८
सूर्य-नमस्कार-आसन



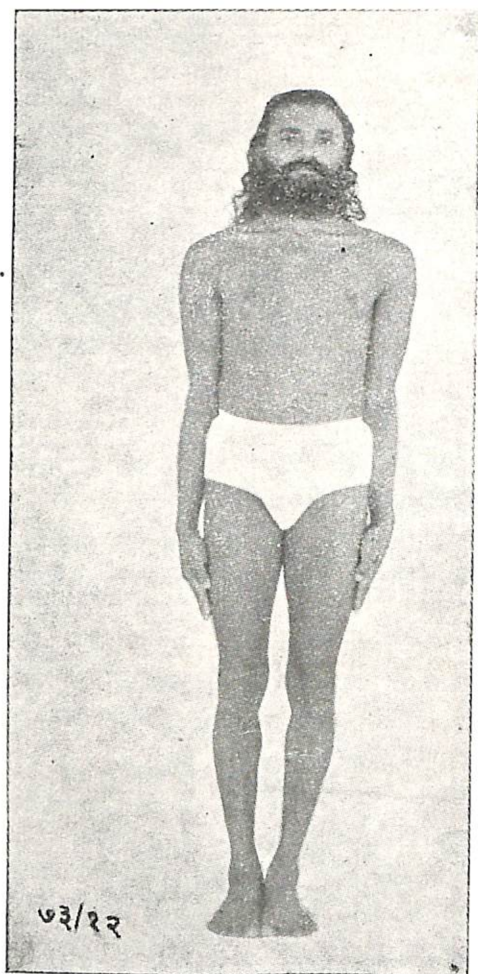
७३/९
सूर्य-नमस्कार-आसन



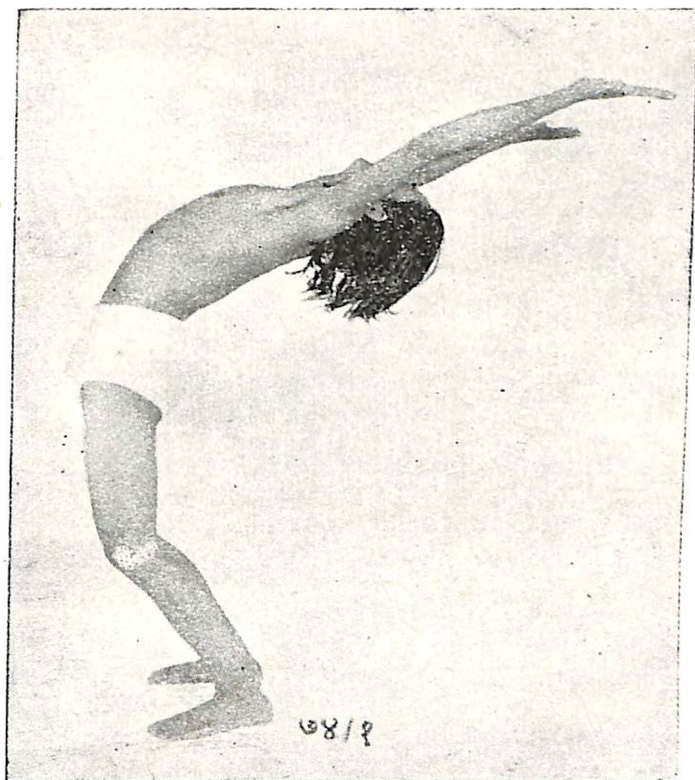
७३/१०
सूर्य-नमस्कार-आसन



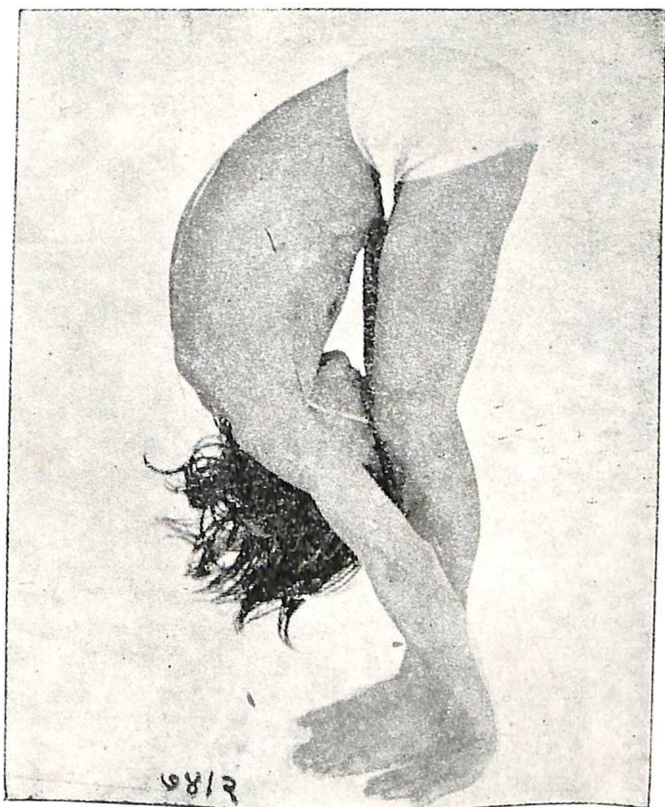
७३/११
सूर्य-नमस्कार-आसन



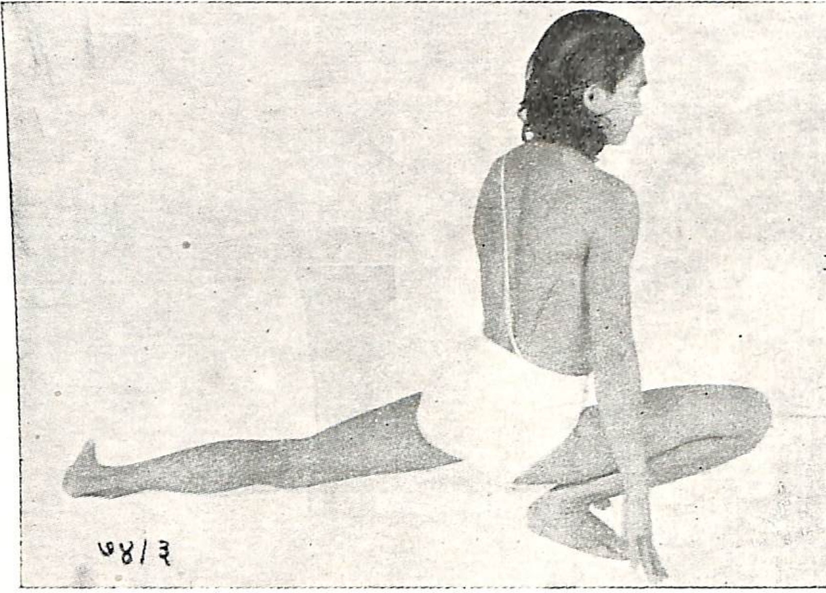
७३/१२
सूर्य-नमस्कार-आसन



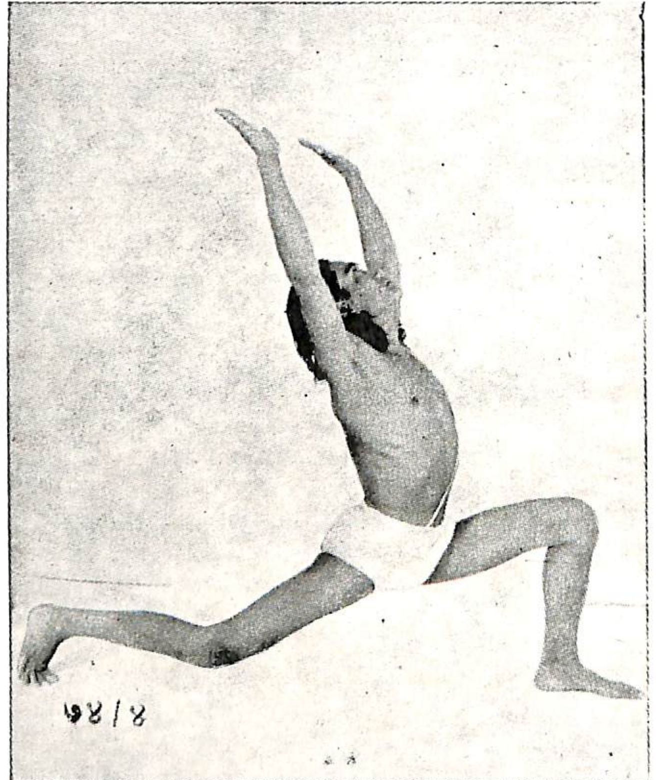
७४/१
चन्द्र-नमस्कार-आसन



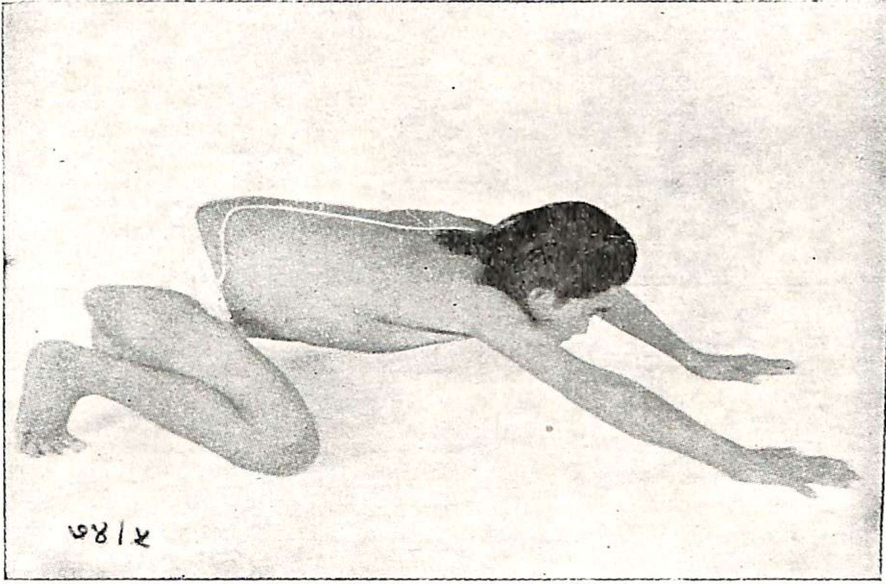
७४/२
चन्द्र-नमस्कार-आसन



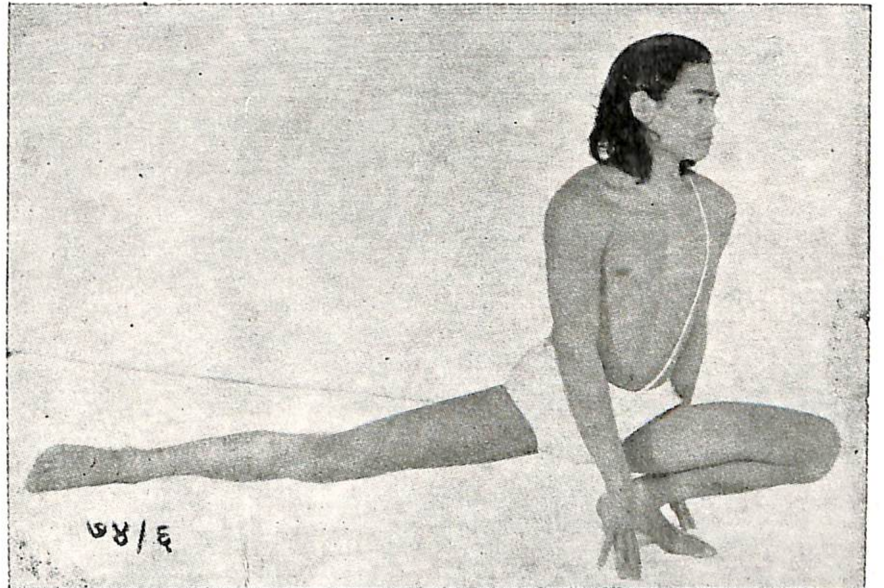
७४/३
चन्द्र-नमस्कार-आसन



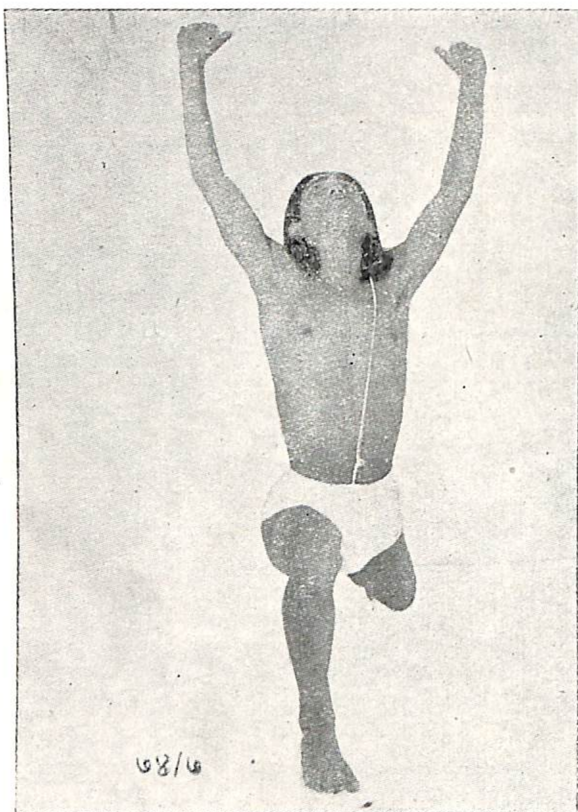
७४/४
चन्द्र-नमस्कार-आसन



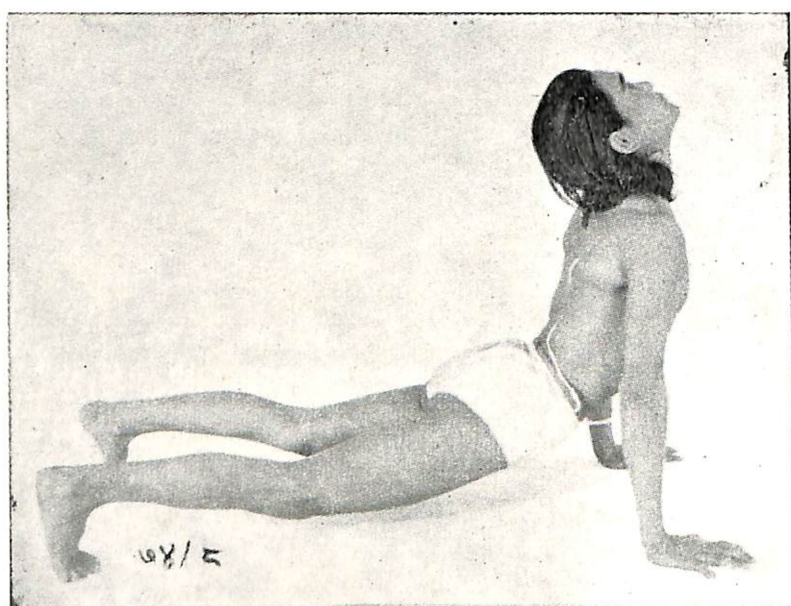
७४/५
चन्द्र-नमस्कार-आसन



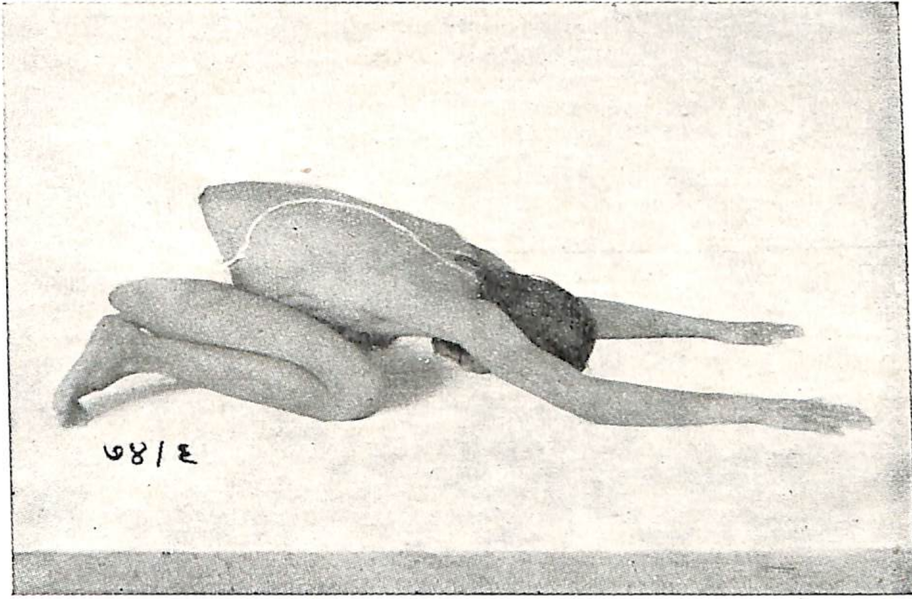
७४/६
चन्द्र-नमस्कार-आसन



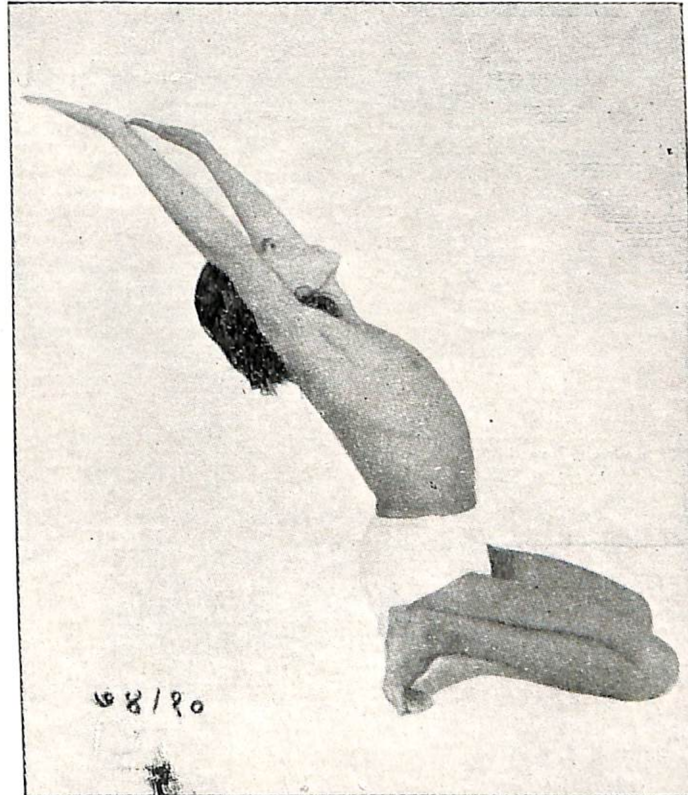
७४/७
चन्द्र-नमस्कार-आसन



७४/८
चन्द्र-नमस्कार-आसन



७४/९
चन्द्र-नमस्कार-आसन



७४/१०
चन्द्र-नमस्कार-आसन



७४/११
चन्द्र-नमस्कार-ग्रासन



७४/१२
चन्द्र-नमस्कार-ग्रासन

(७४) **चन्द्र-नमस्कार आसन**—इसकी १२ आकृतियाँ निम्न प्रकार हैं :

१—सीधा खड़े होकर पैरों को एक हाथ के अन्तर पर रख कर दोनों को सिर के ऊपर ले जाकर जोड़ लें। अब हाथों को संयुक्त रखते हुए यथाशक्ति पीछे को झुकें।

२—अब दोनों हाथों को चक्राकार में घुमाकर, टाँगों को ताने रखकर, कमर से आगे को झुककर, दोनों हथेलियाँ पैरों के बराबर भूमि पर रख कर, शिर को घुटनों से मिला दें।

३—अब दक्षिणपाद पीछे को सीधा ले जाकर, बाएँ पैर पर समस्त शरीर का भार देकर सीधे हो बैठें। बैठते समय घुटने कुछ आगे को झुके हों, जिससे पंजे पर शरीर का भार तुल जाए, और नितम्ब एड़ी पर हो जाएँ।

४—कुछ देर पीछे खड़े होकर, तन कर, हाथों को ऊपर सीधा उठाकर, वाम-घुटना सामने को कुछ झुकाकर छाती आगे तान दें।

५—अब दोनों हाथों को नीचे उतार कर, सामने भूमि पर रख कर, बायें पैर को दक्षिण-पाद के समीप पीछे ले जाकर एक बार दण्ड करें अर्थात् पंजों पर सीधा बैठकर धीरे-धीरे हाथों के बल आगे को बढ़ते हुए सर्पासन की आकृति में आजाएँ।

६—तत्पश्चात् बायाँ पैर आगे हाथों के मध्य में ले जाकर, वाम-पाद पर ही सारे शरीर का भार डालकर सीधे हो बैठें।

७—इस अवस्था में सीधे खड़े होकर अब शिर को ऊपर सीधा उठाकर छाती आगे को तान दें।

८—इसके अनन्तर हाथों को पुनः दक्षिण पैर के पंजे के बराबर भूमि पर धरें। दक्षिण-पाद, वाम-पाद के समीप पीछे ले जाकर पुनः एक दण्ड करें।

६—दण्ड करने के पश्चात् उक्त अवस्था में दोनों घुटने भूमि पर टेक कर, नितम्बों को एड़ी पर रख कर, सिर को झुका कर भूमि पर टेक दें।

१०—अब बैठे हुए शिर उठाकर दोनों हाथों को सीधा ऊपर को उठाकर यथाशक्ति पीठ की ओर झुका दें।

११—फिर दोनों हाथों को आगे ले जाकर, भूमि पर रखकर, पैरों को उछाल कर, दोनों हाथों के बीच ले जाकर, पंजों पर भार देकर सीधा बैठें।

१२—अन्त में सीधे खड़े होकर हाथ जोड़कर स्थित हो जाएँ। ये १२ आकृतियाँ समाप्त करके पुनः १०-१५ मिनट तक इन्हें अवश्य दोहराते रहें।

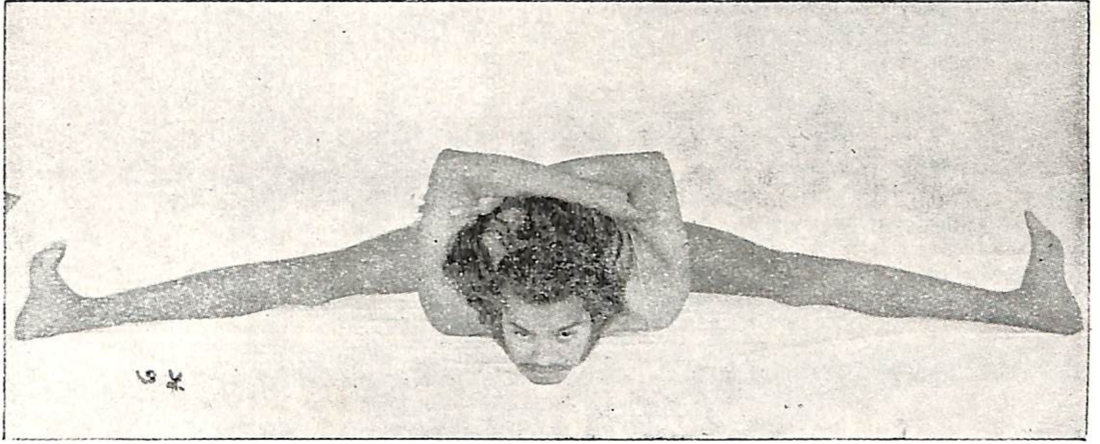
लाभ—इन आसनों के दैनिक अभ्यास से समस्त शरीर यथोचित व्यायाम हो जाने से हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ-सुडौल, सदा स्वस्थ रह कर सर्वांग सुन्दर बन जाता है। देह स्फूर्ति, कान्ति, तेज-युक्त हो जाती है। पाचन-शक्ति बढ़ती है, आहार ठीक प्रकार से पच जाता है, आलस्य-प्रमाद भाग जाते हैं। देह को स्वस्थ तथा लावण्य-युक्त बनाने के लिए ये आसन उपयोगी तथा सरल भी हैं।

(७५) **पृष्ठबद्ध पाद-प्रसारण भू नमस्कार-आसन**—चार हाथ का अन्तर देकर, दोनों पैरों को दाएँ-बाएँ फैलाकर सीधे खड़े हों। अब पूरक करके, दोनों हाथों को पीछे पीठ की ओर लेजाकर परस्पर ऐसे बाँधें कि दक्षिण हाथ से बाईं कोहनी एवं वाम-हस्त से दक्षिण कोहनी भली प्रकार पकड़ी जा सकें। फिर कटि से ऊपर के भाग को झुकाते हुए मस्तक को भूमि पर टिका दें।

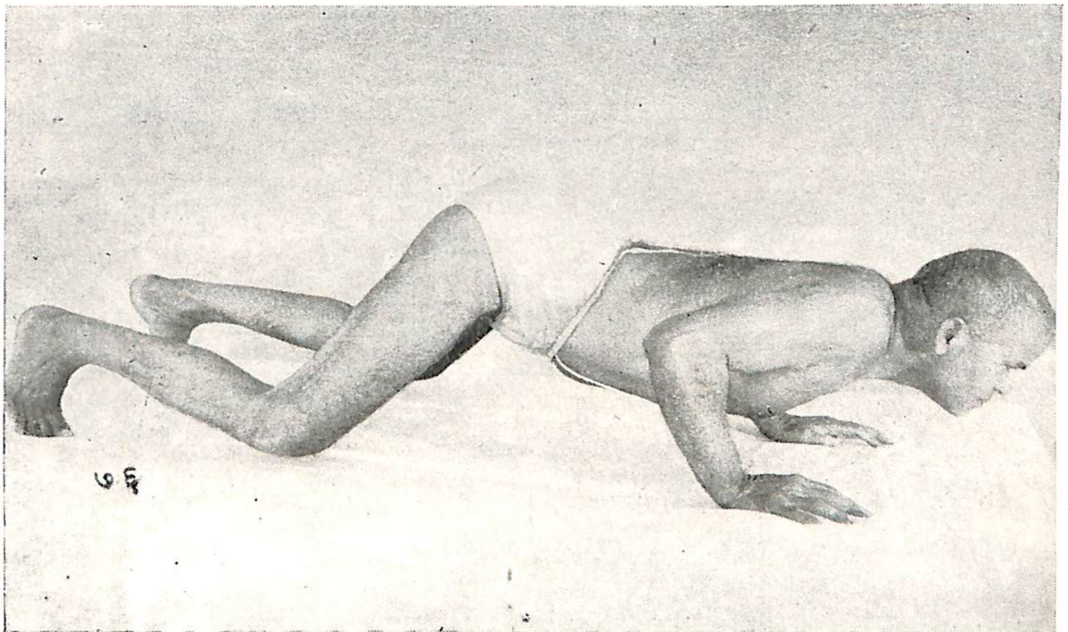
लाभ—इस आसन के अभ्यास से कटि-प्रदेश तथा जाँघों की नस-नाड़ियाँ, माँसपेशियाँ पुष्ट होती हैं। कब्ज़ नहीं होती, उदर में वायु-संचित नहीं होती, मल-मूत्र का विसर्जन ठीक तथा यथा-समय होता है।

(७६) **दण्ड-आसन**—पैरों के पंजों की अँगुलियों के सहारे पर ऐसे बैठें कि एड़ियों पर नितम्ब आ जाएँ, और सामने को जितना हो सके दोनों भुजाएँ फैला हथेलियाँ भूमि पर टेक कर, श्वास भर कर, छाती को आगे बढ़ाकर, ग्रीवा सहित सिर को ऊपर की ओर उठाकर, सर्पासन जैसी स्थिति में हो जाएँ। अब धीरे-धीरे पूर्व स्थिति में लौट आकर पूर्व स्थिति में बैठ जाएँ। हाथ-पैर उसी प्रकार उन्हीं स्थानों पर रहें जहाँ प्रारम्भ में थे। एक कुम्भक में कई दण्ड निकालने चाहिएँ। इनको यथाशक्ति बढ़ाते चलें।

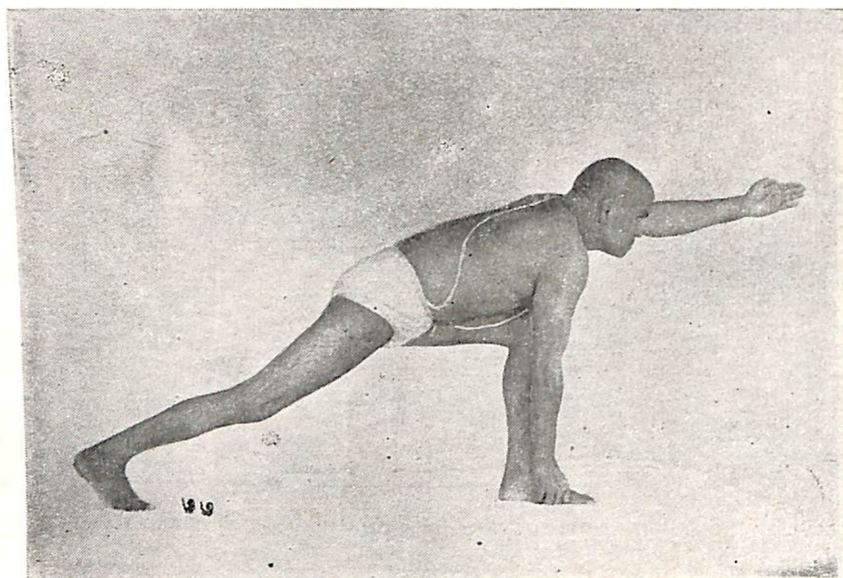
लाभ—दण्डासन से समस्त शरीर पुष्ट होता है। मुख्यरूप से भुजाएँ और वक्षस्थल। पूरक करके यथासाध्य कुम्भक रखकर दण्ड करने से वक्षस्थल का विकास अधिक होता है। अन्य साधारण पहलवानों के दण्ड से इसमें यह भेद है कि इसमें पैरों और हाथों के मध्य का स्थान न्यून-से-न्यून रखा जाता है तथा हाथ-पैर दण्ड करते समय उसी स्थान में रहते हैं।



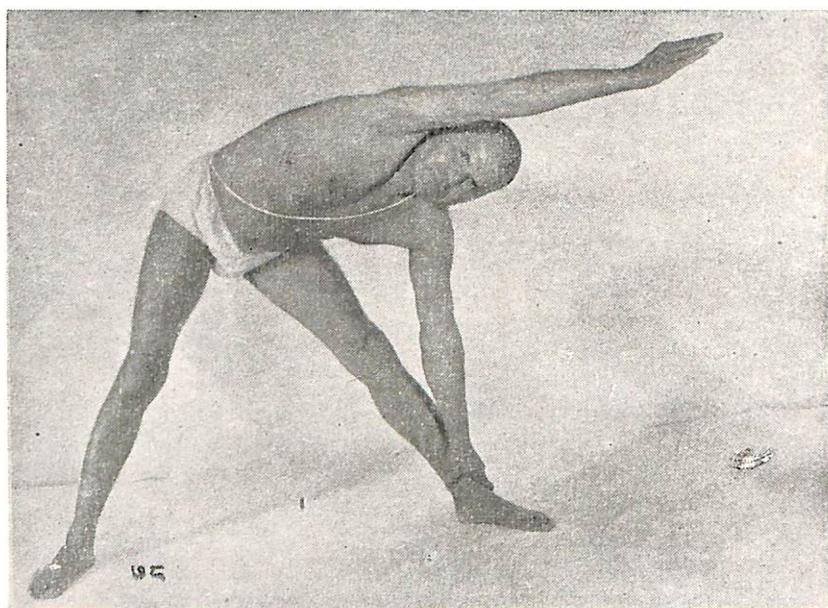
७५
पृष्ठबद्ध-पाद--प्रसारण-भू-नमस्कार--आसन



७६
दण्ड-आसन



७७
कोण-आसन



७८
त्रिकोण-आसन

(७७) **कोण-आसन**—तीन हाथ की दूरी पर वाम-पाद को आगे रख कर पूरक कर के, बाएँ घुटने को मोड़कर, दक्षिण हाथ को, बायें-पैर की एड़ी और पंजे को मध्य-स्थान में रख दें। फिर वाम-हस्त को सामने कुछ ऊपर की ओर सीधा कर के-—दृष्टि सामने अंगूठे के अग्रभाग पर रखें। इसी प्रकार दक्षिण पैर से भी करें।

लाभ—इसके अभ्यास से जंघा और कन्धों की सन्धियाँ सुदृढ़ होती हैं, स्नायु और माँस-पेशियों का विकास होता है।

(७८) **त्रिकोण-आसन**—दो-हाथ के अन्तर पर दोनों पैरों को रखकर, सीधे खड़े होकर, पूरक करते हुए दोनों हाथों को दोनों ओर सीधा ऊपर उठाकर, कन्धों को तान कर, ग्रीवा और छाती को बराबर कर लें जिससे चारों कोणों जैसी आकृति बन जाए। फिर बाईं ओर इतना झुकें कि बायें पैर के तले को बाएँ हाथ से पकड़ने में सफल हो सकें। अब दायाँ हाथ सीधा करके ऊपर उठाएँ, फिर दक्षिण-हाथ को शिर की ओर इस ढंग से सीधा करें कि दक्षिण-कन्धे से दायाँ कान सट जाय। अब उस दक्षिण हाथ को वाम हस्त पर रखें। इस प्रकार दक्षिण हाथ पूर्व-कथित स्थानों पर रोकते-रोकते ले जाएँ। इस प्रक्रिया को दाएँ पार्श्व की ओर झुका कर पूर्वोक्त विधि से करें और सम्पूर्ण आसन को ३—४ बार कर लें।

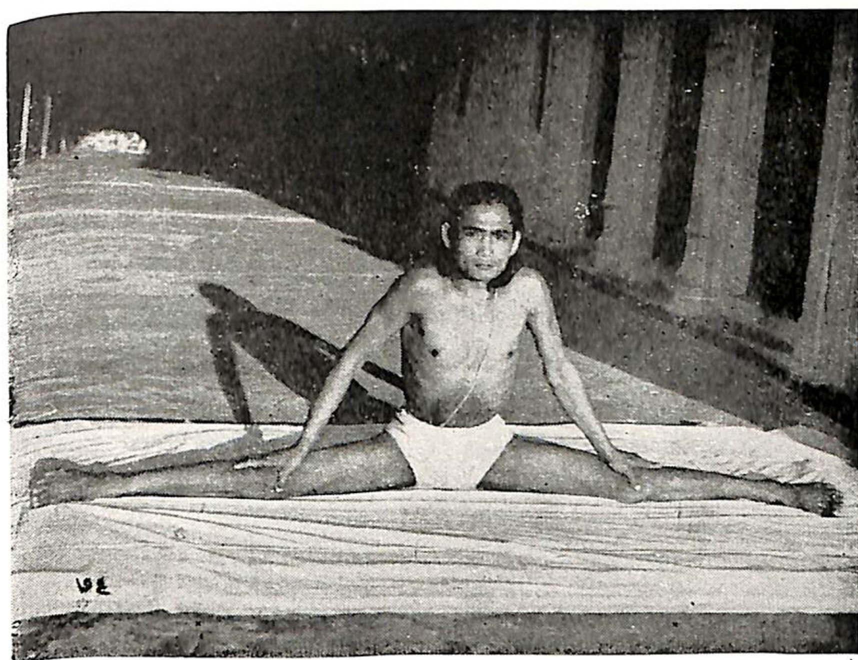
लाभ—इस के अभ्यास से सम्पूर्ण शरीर में रक्त-भ्रमण भली प्रकार और शीघ्रतापूर्वक होने से पीठ, कमर, ग्रीवा, कन्धे तथा भुजाएँ बलिष्ठ बनती हैं।

(७९) **विपरीतपादप्रसारण आसन**—सीधे खड़े होकर दोनों पैरों को क्रमशः दक्षिण-वाम ओर इतना फैलादें कि दोनों जाँघें और नितम्ब भूमि पर आ टिकें। अब दोनों हाथों को छाती से आगे बढ़ाकर जोड़ लें। तदनन्तर दोनों हाथों से दक्षिण टाँग की पिण्डली को पकड़कर मस्तक से दक्षिण-जानु का स्पर्श करें। पुनः दोनों हाथों से बाईं पिण्डली पकड़कर बाईं जानु के साथ मस्तक को स्पर्श करें। इसे कई बार दोहराएँ। यह आसन कठिन है इसलिए इसे धीरे-धीरे करने का प्रयत्न करें—शीघ्रता करने से कष्ट होगा।

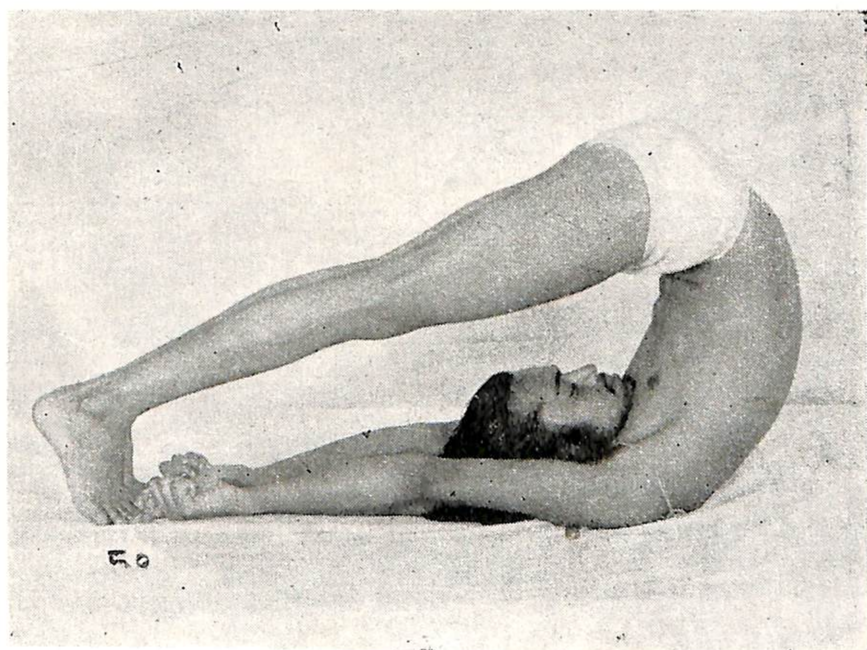
लाभ—इस आसन से सीवन तथा अण्डकोषों की नस-नाड़ियों पर विशेष रूप से अधिक खिंचाव पड़ता है, जिसके कारण इस प्रदेश की नाड़ियाँ बलिष्ठ-पुष्ट होती जाती हैं; हरनिया, अण्डकोष वृद्धि आदि रोगों का उपशमन होता है, तथा इस आसन के अभ्यासी ऐसे तथा धातु क्षीणता, गुर्दे के विकार, अपान का रुक जाना आदि दोषों में ग्रस्त नहीं होते। उपस्थ की दुर्बलता भी दूर होती है।

(८०) **पूर्वोत्तान-आसन**—भूमि पर पीठ के बल लेटकर दोनों टाँगों को परस्पर ऐसे मिलाएँ कि दोनों जानु, पैरों की दोनों एड़ियाँ, दोनों पंजे एक-दूसरे से मिल जाएँ। दायाँ हाथ दक्षिण ओर तथा वाम-हस्त बाईं ओर भूमि पर टेकते हुए टाँगों को उठाकर शिर के पिछली ओर इतना ले जाएँ कि पैरों के पंजे पृथ्वी पर टिक जाएँ—टाँगें सीधी तनी रहें—घुटने झुकें नहीं। अब दक्षिण हस्त से दक्षिण पाद का और वाम हस्त से वाम-पाद का अँगूठा पकड़ लें और पैरों को शिर की ओर धकेलते हुए ठोड़ी को छाती से लगा लें।

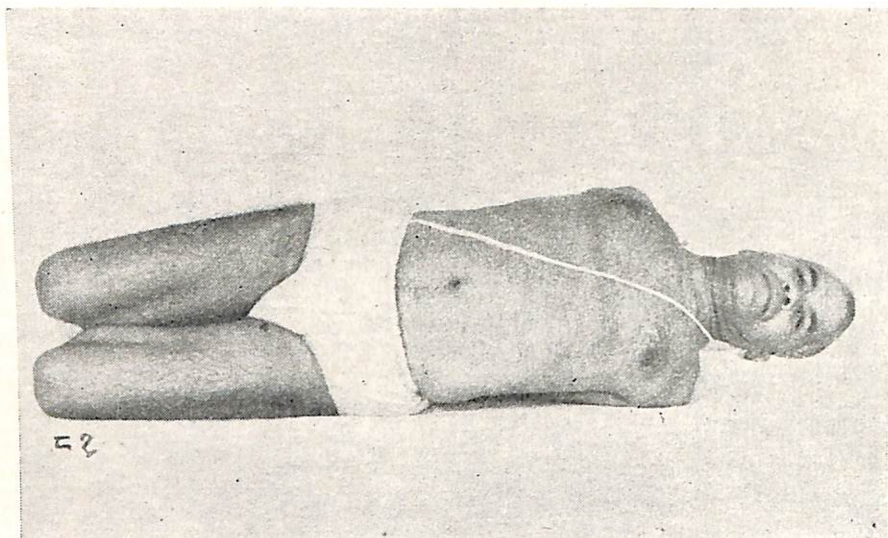
लाभ—इसके अभ्यास से, शरीर के ऊपरी भाग पर विशेष दबाव पड़ने से ग्रीवा, वक्षस्थल, स्कन्ध दृढ़ तथा लचकीले बनते हैं। कण्ठ-विकार दूर हो जाते हैं; रक्तशुद्धि के साथ फुप्फुसों तथा हृदय की शुद्धि होती है, मस्तिष्क की शक्तियों का विकास होता है, मन की स्थिरता के साथ बुढ़ापे के चिह्न देर से प्रकट होते हैं।



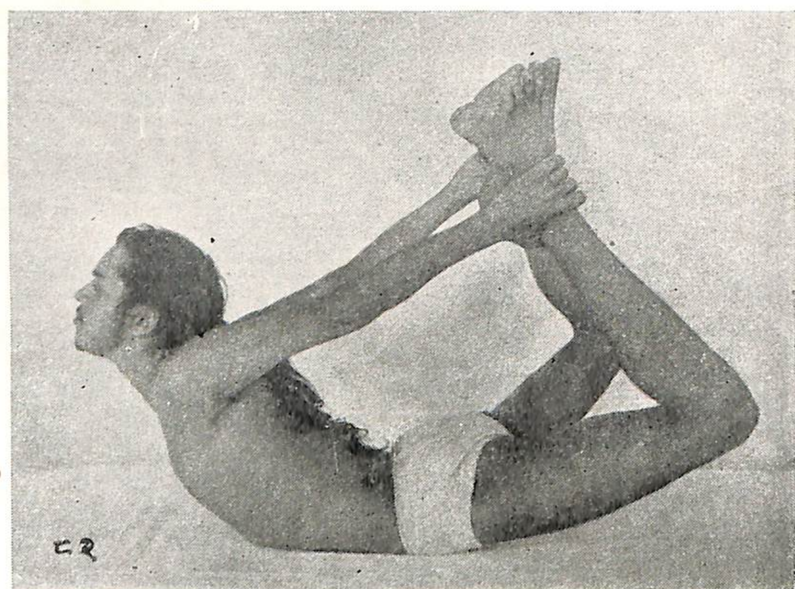
७६
विपरीतपाद-प्रसारण-आसन



८०
पूर्वोत्तान-आसन



८१
द्विपार्श्व-आसन



८२
धनुः-आसन

(८१) **द्विपार्श्व-आसन**—पेट के बल भूमि पर सीधे लेट जाएँ। फिर घुटने मोड़कर पैरों को पीठ की ओर करके दक्षिण-हस्त से दक्षिण पाद तथा वाम-हस्त से वाम-पाद को पकड़ लें। अब पूरक-कुम्भक करके दक्षिण तथा वाम की ओर बारम्बार लेटें अर्थात् करवटें बदलते रहें—कुम्भक बना रहे। यथाशक्ति इसे करके धीरे से रेचक करके पूर्व स्थिति में आजाएँ। इसी प्रकार ५-७ बार करें।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से मेद (चर्बी) की अधिकता से बढ़ा हुआ उदर शीघ्रता से घटने लगता है। स्थूल उदर वालों को यह आसन अवश्य प्रतिदिन करना चाहिए। यह आमाशय, पक्वाशय, और अन्तड़ियों की शक्ति को बढ़ाता, भूख लगाता, कब्ज़ हटाता और वक्षस्थल को भी चौड़ा करता है।

(८२) **धनुः आसन**—भूमि पर उदर के बल लेटकर, दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर, घुटनों को मोड़कर, पैरों को भी पीठ की ओर बढ़ा दें। अब दक्षिण हाथ से दक्षिण पाद का और वाम-हस्त से वाम पाद का गिट्टा (टखना) इस प्रकार पकड़कर ऊपर की ओर तानें कि पैरों की अँगुलियाँ भुजाओं की ओर हो जाएँ। पूरक करके कुम्भक करते हुए, ग्रीवा को ऊपर करते हुए शिर, मस्तक, छाती तथा हाथों से पकड़े पैरों को ऊपर आकाश की ओर दृढ़ता से तान दें। इस प्रकार प्रत्यञ्चा लगे धनुष (डोरी लगी कमान) के समान शरीर बन जायगा। यथासम्भव इसी स्थिति में रहकर, धीरे-धीरे रेचक करते हुए भूमि पर लेटने की स्थिति में आ जाएँ।

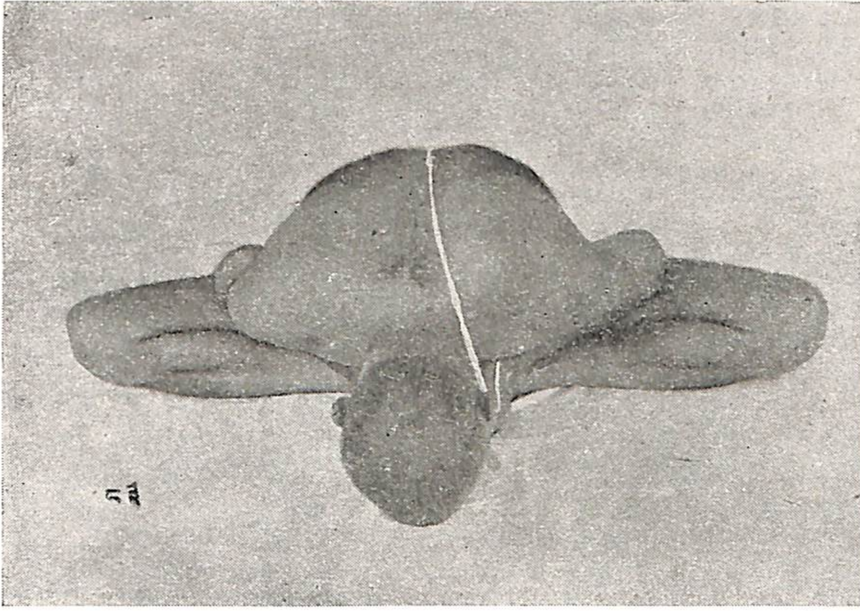
लाभ—इस आसन से मेरुदण्ड तथा उदर पर विशेष दबाव पड़ने से रीढ़ की कशेरुकाओं पर विशेष प्रभाव पड़ता है जिससे समस्त मेरुदण्ड लचकीला, दृढ़ तथा पुष्ट बनने लगता है। मन्दाग्नि नहीं होने पाती, उदर में भरा वायु निकल जाता है। स्कन्धों से लेकर भुजाएँ, हाथ तथा जाँघ, घुटने, पैरों की माँस-पेशियाँ, नस-नाड़ियाँ पुष्ट होती हैं। **स्मरण रहे—हृदय की धड़कन तथा रक्तचाप के रोगी इस आसन को कदापि न करें।**

(८३) **मूलपीड़ भू नमन-आसन**—गोरक्ष आसन की स्थिति में होकर दोनों कोहनियों को मोड़कर ठोड़ी से नीचे कण्ठकूप में लगा लें और छाती को नीचे भूमि की ओर झुकाते हुए मस्तक से भूमि का स्पर्श करें। रेचक द्वारा उदर-गत वायु को यथाशक्ति बाहर निकाल कर मुख बन्द करके नासिका के अग्रभाग को भूमि पर लगाएँ और यथा बाह्य-कुम्भक साधकर रेचन करते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएँ। इसकी कई आवृत्तियाँ कर लें।

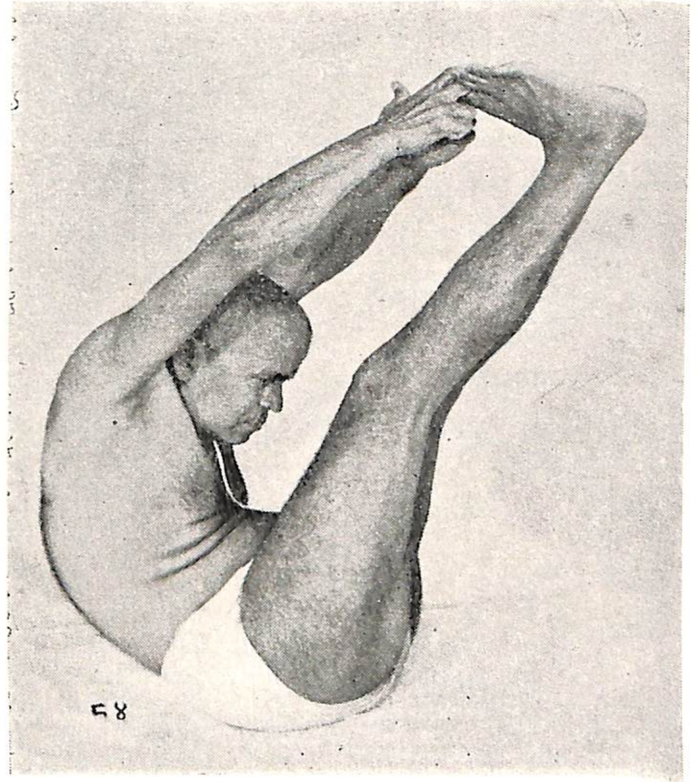
लाभ—इस आसन के निरन्तर करते रहने से कटि से लेकर सिर तक का भाग कोमल, लचकीला तथा पुष्ट होता रहता है। उदर कृश तथा जठराग्नि तीव्र हो जाती है, भूख लगने लगती है।

(८४) **पादहस्त-आसन**—भूमि पर पीठ के बल लेटकर पूरक करते हुए एड़ियों सहित पैरों को मिलाकर ऊपर की ओर उठा लें। अब दोनों भुजाओं को भी शिर, ग्रीवा और छाती सहित ऊपर को इतना उठाएँ कि दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे भलीभाँति पकड़ में आ जाएँ। इसके पश्चात् मस्तक को घुटनों से लगा दें। यथाशक्ति कुम्भक रखकर, धीरे-धीरे रेचक करते हुए पूर्व स्थिति में लेट जाएँ। इसे कई बार करें।

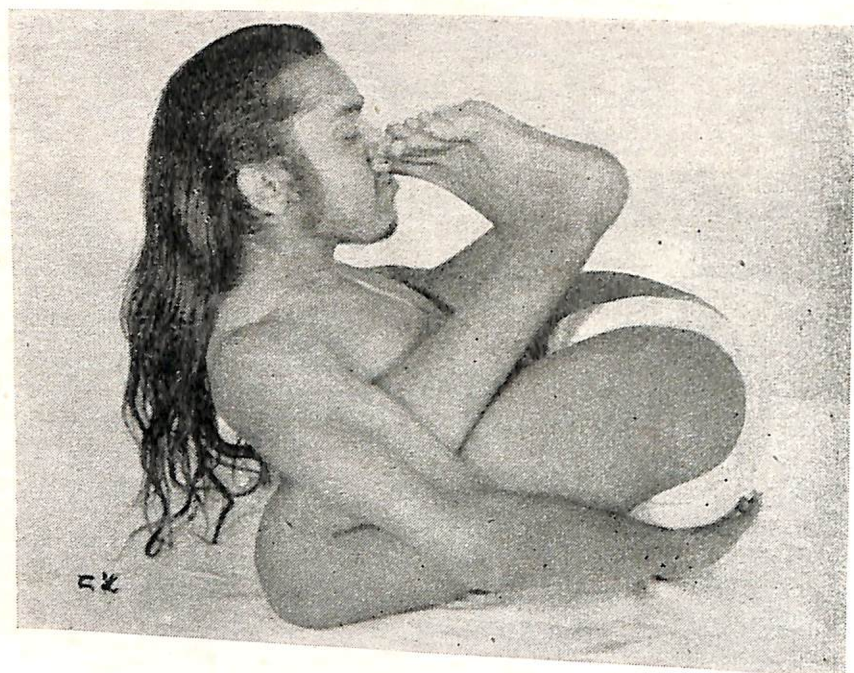
लाभ—इसके अभ्यास से उदर, कटि, नितम्ब स्वस्थ एवं पुष्ट रहते हैं। उदर हल्का, पतला, कोमल हो जाता है; उदर में वात-विकार नहीं होने पाते।



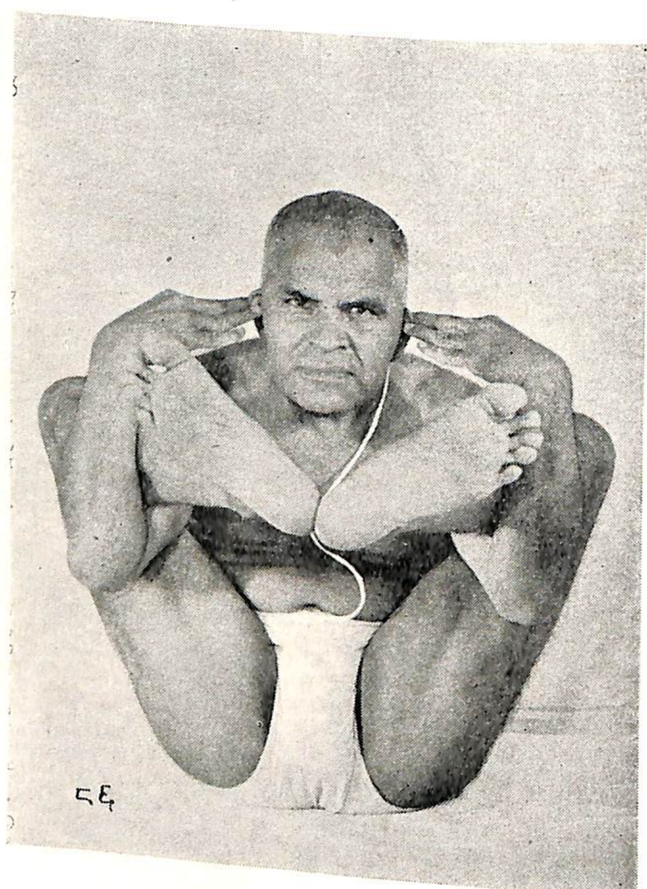
८३
मूलपीड़-भू-नमन-आसन



८४
पाद-हस्त-आसन



८५
पृष्ठ-बद्ध-पादांगुष्ठ-नासिका-स्पर्श-आसन



८६
हस्त-भुजा-आसन

(८५) **पृष्ठबद्ध पादाँगुष्ठ नासिका स्पर्श आसन**—भूमि पर चित्त लेटें। अब दोनों पैरों को इस प्रकार ऊपर को मोड़ें कि दोनों घुटने, दोनों बगलों में भूमि से आ सटें। तदनन्तर घुटनों सहित कमर को भुजाओं में बाँध लें। फिर पूरक करते हुए शिर को किंचित् उठा कर नासिका से पैरों के अँगूठों का स्पर्श करें, दोनों हाथों की अँगुलियाँ कमर के नीचे परस्पर गुम्फित करके स्थिर कर दें।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से उदर पर विशेष दबाव पड़ने के कारण बढ़ा हुआ उदर क्रमशः पतला पड़ता जाता है, फुप्फुस तथा वक्षस्थल पुष्ट होते हैं।

(८६) **हस्तभुजा-आसन**—दोनों टाँगों को सामने फैलाकर बैठें और घुटनों के नीचे दोनों हाथों को इस प्रकार से ले जाएँ कि दोनों भुजाओं पर दोनों पिण्डलियाँ उठ जाएँ। अब पूरक-कुम्भक करके दोनों हाथों से ग्रीवा को पकड़ लें, दोनों पाद-तल आगे मिले रहें और नितम्बों पर शरीर का भार तुल जाए। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहें।

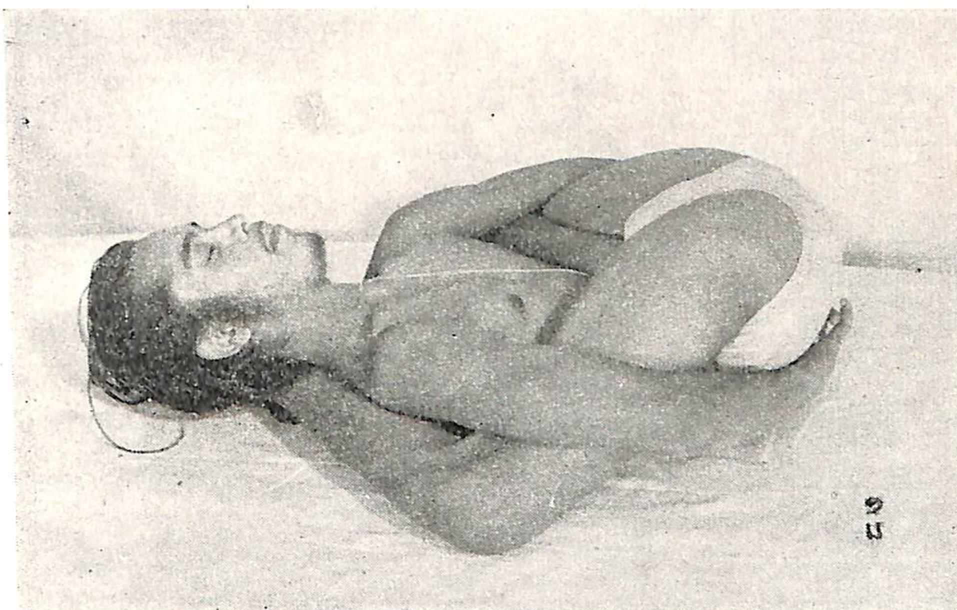
लाभ—इस आसन के अभ्यास से स्कन्ध, भुजाएँ विशेष रूप से पुष्ट होते हैं, और उदर पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(८७) **सुप्त एकपाद शिर आसन**—दोनों पैरों को फैलाकर बैठें। अब वाम-पाद, दक्षिण जंघा मूल में लगाकर पीठ के सहारे लेट जाएँ। फिर दक्षिण पैर को ग्रीवा के ऊपर रख कर दोनों हाथों को कमर के नीचे ले जाकर परस्पर इस प्रकार बाँधें कि छाती जानुओं से दबकर हाथ उसके ऊपर आ जाएँ। इसी प्रकार पैर बदल कर इसे करें।

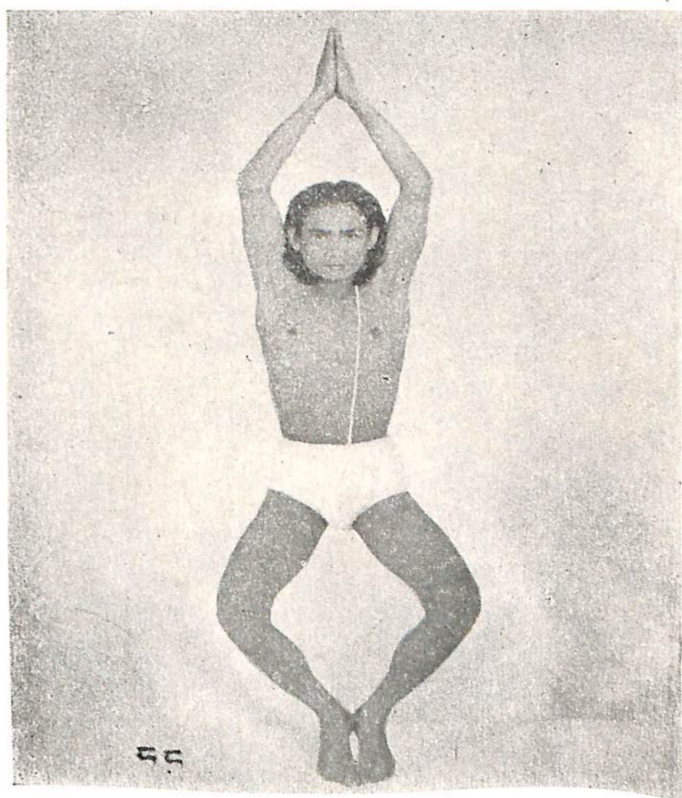
लाभ—इस आसन के पुनः-पुनः अभ्यास से जिगर-तिल्ली के दोष दूर होकर कोष्ठ-बद्धता नष्ट हो जाती है, शरीर स्वस्थ रहता है, और उदर में वायु नहीं उत्पन्न होती।

(८८) **अर्द्ध उत्थित आसन**—प्रथम सीधे खड़े होकर श्वास को अन्दर भरें, अब पैरों के पंजों पर—अँगुलियों पर समस्त शरीर का भार उठाकर, घुटनों को कुछ मोड़कर, आधे खड़े हों अथवा आधे बैठे-से हो जाएँ। दोनों हाथों को शिर से ऊपर करके परस्पर मिलाएँ। पैरों के मध्य में एक हाथ की दूरी रहे। अब कुम्भक साध कर अर्द्ध-उत्थित रूप में रहें। इसको पुनः-पुनः करें।

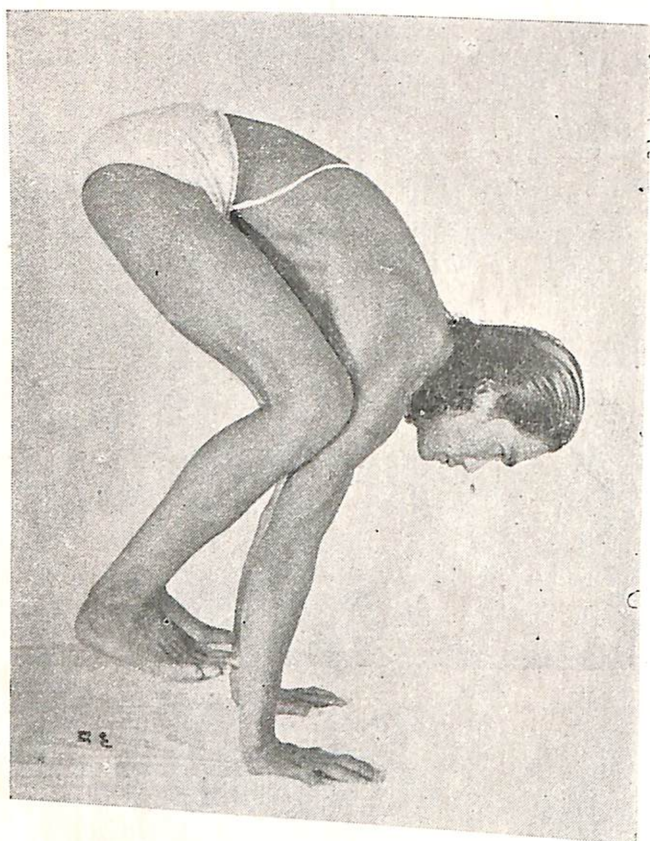
लाभ—जिन्हें मलबद्धता (कब्ज़) रहती हो, यदि वे एक गिलास जल पीकर बिना प्राणायाम किये इस आसन को करें तो उन्हें शौच सुगमता से होता है। और कब्ज़ का रोग भी कुछ दिनों में दूर हो जाता है। पैर तथा हाथों की शक्ति तो बढ़ती ही है।



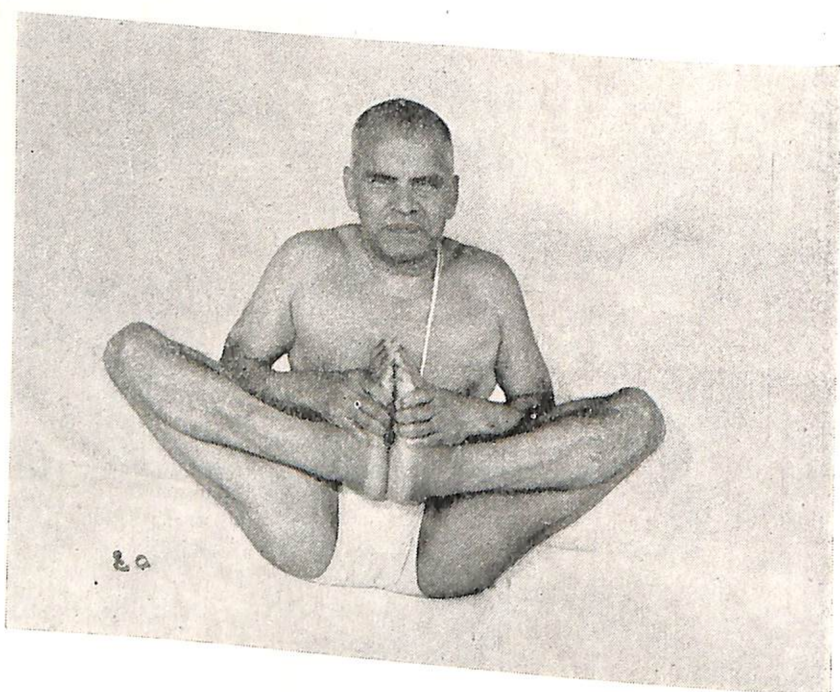
८७
सुप्त-एकपाद-
शिर-आसन



८८
अर्ध-उत्थित-आसन



८९
क्रौंच-आसन



९०
नाभि-पीड़-आसन

(८९) **कौंच-आसन**—सीधे खड़े होकर दोनों हथेलियाँ भूमि पर दृढ़ता से स्थापित करें। दोनों घुटने दोनों कोहनियों पर इस प्रकार जमाएँ कि समस्त शरीर हाथों पर तुल जाए। अब दोनों पैरों के पंजे धीरे-धीरे मणिबन्ध (कलाई) पर लाएँ और दृष्टि आकाश में रहे।

लाभ—इससे भुजाएँ बलिष्ठ, और वक्षस्थल विकसित एवं चौड़ा होता है तथा प्राण बलशाली बनता है।

(९०) **नाभि पीड़ आसन**—दोनों टाँगों को सामने पसार कर बैठें। अब दोनों हाथों से पाद-तलों को संयुक्त करके, पंजों को पकड़कर, कुछ ऊपर उठाकर नाभि के निकट लाकर, हाथों के बल से पैर की एड़ी और अँगूठों को पेट और छाती से स्पर्श कराएँ। इसी स्थिति में कुछ देर रहें तथा इस स्थिति को यथाशक्ति बढ़ा लें।

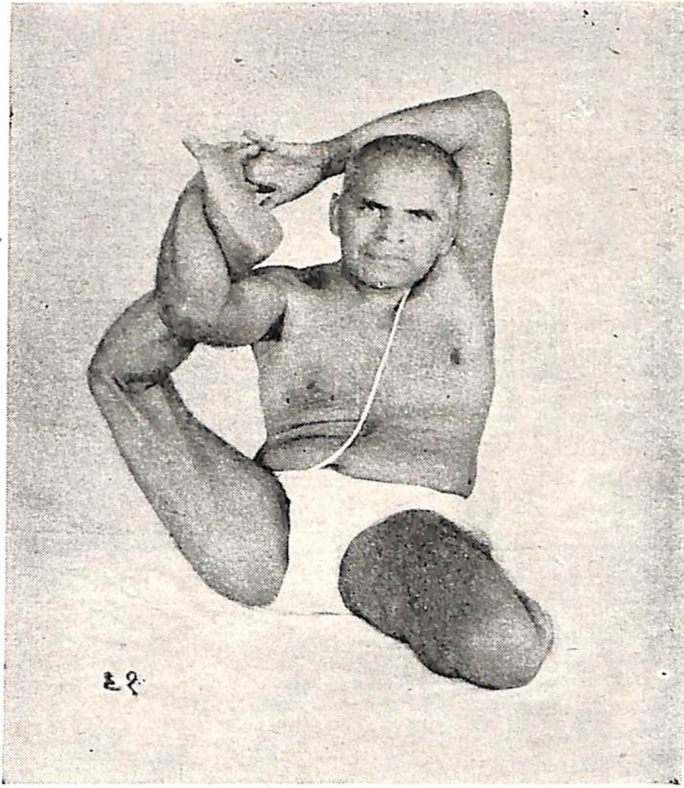
लाभ—इसके अभ्यास से हाथ और पैरों का बल बढ़ता है। उदर की शक्ति तथा अँतड़ियों का बल बढ़ता है। प्राण की गति सुषुम्ना में होने लगती है। वीर्य वाहिनी-नाड़ियाँ पुष्ट होती हैं।

(६१) **पादहस्त चतुष्कोण-ग्रासन**—दोनों पैर सामने फैला कर बैठें। अब बाएँ पैर के घुटने को पीछे मोड़कर वाम-नितम्ब के साथ रखें और दक्षिण पैर को उठाकर दक्षिण-भुजा पर ले जाएँ तथा वामहस्त को ऊपर पीठ की ओर से ले जाकर दक्षिण हस्त के साथ परस्पर बाँध लें और पूरक करके श्वास को रोक लें। कुछ देर इसी स्थिति में रहकर पूर्व स्थिति में आ जाएँ। इसके पश्चात् पुनः पैर बदलकर भी करें।

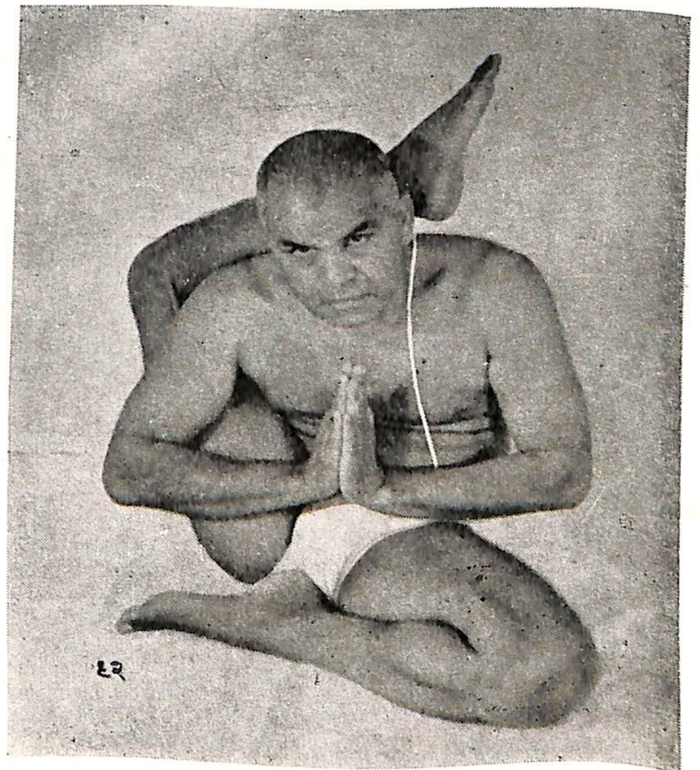
लाभ—इसके अभ्यास से भुजाओं और टाँगों की सन्धियाँ लचकीली तथा दृढ़ होती हैं। अँतड़ियों को विशेष बल मिलता है, अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी सुदृढ़ बनते हैं।

(६२) **एकपाद-ग्रीवा आसन**—दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठें। घुटना मोड़कर वाम पाद की एड़ी अण्डकोशों के समीप रखें। तदनन्तर दक्षिण पाँव उठाकर, शिर के पृष्ठभाग ग्रीवा पर स्थापित करके दोनों हाथ आगे को जोड़ लें, और यथा-सम्भव इसी स्थिति में रहें। इसे पैर बदलकर भी करना चाहिए।

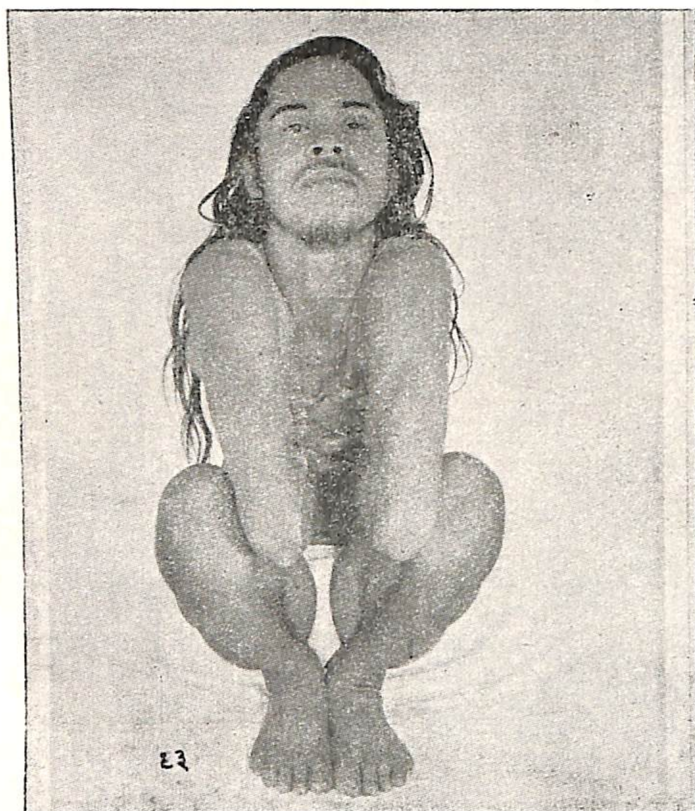
लाभ—इस आसन के अभ्यास से स्कन्ध तथा वक्षस्थल बलवान और पैरों के अवयव लचकीले होते हैं।



६१
पाद-हस्त-चतुष्कोण-आसन



६२
एकपाद-ग्रीवा-आसन



६३
वक्षस्थल-जानु-पीड़न-आसन



६४
विपरीत हस्त-
भू-नमन-आसन

(९३) **वक्षस्थल जानुपीड़न-ग्रासन**—दोनों पैरों के बल बैठें। तत्पश्चात दोनों हाथों की ग्रँगुलियाँ परस्पर गूँथ कर हथेलियाँ वक्षस्थल पर दृढ़ता से स्थापित करके कोहनियाँ सामने दोनों जानुग्रों के बीच में करलें। ग्रब दोनों जानुग्रों को इतना दबाएँ कि दोनों कोहनियाँ परस्पर मिल जाएँ। इसे कई बार करें।

लाभ—इसके ग्रभ्यास से स्कन्ध, भुजा तथा हाथों के सन्धि-स्थान विशेष लचकीले ग्रौर सुदृढ़ बनते हैं, ग्रौर हथेलियाँ तथा कर-पृष्ठ (हथेलियों का पृष्ठ भाग) शक्तियुक्त बनते हैं।

(९४) **विपरीत हस्त-भूनमन-ग्रासन**—दोनों पैर सामने फैलाकर बैठें ग्रौर दोनों हाथों को पीठ की ग्रोर ले जाकर परस्पर उल्टा जोड़ लें। फिर पैरों को एक हाथ की दूरी पर रखकर प्राण को रोककर, ग्रौर शिर को झुकाकर टाँगों के मध्य भूमि पर लगा दें। इसे कई बार दोहराएँ।

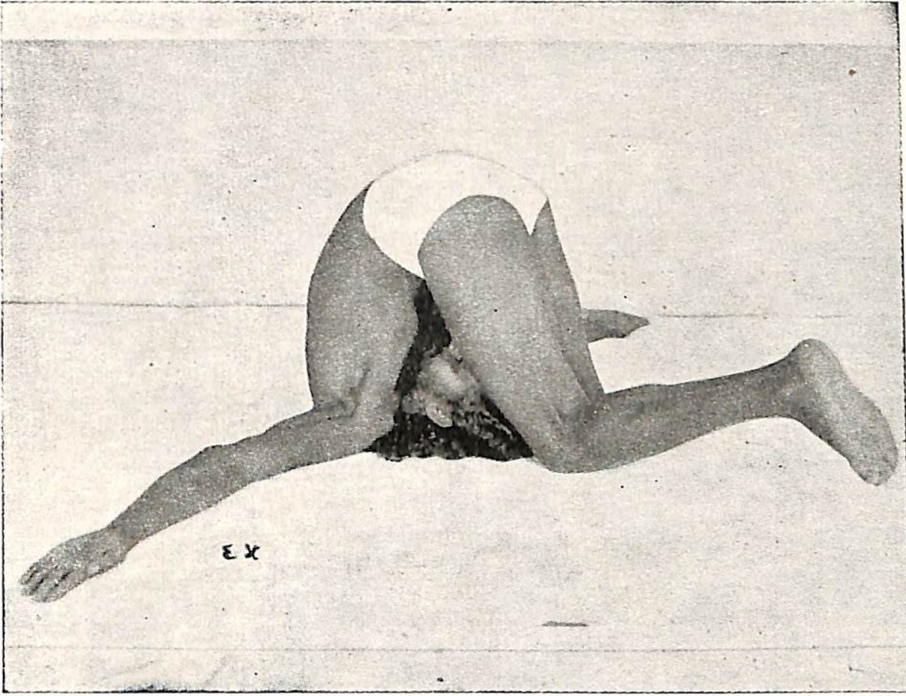
लाभ—इसके ग्रभ्यास से पाचन-शक्ति बढ़ती है, कोष्ठ-बद्धता निवृत्त हो जाती है ग्रौर पेट पतला पड़ जाता है।

(६५) **शिर-पीड़-ग्रासन**—भूमि पर चित्त लेट जाएँ और सर्वांग-ग्रासन की स्थिति में होकर, पैरों को उठाकर हलासन जैसी ग्राकृति बनाएँ। ग्रब पैरों को घुटनों से मोड़कर, दोनों हाथों से टाँगों को बाँधकर दोनों घुटने शिर पर स्थापित करके धीरे-धीरे शिर के ऊपर से ले जाकर घुटनों से भूमि का स्पर्श करें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहें। थक जाने पर पूर्व स्थिति में ग्रा जाएँ।

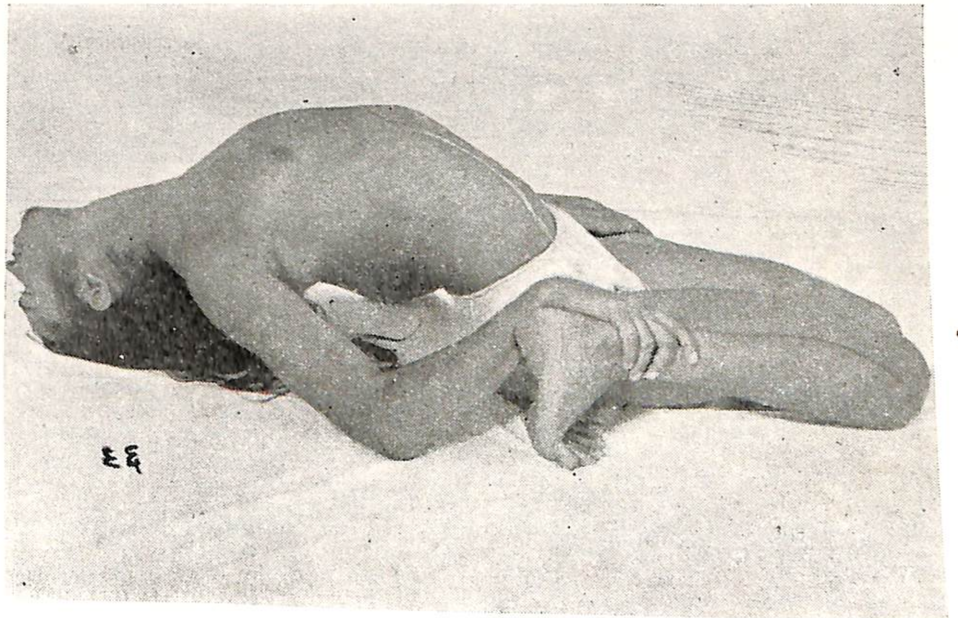
लाभ—यह ग्रासन उदर के लिए ग्रति-उपयोगी है। उदर के ग्रनेक विकार तथा दोषों को दूर करके, सब प्रकार की शक्तियों को बढ़ाता है। सर्वांगों सहित शरीर को सबल ग्रौर लचीला बनाता है।

(६६) **सुप्त-पादाँगुष्ठ-ग्रासन**—दोनों घुटनों को मोड़कर पैरों को, नितम्बों के दोनों ग्रोर इस प्रकार रखें कि एड़ियाँ ऊपर को ग्रौर ग्रँगुलियाँ नीचे भूमि पर दृढ़ता से स्थित हो जाएँ। ग्रब पूरक करके पीठ की ग्रोर झुककर शिर को भूमि पर टिका लें ग्रौर हाथों से दोनों एड़ियों को स्पर्श करें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर पूर्वस्थिति में ग्रा जाएँ।

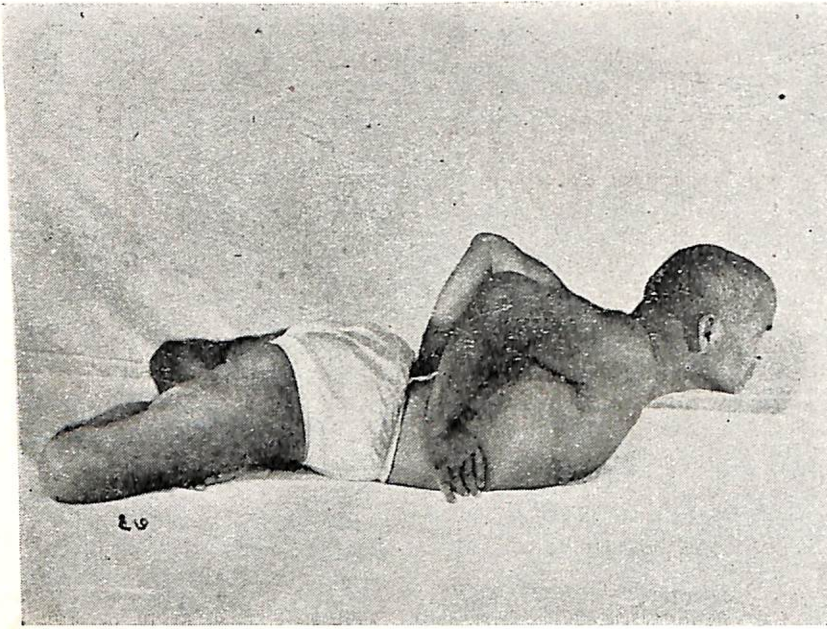
लाभ—इस ग्रासन के ग्रभ्यास से पैरो की सन्धियों के विकार दूर होकर उन की शक्ति में बृद्धि होती है; लचकीलापन ग्राता है, उरु, जंघा, घुटने, लचीले, कोमल ग्रौर सशक्त बनते हैं।



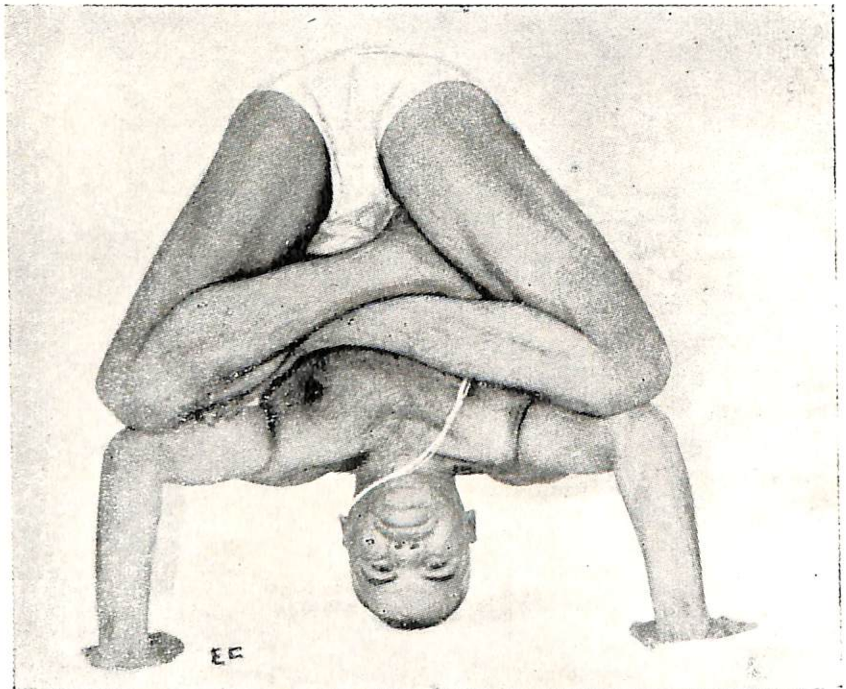
९५
शिरपीड़-आसन



९६
सुप्त-पादांगुष्ठ-
आसन



९७
खग-आसन



९८
पद्म-शिर-आसन

(९७) खग-आसन—पद्मासन लगाकर उदर के बल लेट जाएँ और श्वास को पूर्णतया अन्दर भर लें। फिर दोनों हाथों से पसलियों को पकड़कर शिर, ग्रीवा, छाती को यथाशक्ति ऊपर को उठाकर प्रायः इसी स्थिति में रहें। थकने पर रेचक करते हुए पूर्वस्थिति में आ जाएँ।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से मूत्राशय तथा आँतों की शुद्धि एवं पुष्टि होती है, जिससे मूत्र-सम्बन्धी विकार नहीं होते; और त्रिदोष—वात, पित्त, कफ़ की वृद्धि नहीं होती।

(९८) पद्म-शिर-आसन—पहले पद्मासन लगा लें। फिर दोनों हथेलियाँ भूमि पर दृढ़ता से जमा कर, हाथों पर पद्मासन सहित शरीर को उठा कर, दोनों कोहनियों पर घुटनों को टेक दें। अब शिर को झुकाकर धीरे-धीरे भूमि की ओर बढ़ाते हुए मस्तक को भूमि पर टेक दें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर फिर पूर्वस्थिति में आ जाएँ। इसे २-३ मिनिट से अधिक देर तक न करें।

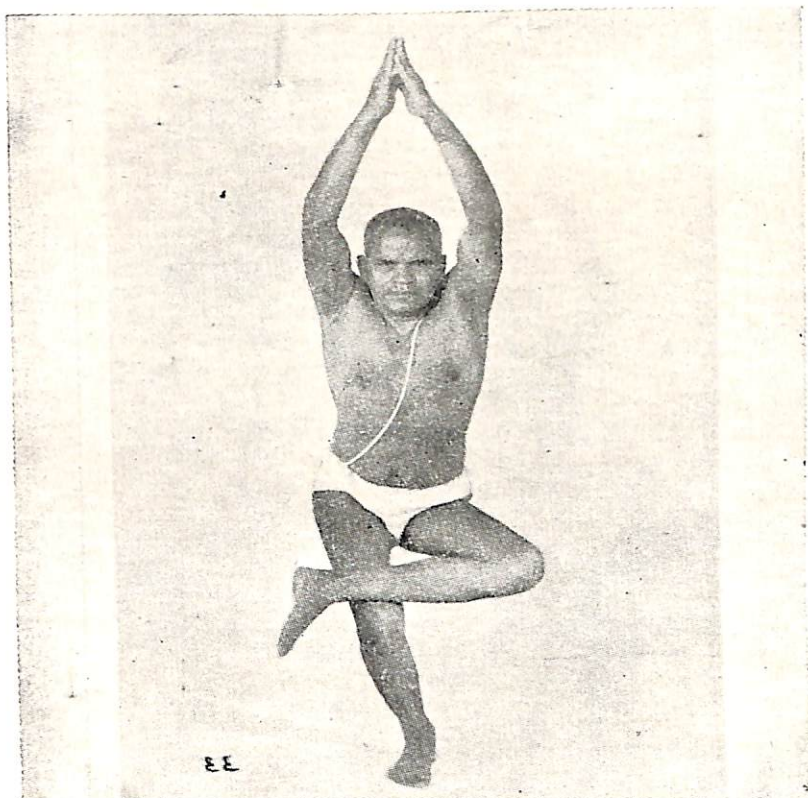
लाभ—इसके निरन्तर अभ्यास से मस्तिष्क, नेत्र, वक्षस्थल, हृदय आदि अङ्ग शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होती है और कब्ज़ दूर होता है। जुकाम दूर होता है और भविष्य में भी नहीं होता।

(९९) **एकपाद-विराम-आसन**—प्रथम खड़े होकर पैरों को परस्पर मिलाएँ, अब बाएँ पाँव को दक्षिण घुटने पर दृढ़ता से रखें, पूरक करके कुम्भक साध लें, और आधा बैठकर दोनों हाथों को शिर के ऊपर सीधे करके जोड़ लें।

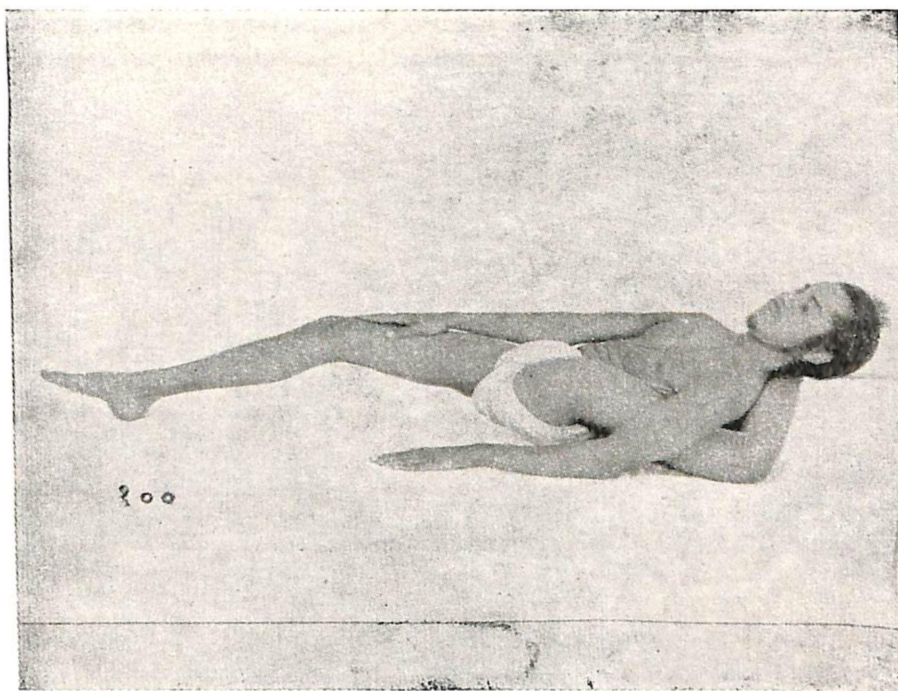
लाभ—इस आसन से पूर्ण-विश्राम मिलता है; और उरु, जाँघें, जानु सुदृढ़ होते हैं।

(१००) **उपधान-आसन**—पहले चित्त होकर लेटें। फिर दाँई टाँग शिर के नीचे ले जाकर तकिए के समान टिका लें। अब बाम-पाद सीधा भूमि पर फैला लें। पश्चात् वाम-हस्त को दक्षिण-जानु पर रख कर दाएँ को भूमि पर रख दें। श्वास-प्रश्वास की गति को धीमी करके विश्राम लेने की स्थिति में हो जाएँ।

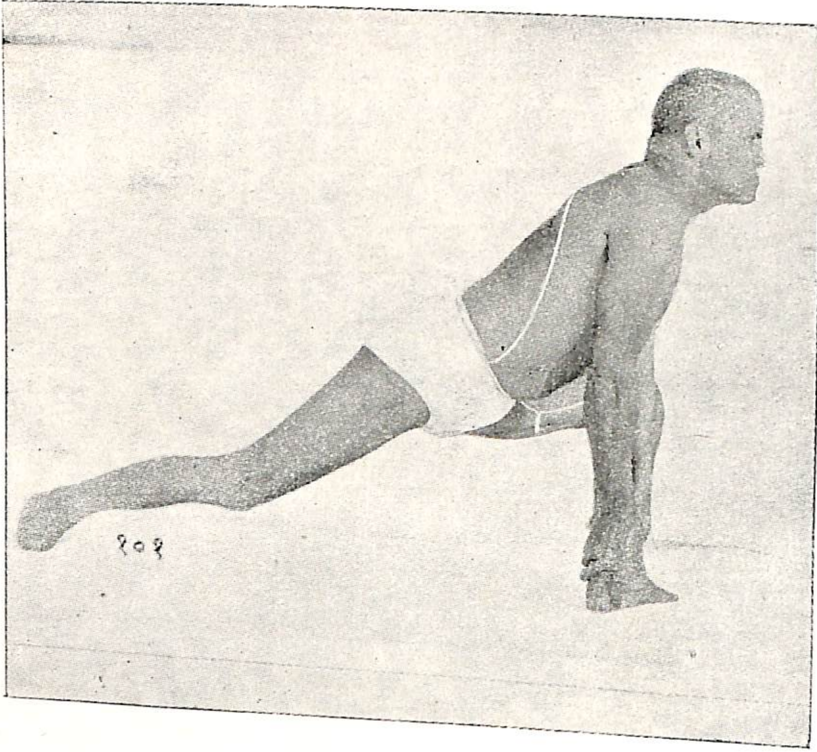
लाभ—यह आसन पूर्ण-विश्राम लेने का है। इससे शरीर हल्का और स्वस्थ रहता है।



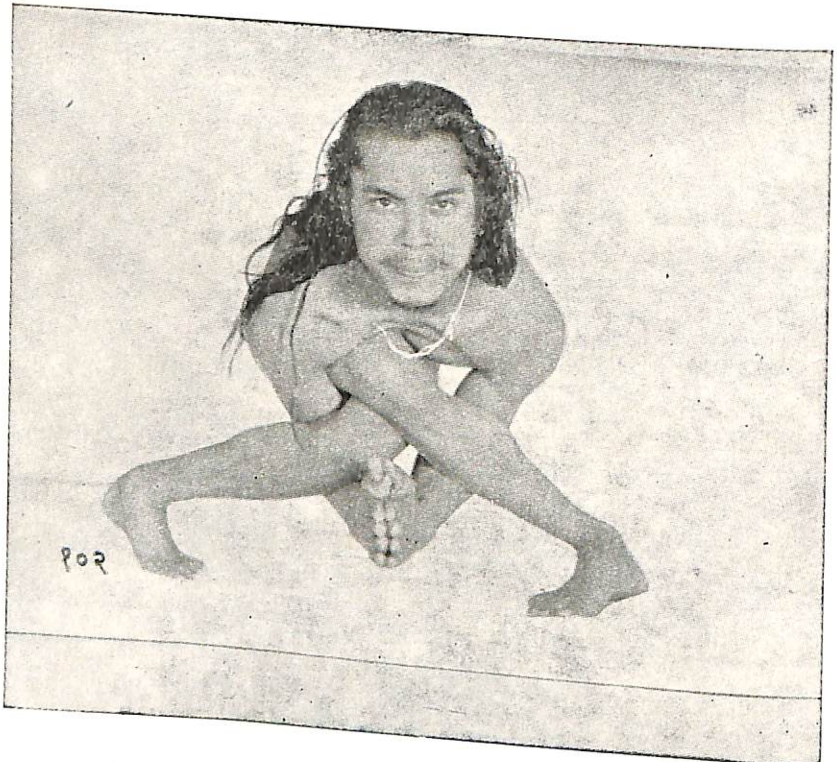
९९
एकपाद-विराम-आसन



१००
उपधान-आसन



१०१
एकपाद-द्विहस्तबद्ध-आसन



१०२
मेरुदण्डवक्र-आसन

(१०१) **एकपाद-द्विहस्तबद्ध-आसन**--दोनों पैरों में तीन हाथ का अन्तर रखकर खड़े हों। अब बाईं ओर को मुड़ें और दोनों पैरों के पंजे बाईं ओर को घुमा लें, अँगुलियाँ बाहर हो जाएँ और एड़ियाँ अन्दर। अब बाईं ओर झुककर दोनों हाथों से बाएँ-पैर का गिट्टा पकड़ कर छाती सामने तान कर दक्षिण टाँग को अकड़ाते हुए इसी स्थिति में कुछ देर रहें। पैर तथा पार्श्व बदल कर भी करें।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से सर्वांगों की सन्धियाँ तथा नस-नाड़ियाँ बलिष्ठ होती हैं।

(१०२) **मेरुदण्ड-वक्र-आसन**—सीधे खड़े होकर पैर मिला लें। अब बाएँ पैर को दक्षिण पैर के विपरीत इस प्रकार ले जाएँ कि दक्षिण घुटने पर बाईं जंघा हो जाए। तदनन्तर कटिप्रदेश को कुछ झुकाकर दोनों हाथों को पैरों के मध्य में डालकर आगे को परस्पर जोड़ लें।

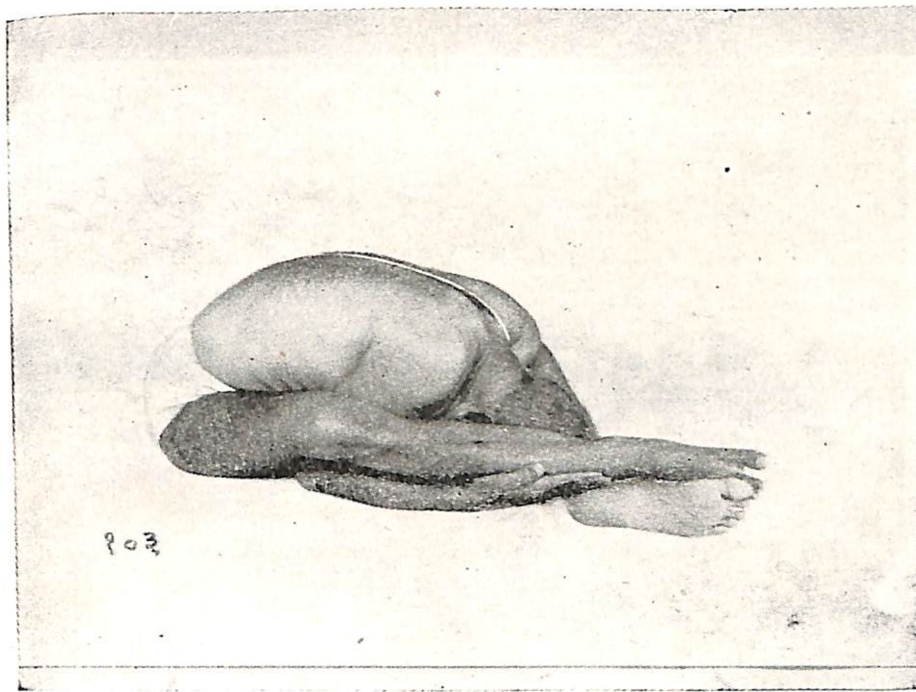
लाभ—इस आसन के अभ्यास से भी नस-नाड़ियाँ, सन्धियाँ कोमल, सुदृढ़ और पुष्ट होती हैं।

(१०३) **शिला-श्रासन**—सामने पैर फैलाकर बैठें। फिर दोनों पैरों को उठाकर ग्रीवा पर रखें और श्वास अन्दर खींचकर शिर को आगे झुकाकर भूमि पर टेक दें। अब दोनों भुजाओं को कोहनियों से इस प्रकार मोड़ें कि कोहनियाँ अन्दर हो जाएँ। इसी स्थिति में यथाशक्ति रहें।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से पाचनशक्ति बढ़ती है और शरीर स्वस्थ रहता है।

(१०४) **पादसन्तुलन-श्रासन**—सीधें खड़े होकर पैर मिला लें। अब दक्षिण-पैर को ऊपर उठाकर एवं दक्षिण भुजा पर रखकर ऊपर ले जाएँ। फिर वाम-हस्त को ऊपर शिर की ओर ले जाकर दक्षिण-हस्त की अँगुलियों से परस्पर बाँधकर ऊपर को ताने रहें। इस प्रकार पैर बदलकर भी करें। इसका अभ्यास पूरक करके कुम्भक साधे रखकर करना चाहिए।

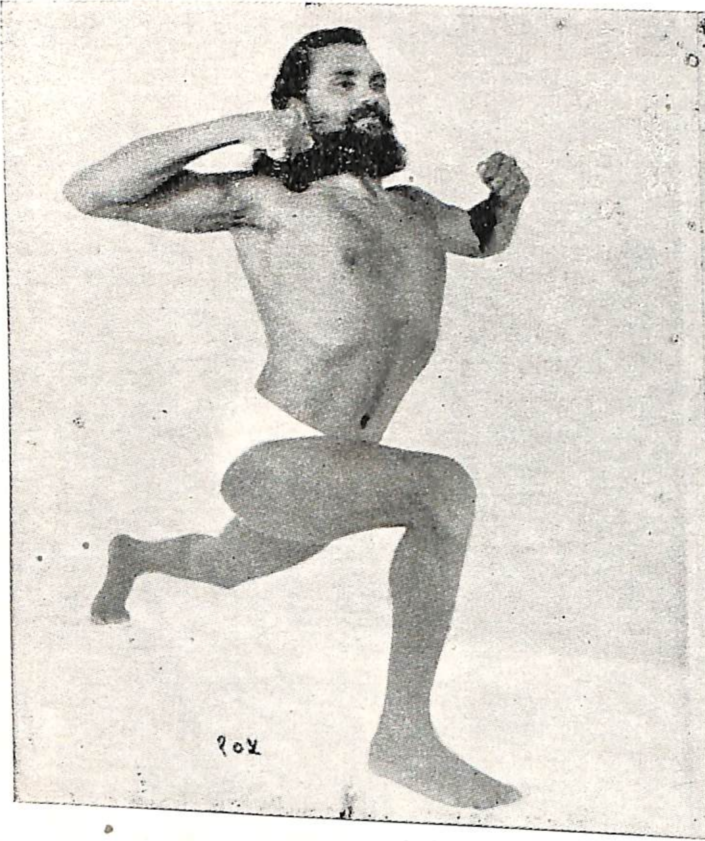
लाभ—इस आसन के अभ्यास से पैर तथा भुजाएँ बलिष्ठ तथा सुडौल बनती हैं।



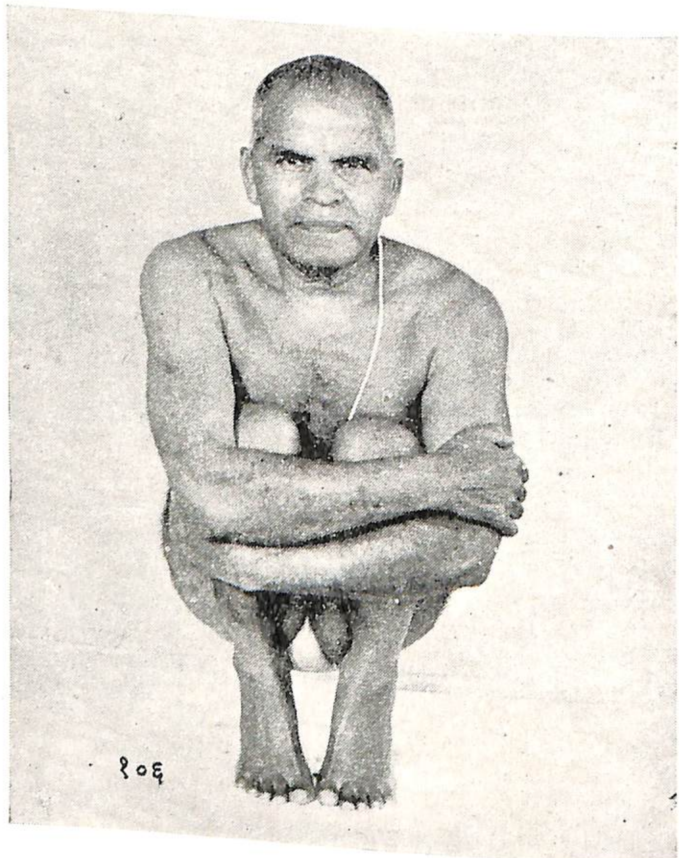
१०३
शिला-आसन



१०४
पादसन्तुलन-आसन



१०५
महावीर-आसन



१०६
जानुबद्ध-पादांगुल-आसन

(१०५) **महावीर-आसन**—सीधे खड़े होकर दक्षिण-पैर को दो हाथ आगे रख दें। अब श्वास अन्दर भरकर कुम्भक करलें और हाथों की मुट्ठियाँ बाँधकर छाती के बराबर तानकर छाती को फुलाकर आगे को तान दें। इसी स्थिति में रहकर फिर दूसरे पैर से भी करें।

लाभ—यह आसन वक्षस्थल का विकास करता है, प्राण को बली बनाता है, भुजाओं और फुप्फुसों को शक्ति-सम्पन्न करता है। कफ़ और वायु के विकारों से वक्षस्थल को सुरक्षित रखता तथा मुख को तेजस्वी बनाता है।

(१०६) **जानुबद्ध-पादाँगुल-आसन**—खड़े होकर पैर मिला लें। अब इसी अवस्था में इस प्रकार बैठें कि नितम्ब ऊँचे रहें। दोनों हाथों से दोनों घुटनों को पकड़कर, पूरक करके, सम्पूर्ण शरीर को ऊपर को तान दें। शरीर का समस्त भार केवल पैरों के अँगूठों पर ही रहे। कुछ काल इसी स्थिति में रहकर रेचक करते हुए पूर्वस्थिति में आ जाएँ।

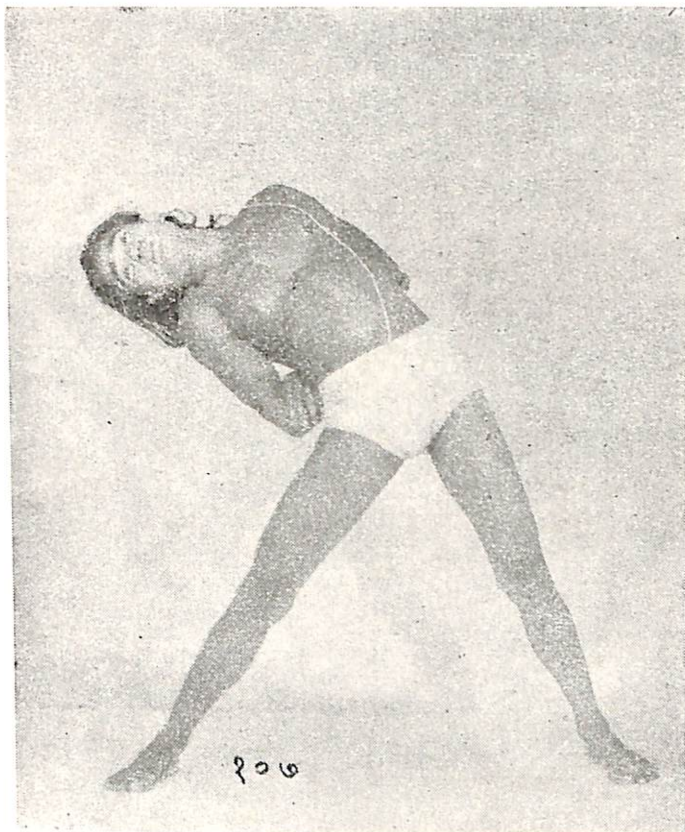
लाभ—इसके अभ्यास से उदर-सम्बन्धी विकार दूर होते हैं और पैरों के अँगूठे-अँगुलियाँ दृढ़ बनती हैं।

(१०७) **उत्थित कुम्भक-आसन**—सीधे खड़े होकर दोनों पैरों के मध्य में डेढ़ हाथ का अन्तर कर लें। अब दोनों हाथ पीठ की ओर ले जाकर दक्षिण हाथ से बाईं और वाम-हस्त से दाईं कोहनी पकड़ लें। उदर को कण्ठ तक श्वास से परिपूर्ण कर लें। अब इसी स्थिति में कटि से ऊपरी भाग को चारों ओर चक्राकार घुमाएँ। एक प्राणायाम से एक ओर (दक्षिण ओर) चक्र काटकर, दूसरी बार दूसरे प्राणायाम से दूसरी ओर (वाम ओर) का चक्र काटें। इस बात की सावधानी रखें कि चक्र शीघ्रता से नहीं किन्तु धीमी गति से लगाएँ, जिससे शिर न चकराए और भूमि पर न गिर पड़ें। प्रथम बिना प्राण रोके ही करें, फिर धीरे-धीरे प्राणायाम सहित करने का अभ्यास करें।

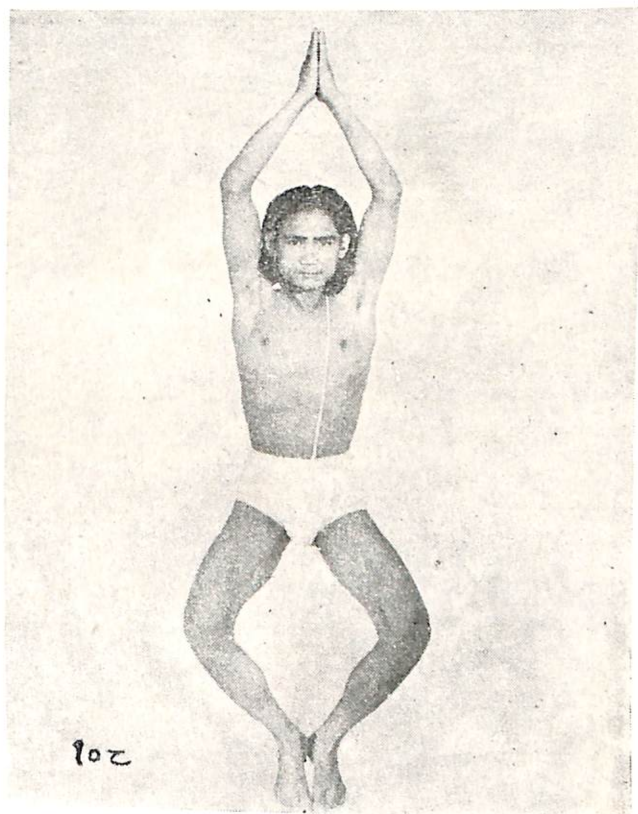
लाभ—यह आसन उदर-सम्बन्धी-विकारों को दूर करने के लिए अतिउपयोगी है। आमाशय तथा पक्वाशय को ठीक रखकर अजीर्ण नहीं होने देता। उदर को पतला, छाती को दृढ़ बनाता और भूख बढ़ाता है।

(१०८) **पादाँगुष्ठ उत्थित-आसन**—पैरों की अँगुलियों को अन्दर मोड़कर केवल पैरों के अँगूठों पर सीधे खड़े हो जाएँ। यत्न करें कि सारे शरीर का भार अँगूठों पर ही तुल जाए। अब पूरक करके कुम्भक रखकर घुटने मोड़कर अधबैठे हो जाएँ, दोनों हाथ शिर से ऊपर सीधा खड़े करके जोड़ लें और यथाशक्ति इसी स्थिति में रहने का प्रयत्न करें।

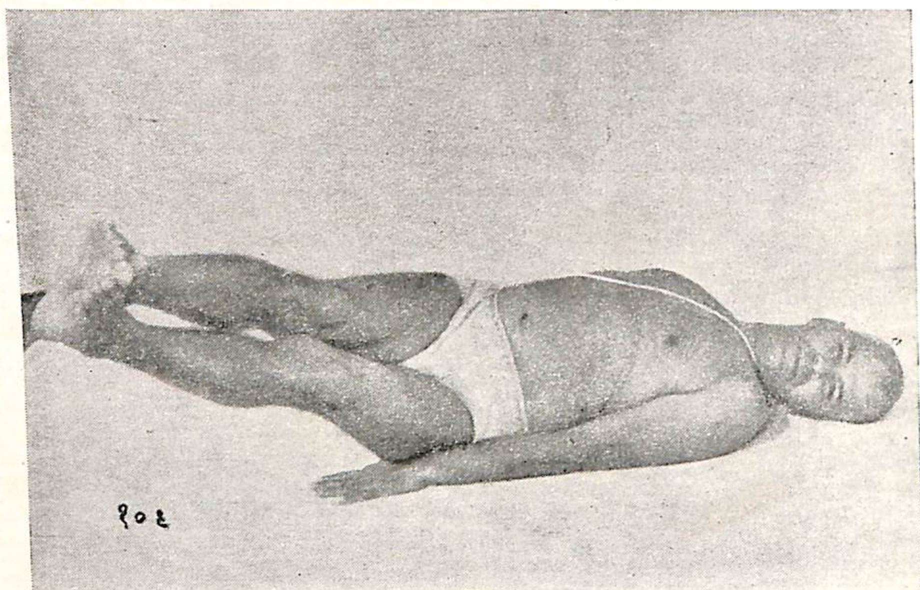
लाभ—इस आसन से जाँघों और पिण्डलियों की शक्ति बढ़ती है, पैरों का कम्प और नाड़ियों की निर्बलता दूर होकर विशेष रूप से पैरों के अँगूठे दृढ़ बनते हैं एवं अँगुलियों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।



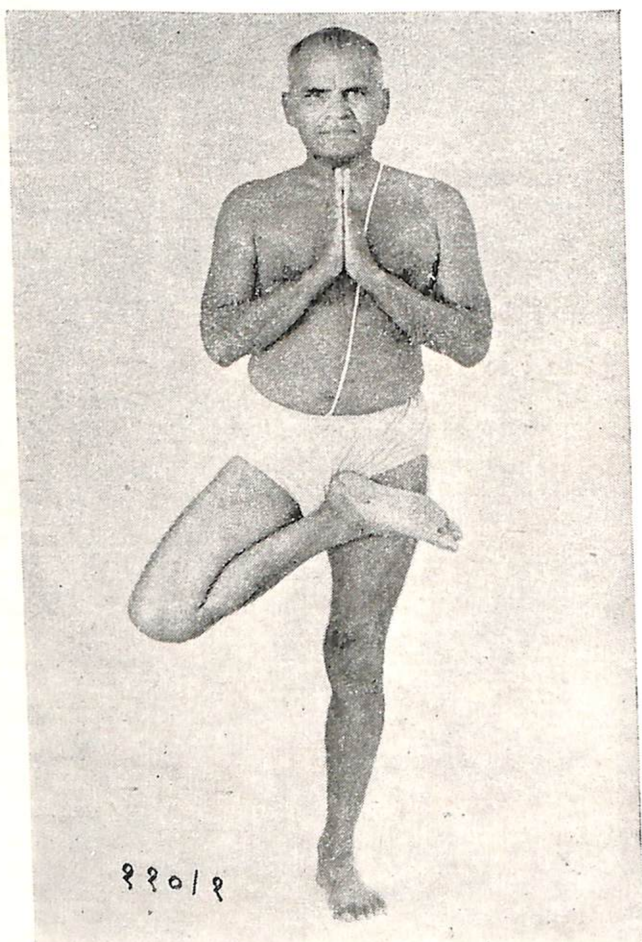
१०७
उत्थित कुम्भक-आसन



१०८
पादांगुष्ठ उत्थित-आसन



१०९
द्विपाद-
चक्र-आसन



११०/१
ध्रुव-आसन

(१०९) **द्विपाद-चक्र-आसन**—भूमि पर चित्त लेटकर श्वास से उदर को भर दें (पूरक करके)। अब दोनों हाथों को कटि के बराबर धरकर, दोनों घुटनों को परस्पर मिलाकर डेढ़-फुट ऊपर उठाएँ और दोनों पैरों को चारों ओर घुमाएँ। दूसरी ओर से भी इस आसन को करें।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से गुर्दे की पीड़ा नहीं होती और गुर्दों में विकार नहीं आने पाता। नारियों के मासिक-धर्म विकार को दूर करने के लिए उपयोगी है। उदर पर बढ़ी स्थूलता तथा अजीर्ण आदि दोषों का निवारण करता है।

(११०/१) **ध्रुव-आसन**—सीधे खड़े होकर दोनों पैर मिला लें। अब दक्षिण घुटना मोड़कर इसी पैर को जंघा-मूल में दृढ़ता से जमा लें। उसके पश्चात् दोनों हाथों को वक्षस्थल के सामने जोड़कर खड़े रहें।

लाभ—इस आसन से पुण्य भागीरथी गंगा अथवा यमुना, नर्मदा आदि किसी नदी-तट पर खड़े होकर तपश्चर्या करने तथा इसी आसन में खड़े होकर ओंकार, गायत्री अथवा अन्य इष्टमन्त्र जपते समय आलस्य नहीं आता। भक्त ध्रुव ने इसी आसन को प्रयुक्त किया था।

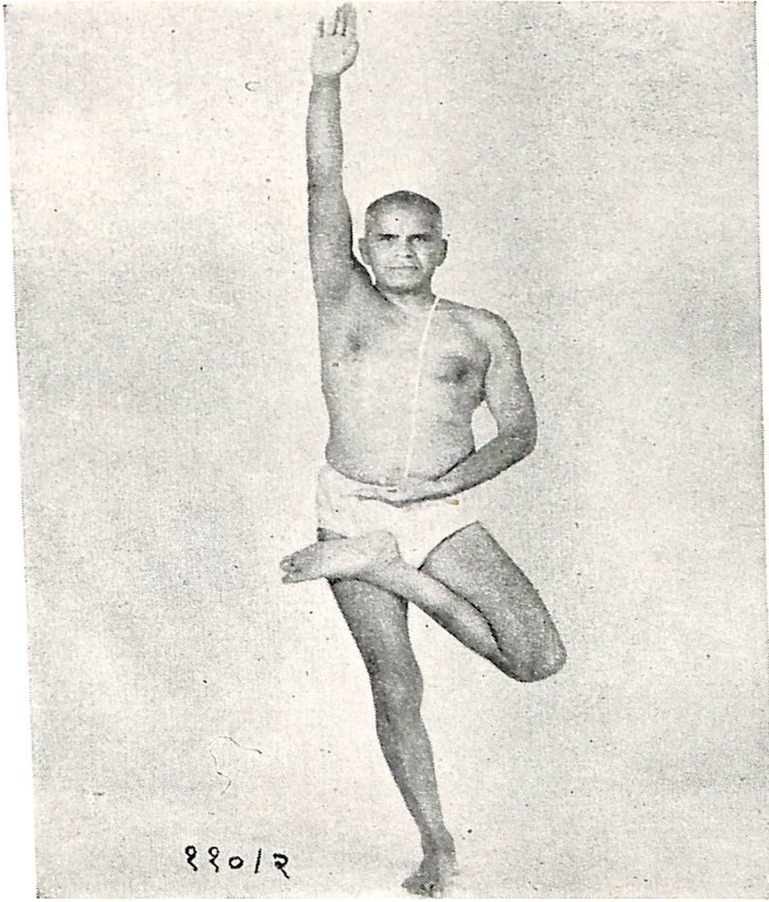
(११०/२) **एकपादोत्थित अर्द्धबद्ध पद्म-आसन**—दोनों पैरों को मिलाते हुए खड़े हों, और वाम-पैर को दक्षिण-जंघामूल में रख दें। अब बायाँ हाथ पीछे पीठ की ओर ले जाकर बाएँ पैर का अँगूठा पकड़कर कुम्भक के साथ दक्षिण हाथ सीधा ऊपर को कर लें। इसे दूसरा पैर बदलकर भी करें।

(एक महात्मा को हरद्वार-सप्तसरोवर में इस आसन पर कई वर्ष तपस्या करते मैंने देखा था। ऊपर खड़ा किया गया हाथ सूख गया था और जिस पैर पर खड़े थे वह सूजकर मोटा हो गया था। इसके पश्चात् वे प्रयाग चले गए और तपस्या करते रहे।)

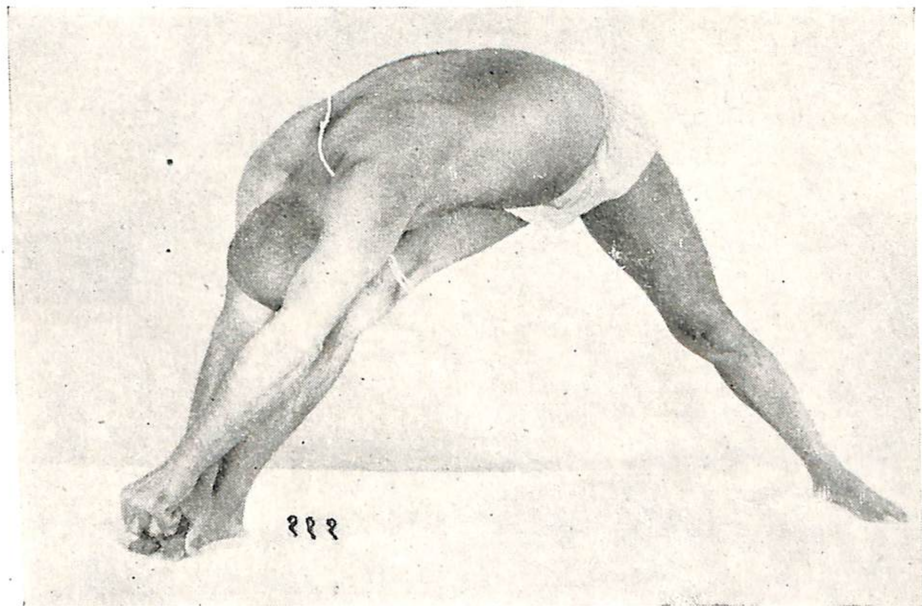
लाभ—उचित लाभ ध्रुवासन के समान है।

(१११) **वाम दक्षिण पार्श्व श्वास गमन-आसन**—सीधे खड़े हों और पैरों को दो हाथ की दूरी पर कर लें। अब पूरक करके, बाईं हथेली पर दाईं हथेली रख कर अँगुलियाँ परस्पर बाँध लें और दक्षिण ओर झुककर, हाथों को दक्षिण पैर के पंजे पर रखकर शिर से घुटनों का स्पर्श करें। फिर बाँधे हुए हाथों को ऊपर उठाकर बाईं ओर को झुककर शिर से दक्षिण घुटने का स्पर्श करें। अन्त में हाथ और शिर उठाकर दाईं ओर झुककर दोनों नथुनों से शीघ्र रेचक कर दें। इसे कई बार दोहरा लें।

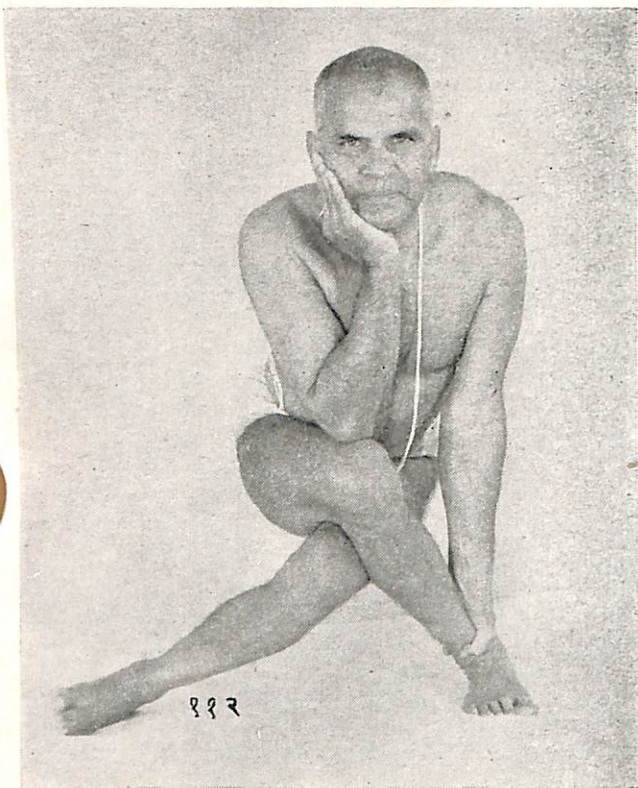
लाभ—यह आसन शरीर की सामर्थ्य-वृद्धि के लिए अति उपयोगी है।



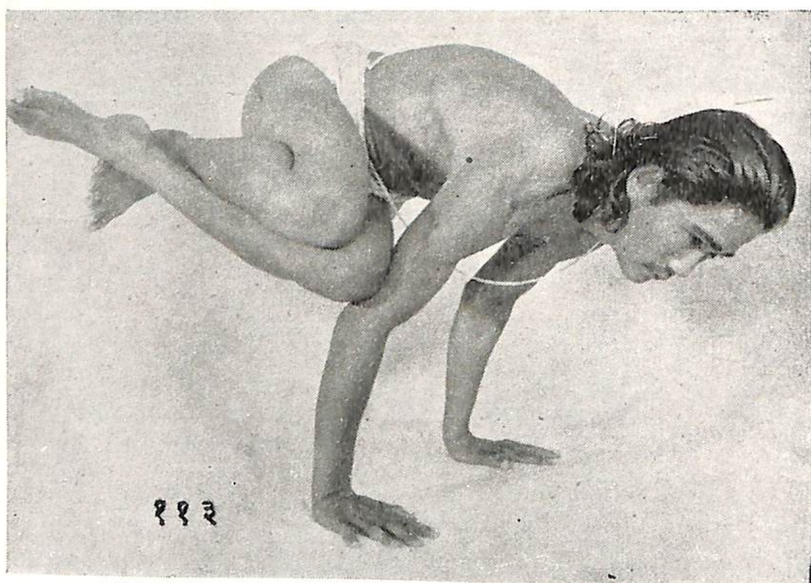
११०/२
एकपादोत्थित-अर्द्धबद्ध
पद्म-आसन



१११
वाम दक्षिण पार्श्व-
श्वास-गमन-आसन



११२
अष्टवक्र-आसन



११३
पार्श्वकाक-आसन

(११२) **अष्टवक्र-आसन**—सीधे खड़े होकर दक्षिण-पाद को वाम-पाद के विपरीत अर्थात् वाम-पार्श्व की ओर इस प्रकार ले जाएँ कि बाएँ घुटने पर दायाँ घुटना हो जाए। अब आधे बैठे होकर दक्षिण हस्त की कोहनी घुटने पर टेककर हथेली कनपटी पर लगा लें। बाएँ हाथ से दक्षिण-टाँग पकड़ कर स्थित रहें। पैर बदल कर भी इसे करें।

लाभ—इसके अभ्यास से टाँगों की नस-नाड़ियाँ पुष्ट होती हैं। अण्ड-वृद्धि-रोग नहीं होता और टाँगें स्वस्थ तथा दृढ़ रहती हैं।

(११३) **पार्श्वकाक-आसन**—सीधे खड़े होकर आगे को झुकें। दोनों हथेलियाँ भूमि पर जमाकर, दोनों पैरों को दक्षिण-पार्श्व की ओर ले जाकर, परस्पर लपेट कर, घुटनों को दक्षिण हस्त की कोहनी पर रखकर, हाथों के बल पर समस्त शरीर को तौल दें। दोनों घुटनों को पीछे की ओर मोड़कर एड़ियाँ नितम्बों पर लगा दें। पैर बदल कर भी करें।

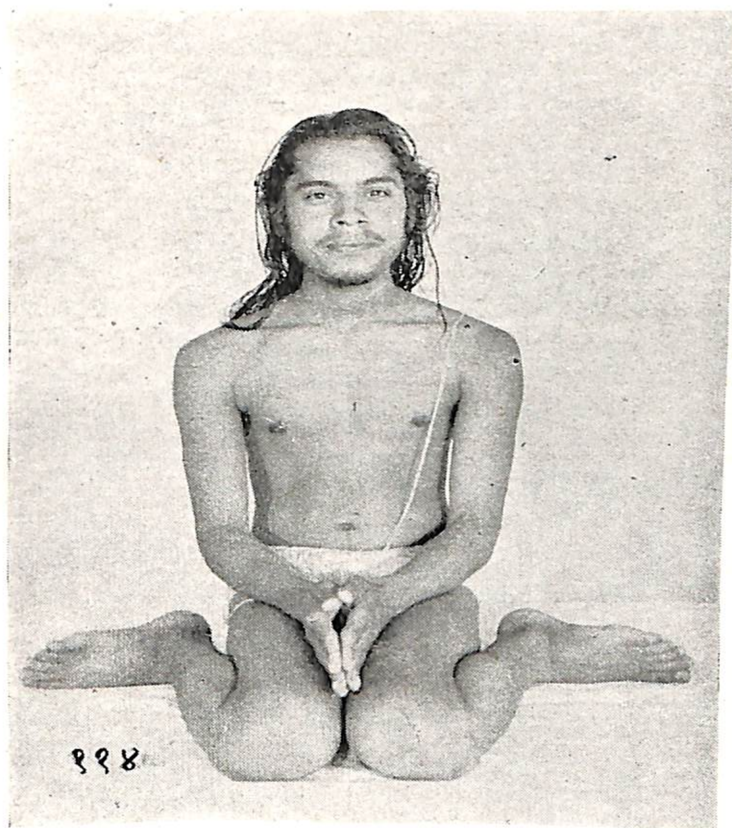
लाभ—इस आसन के अभ्यास से रक्त-संचार तीव्रगति से होने लगता है; जिससे रक्त-वहा-नाड़ियाँ रक्त को शीघ्रता से रक्त-शोधक-केन्द्रों में ले जाने लगती हैं और रक्त शीघ्रता से शुद्ध होने लगता है। बाहु तथा कटि-भाग पुष्ट होते हैं—लचकीले बनते हैं।

(११४) **पाद-त्रिकोण-ग्रासन**—घुटनों से दोनों टाँगों को मोड़कर वज्रासन जैसी ग्राकृति में बैठें। दोनों टाँगों को नितम्बों के दोनों ग्रोर कुछ दूरी पर रखकर दोनों हाथों को घुटनों के ऊपर करके शिर, ग्रीवा, मेरुदण्ड को सीधा करके बैठें। फिर प्रश्वास को बाहर निकाल कर, नाभि को ग्रन्दर खींचकर उड्डियान बन्ध लगा लें।

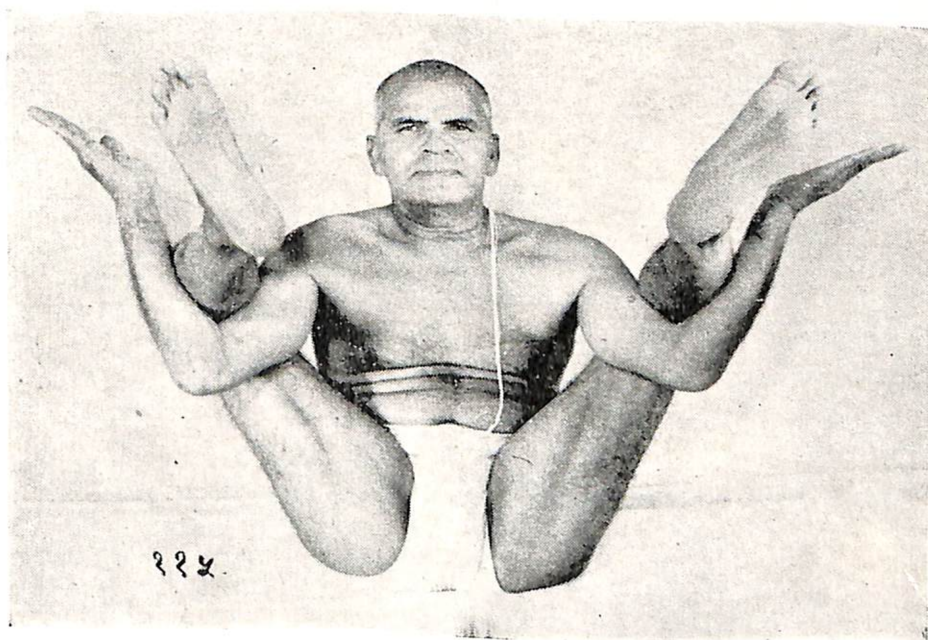
लाभ—इस ग्रासन से जंघा, जानु, टखने पुष्ट होते हैं, गिट्टों की सन्धियाँ लचकीली ग्रौर कोमल बनती हैं। टखनों में शीघ्रता से मोच नहीं ग्राती; चलने तथा दौड़ने में शीघ्र थकावट नहीं ग्राती।

(११५) **विकसित-कमल-ग्रासन**—नितम्बों के सहारे बैठकर दक्षिण हाथ को दक्षिण जानु के नीचे से ग्रौर वाम हस्त को वाम जानु के नीचे से निकालकर ऊपर ले जाएँ। हथेलियों ग्रौर पाद-तलों को दोनों ग्रोर फैलाकर, गर्दन को सीधा करके ग्रीवा, हथेलियों ग्रौर पाद-तलों को खिले हुए कमल के समान बनाएँ। यथा-शक्ति इसी स्थिति में रहने का ग्रभ्यास करें।

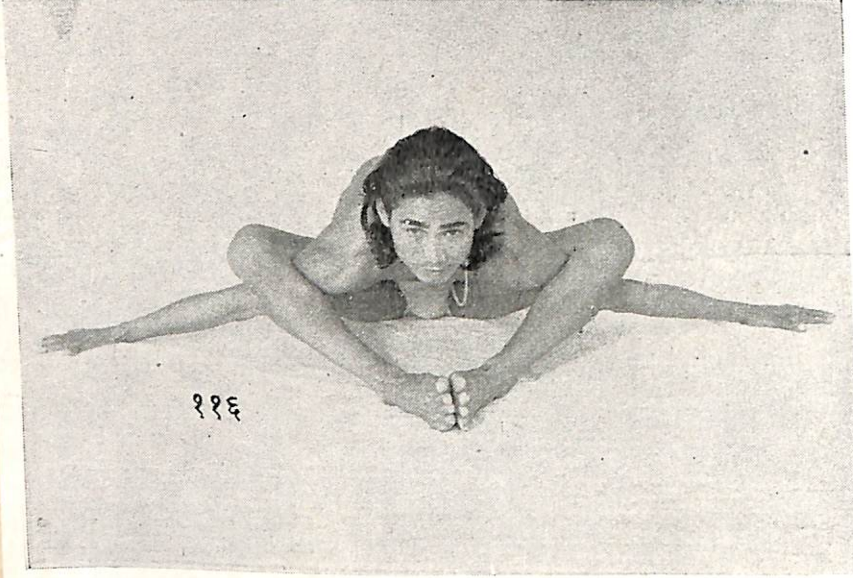
लाभ—इस ग्रासन के ग्रभ्यास से पृष्ठ-भाग, मेरु-दण्ड तथा कटि ग्रादि भाग दृढ़ होते हैं।



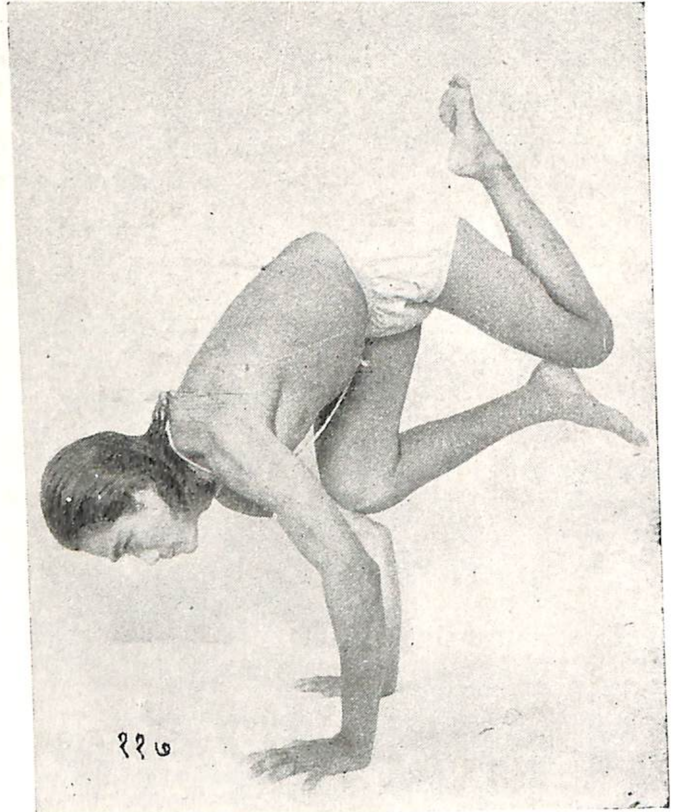
११४
पादत्रिकोण-ग्रासन



११५
विकसित-कमल-
ग्रासन



११६
चमगादड़-आसन



११७
हस्तस्थितपादोत्थान-आसन

(११६) **चमगादड़-आसन**—दोनों टाँगों को सामने फैलाकर बैठें और पाद-तलों को परस्पर मिला लें। अब छाती को किंचित् आगे झुकाकर दोनों हाथों को जानुओं के नीचे से बाहर की ओर से दोनों ओर सीधा फैलाएँ। अब जानुओं से दोनों बाहुमूल नीचे की ओर दबाकर, शिर कुछ ऊपर को उठाकर, इसी स्थिति में कुछ देर रहें।

लाभ—इस आसन का अभ्यास हाथ-पैर की सन्धियों को सशक्त बनाता है। रुका हुआ अपान-वायु छुटने लगता है। वक्षस्थल को बलिष्ठ बनाता, अजीर्ण दूर करता और शरीर को स्वस्थ बनाता है।

(११७) **हस्तस्थित पादोत्थान-आसन**— दोनों हथेलियाँ भूमि पर स्थापित करें, और दाएँ पैर का घुटना दाएँ हाथ की कोहनी पर रखें। अब बायाँ घुटना दक्षिण पैर की एड़ी पर रखकर, घुटने पीछे को मोड़कर, एड़ी नितम्ब की ओर रखकर पैर ऊपर को उठा लें। दूसरे पार्श्व से भी इसका अभ्यास करें।

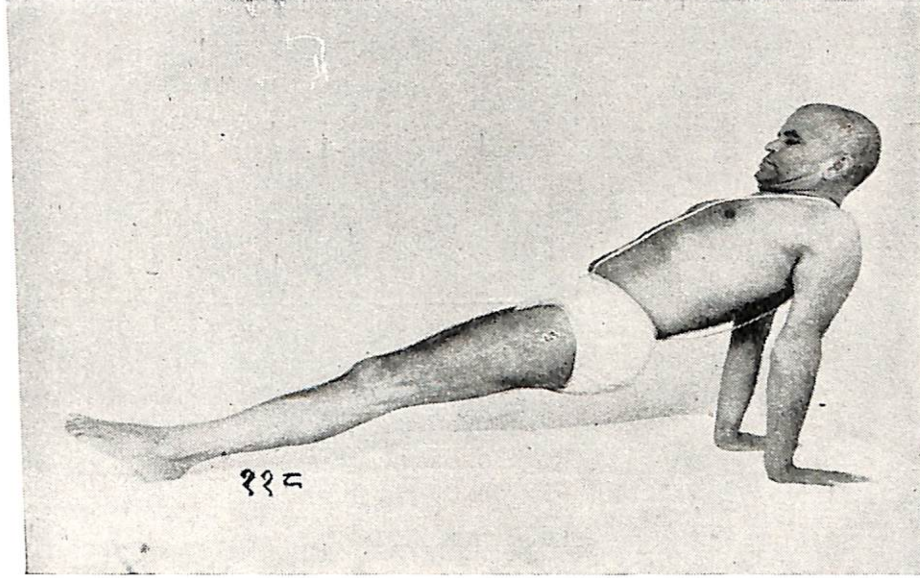
लाभ—इस आसन के अभ्यास से घुटनों का बल बढ़ता है, भुजाएँ बलिष्ठ तथा सन्धियाँ लचकीली बनती हैं।

(११८) **नाभिदर्शन-आसन**—दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठें और हथेलियों को भूमि पर दृढ़ता से स्थापित करें। पश्चात् पूरक करके दोनों हथेलियों और एड़ियों के बल सम्पूर्ण शरीर को सीधा ताने रहें और दृष्टि को नाभि पर स्थिर करें।

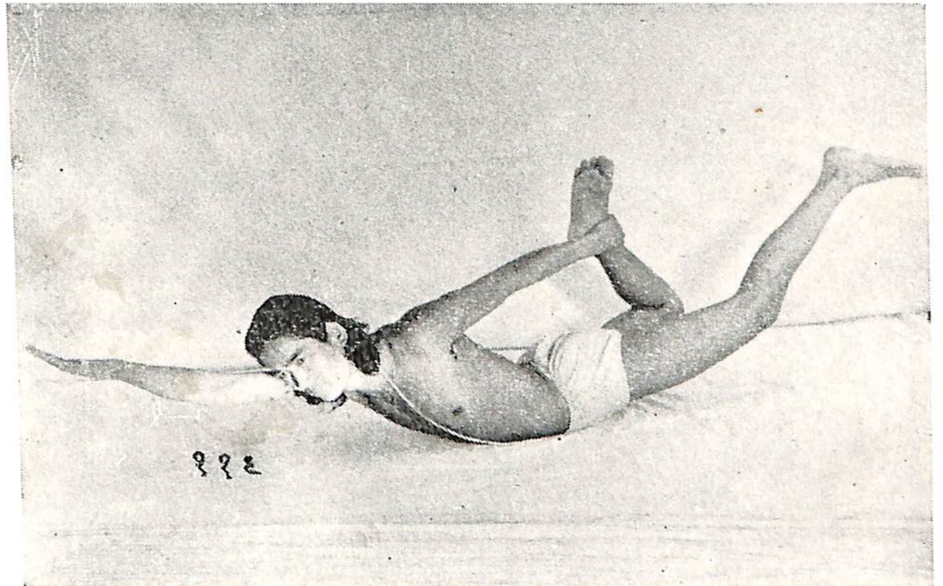
लाभ—उक्त आसन के अभ्यास से शरीर के सर्वांगों में रक्त का संचार सुगमता से होता है। हाथों की नस-नाड़ियाँ बलिष्ठ बनती हैं। मधुमेह आदि रोगों से सुरक्षा रहती है।

(११९) **सुप्त एकपाद-आकर्षण-आसन**—पहले उदर के बल लेटें, और दोनों भुजाओं को शिर की ओर फैला दें। पश्चात पूरक करके कुम्भक रखते हुए बायाँ हाथ सीधा पीठ की ओर ले जाएँ, फिर दक्षिण टाँग को वाम हस्त से पकड़ कर अर्ध-धनुष जैसी आकृति में ऊपर को खींचें। अब रेचक करते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएँ। इसी प्रकार पुनः-पुनः करें।

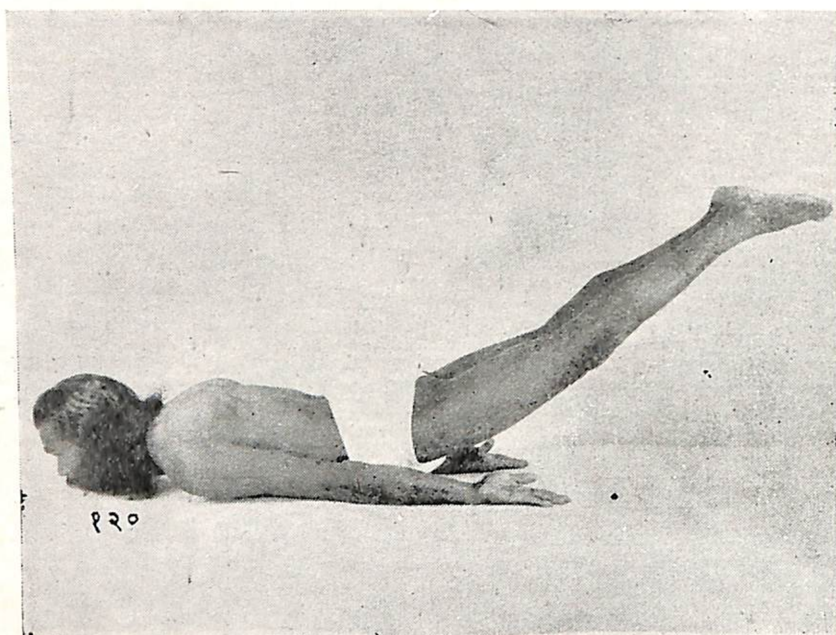
लाभ—इसके अभ्यास से पीठ, ग्रीवा, छाती, उदर की शक्ति बढ़ती है, कोष्ठबद्धता भी दूर होती है।



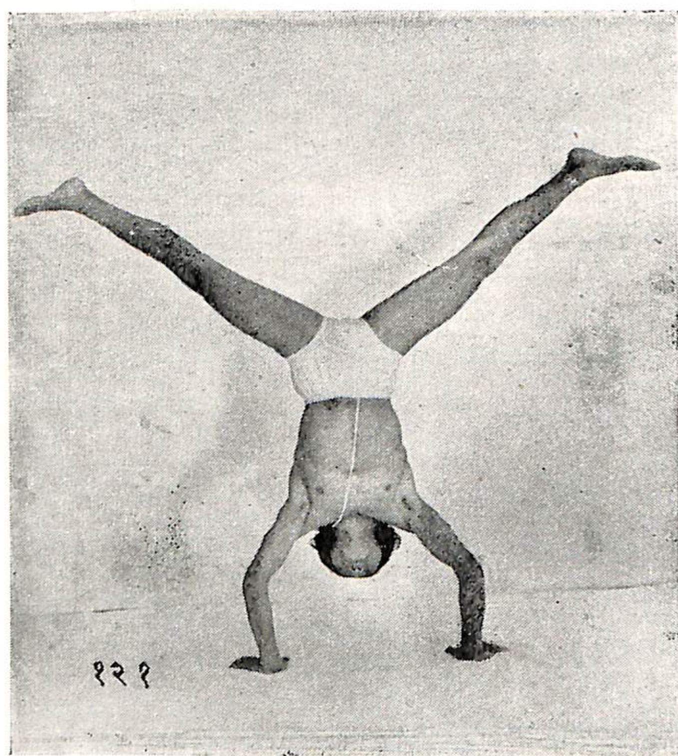
११८
नाभिदर्शन-आसन



११९
सुप्त-एकपाद-
आकर्षण-आसन



१२०
शलभ-आसन



१२१
हस्तउत्थित-ऊर्ध्वपाद-
प्रसारण-आसन

(१२०) **शलभ-ग्रासन**—उदर के बल लेटकर, दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँधकर कटि के पास रखें। अब श्वास अन्दर भरकर नाभि से निचले भाग टाँगों को परस्पर मिलाकर ऊपर उठा लें। पश्चात् ठोड़ी और ग्रीवा को कुछ ऊपर उठाकर कण्ठ को तान दें। इसी स्थिति में कुछ देर रहकर पूर्व स्थिति में ग्रा जाएँ।

लाभ—इसके अभ्यास से टाँगों की माँस-पेशियाँ और ग्रन्थियाँ सुदृढ़ होती हैं; तथा वात, पित्त, कफ़ज विकारों और मधुमेह का निवारण करने में सहायता मिलती है।

(१२१) **हस्त उत्थित-ऊर्ध्वपाद प्रसारण-ग्रासन**—उत्कट ग्रासन पर बैठकर दोनों हाथों को सामने रख लें। थोड़ा-सा पूरक करके सावधानी के साथ धीरे-धीरे हाथों के बल समूचे शरीर को ऊपर उठाकर खड़ा कर लें। यथाशक्ति पैरों को दोनों ग्रोर फैलाएँ और इसी स्थिति में देर तक ठहरे रहने का यत्न तथा ग्रभ्यास करें।

लाभ—इस ग्रासन के अभ्यास से बाहु बलवान, छाती चौड़ी, फुप्फुस सशक्त होते हैं। स्मरण-शक्ति पर ग्रच्छा प्रभाव पड़ता है, प्राण बलिष्ठ बनता है।

(**१२२) षट्पद-ग्रासन**—प्रथम वज्रासन से बैठें। अब दोनों एड़ियों को दोनों नितम्बों से लगाकर, पैरों के पंजों को दाईं बाईं ओर सीधा करके फैला दें और नितम्ब के बल भूमि पर बैठ जाएँ। अब दक्षिणहस्त को दाईं पिण्डली और जंघा तथा वामहस्त को बाईं पिण्डली और जंघा के नीचे से इतना निकालें कि कोहनियाँ अन्दर हो जाएँ। हथेलियों को बाहर निकाल कर फैला दें और पश्चात् छाती को सामने भूमि पर लगा दें।

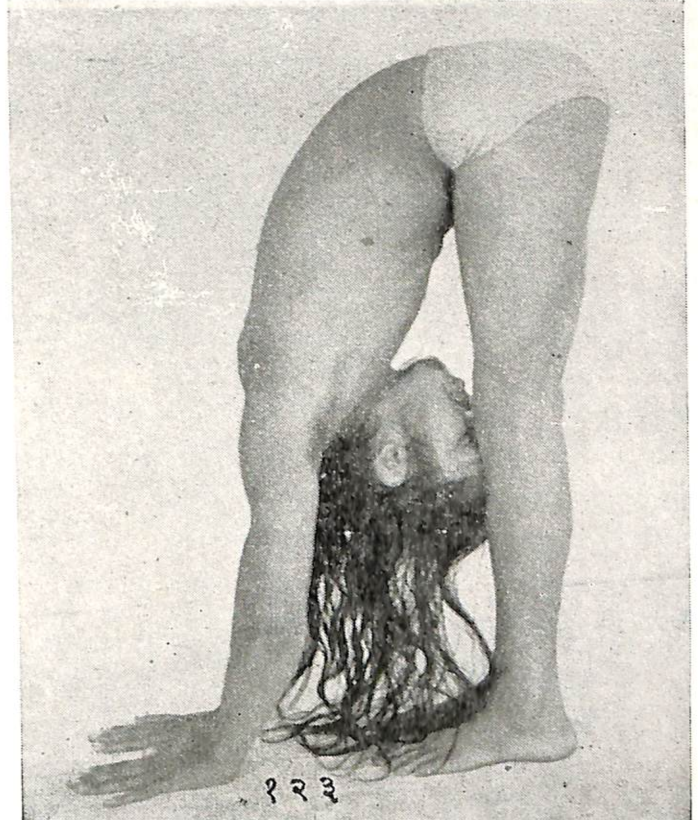
लाभ—इससे शरीर में कोमलता, लचक, स्फूर्ति आ जाती है और सन्धियाँ सुदृढ़ हो जातीं हैं। शरीर पर अधिकार हो जाता है।

(१२३) उत्थित जानुशिर संयुक्त-ग्रासन—सीधे खड़े होने के पश्चात् कमर से आगे को झुककर पैरों के पंजों से एक फुट की दूरी पर दोनों हथेलियों को भूमि पर स्थापित करें। श्वास अन्दर को भरकर मस्तक से घुटनों का स्पर्श करें। इसे कई बार करें।

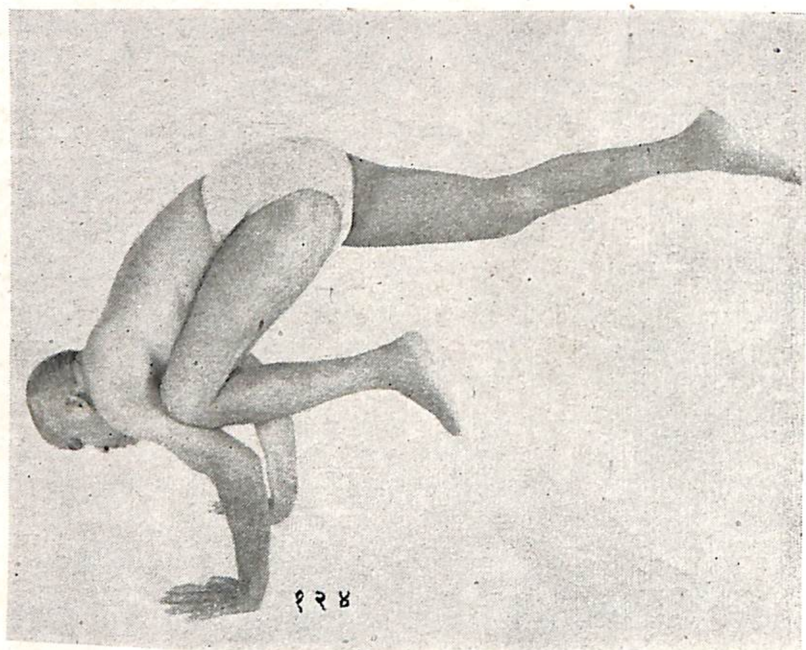
लाभ—इससे जठराग्नि प्रचण्ड होती है, उदर कृश बनता है, शरीर में बल की वृद्धि होती है।



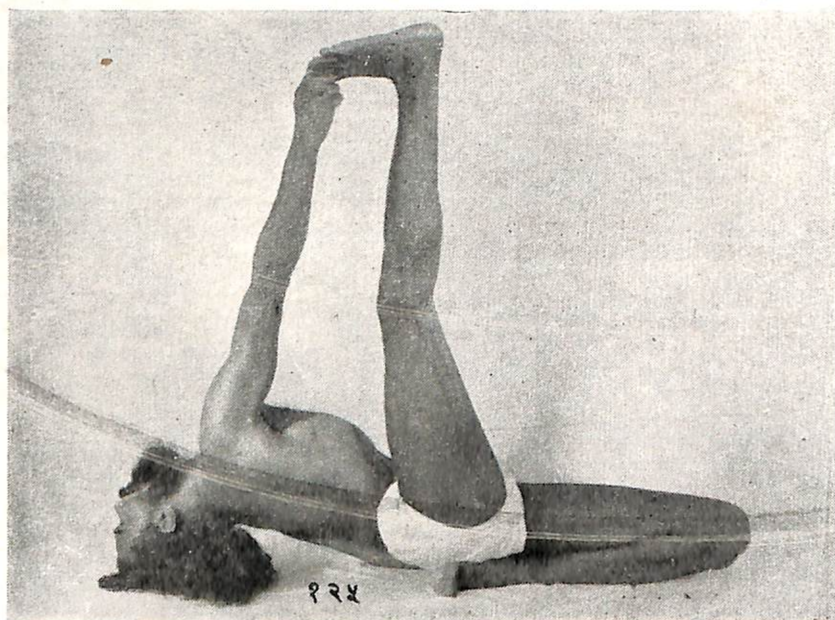
१२२
षट्पद-आसन



१२३
उत्थित जानुशिरसंयुक्त-आसन



१२४
बकपाद-प्रसारण
आसन



१२५
सुप्त एकपाद-ऊर्ध्व-
आसन

(१२४) **बकपाद-प्रसारण-आसन**—सीधे खड़े होकर, कटिभाग से आगे को झुककर, हथेलियाँ भूमि पर रखकर, दोनों घुटने कोहनियों पर रखकर, हाथों पर समस्त शरीर को उठा लें। इसी स्थिति में दक्षिण पैर कोहनी पर से उठाकर और पीछे को फैलाकर सीधा ताने रहें। इस आसन को कुम्भक करते हुए करें।

लाभ—इससे भुजाओं का बल बढ़ता है; अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुदृढ़, सुडौल बनते हैं, प्राण सशक्त तथा वश में होने लगता है।

(१२५) **सुप्त एकपाद-ऊर्ध्व आसन**—दोनों पैर आगे को फैलाकर बैठें और बाएँ घुटने को मोड़कर, पैर को मोड़कर नितम्ब के वामपार्श्व अथवा गुदा के नीचे एड़ी को रखकर पीठ के बल लेट जाएँ। श्वास पूरक करके दक्षिण पैर को ऊपर उठाकर दक्षिण हाथ से पैर का अँगूठा पकड़ कर सीधा तान दें। बायाँ हाथ भूमि पर ही टिका रहे।

लाभ—इससे टाँगों की नस-नाड़ियाँ बलवती होती हैं। टाँगों और घुटनों तथा जंघामूल की दुर्बलता दूर होती है।

(१२६) **पृष्ठबद्ध जानु-भू नमस्कार-आसन**--सीधे खड़े होकर, दायाँ पैर बाईं जंघा पर रखें और दाएँ घुटने को बाएँ टखने के निकट स्थापित करें। श्वास अन्दर भरकर, दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर, परस्पर बाँधकर, शिर को वाम-पाद के पंजे के पास रख दें। यथासाध्य कुम्भक रखते हुए इसी स्थिति में रहें।

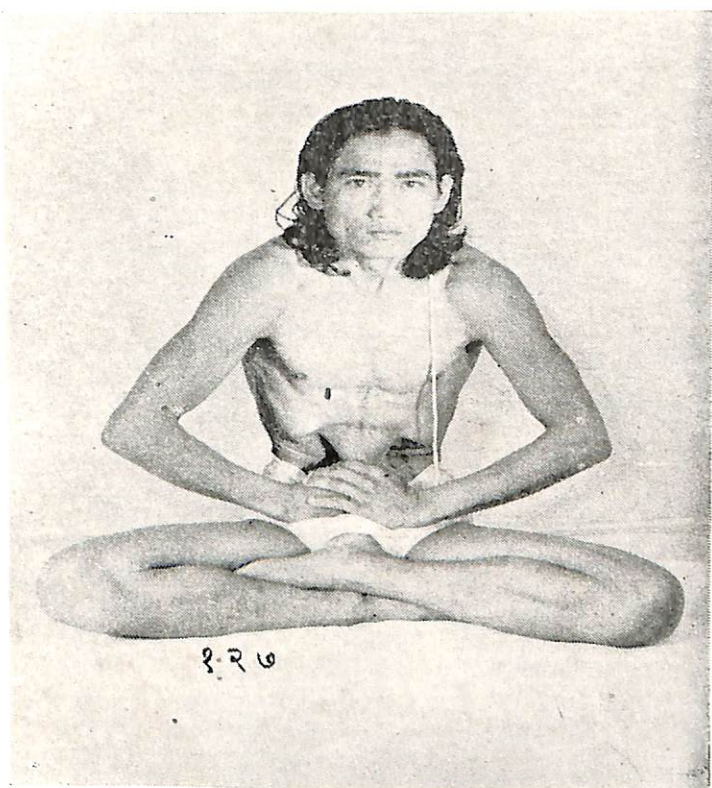
लाभ--यह आसन शरीर के सभी अङ्गों को लचकीला, दृढ़, पुष्ट एवं सुडौल बनाता है।

(१२७) **समान-आसन**--सिद्धासन से बैठकर प्रथम रेचक करें, और नौली को उठाएँ। अब दोनों हाथों की अँगुलियों से नौली को पकड़ कर मुट्ठियों में कसकर पकड़ लें। इसी प्रकार कई बार करें।

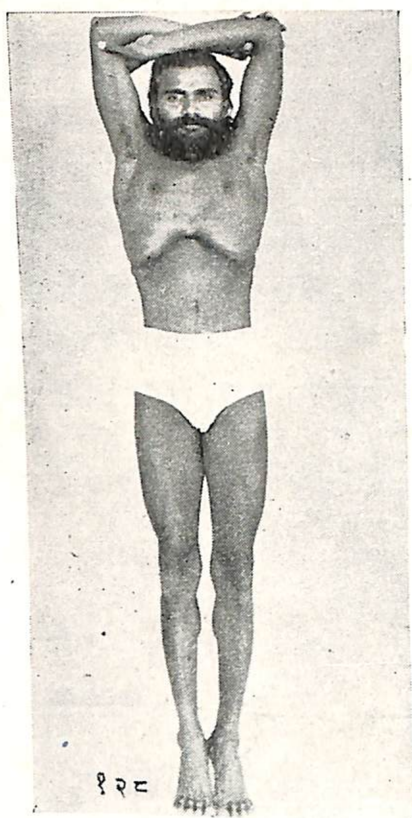
लाभ—इस आसन के अभ्यास से भुक्त-अन्न शीघ्र पचने लगता है, अन्तड़ियाँ बलवान होती हैं और पाचनशक्ति बढ़ती है।



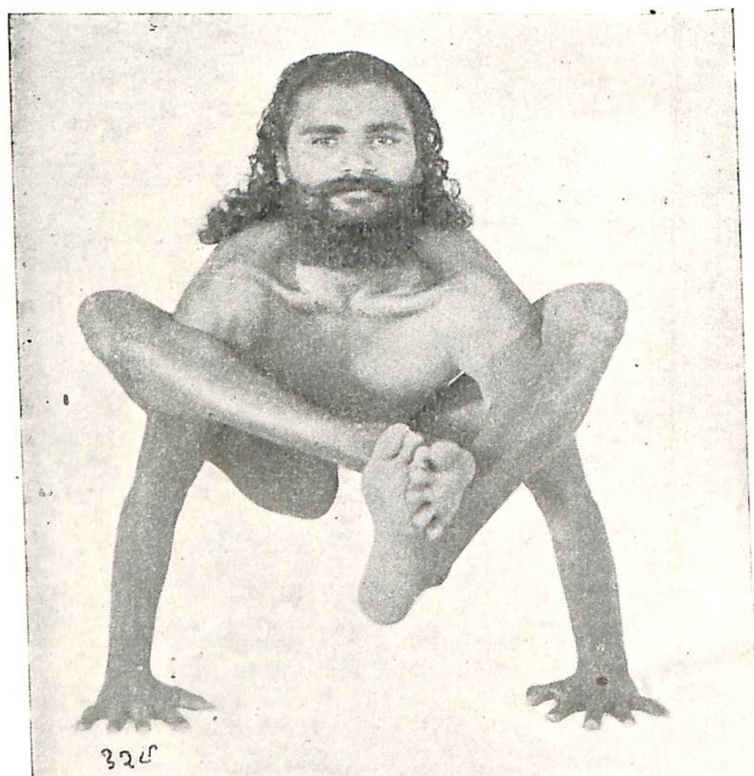
१२६
पृष्ठबद्ध जानु-भू नमस्कार-आसन



१२७
समान-आसन



१२८
ऊर्ध्व-उत्तान-आसन



१२९
उत्थितभुजोत्तान-आसन

(१२८) **ऊर्ध्व उत्तान-आसन**—सीधे खड़े होकर दोनों पैर मिला लें, और प्रश्वास बाहर निकल कर दोनों कोहनियाँ पीठ की ओर शिर पर परस्पर बाँधकर तीनों बन्ध लगा लें। अब पैरों के पंजों पर खड़े होकर आकाश की ओर शरीर को खींचे-तानें वा उठाएँ। इसे कई बार दोहराएँ।

लाभ—इसके अभ्यास से शरीर लम्बा होता और सब अङ्गों का विकास होता है।

(१२९) **उत्थित भुजोत्तान-आसन**—उत्कट आसन से बैठकर दोनों हथेलियों को एक हाथ की दूरी पर सामने भूमि पर रखकर, दोनों घुटनों के निचले भाग को कोहनियों पर रखकर, समस्त शरीर को यहाँ पर तौल दें। अब दोनों पैरों के पंजे परस्पर फँसाकर सामने रखें। श्वास की गति स्वाभाविक रहे अथवा कुम्भक रखें।

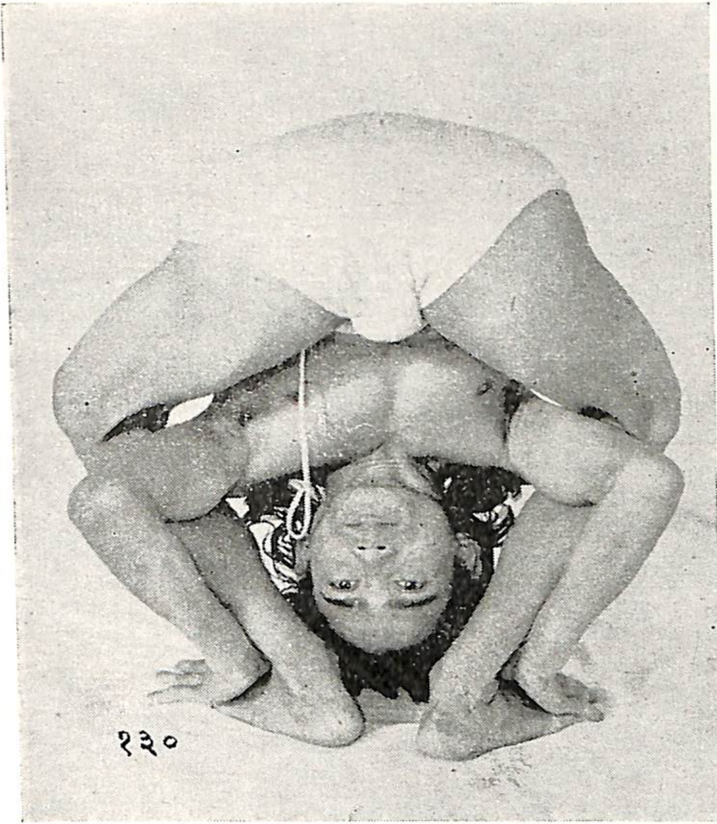
लाभ—इस आसन से भुजाएँ और टाँगें शक्तिशाली बनती हैं, अपानवायु की गति को स्वाभाविक बनाकर शरीर को स्वस्थ रखता है।

(१३०) **हस्तबद्ध शिरपाद-ग्रासन**—सीधे खड़े होकर ग्रागे को कमर से भुकें। ग्रौर दोनों हाथों को दोनों टाँगों के मध्य से ले जाकर, गिट्टों के पास से बाहर को लाकर, पैरों पर सिर रखते हुए हाथों को पंजों पर रख दें। फिर कुम्भक करते हुए कटि-भाग को कुछ नीचे भुकाकर शिर को गिट्टों के मध्य में रख दें। फिर शिर उठाकर रेचक करें।

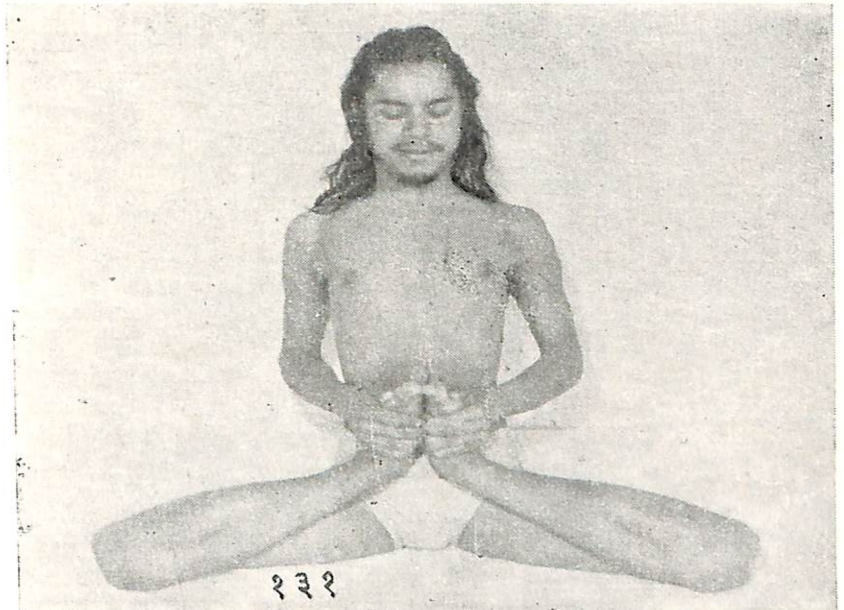
लाभ—इसके ग्रभ्यास से फुप्फुस शक्तियुक्त बनते हैं ग्रौर प्राणों में बल ग्राता है।

(१३१) **कन्दपीड़-ग्रासन**—दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठें, ग्रौर दोनों पादतलों को संयुक्त करके दोनों हाथों से पैरों के पंजे पकड़कर उदर के सामने ऊँचा उठा लें। ग्रब सावधानी से धीरे-धीरे पंजों को इस प्रकार घुमाएँ कि दोनों पाद-पृष्ठ ग्रापस में संयुक्त हो जाएँ ग्रौर जानु भूमि पर सटे रहें। पूर्वावस्था में पंजों को हाथों से पकड़े रहना पड़ता है, फिर शनैः-शनैः ग्रभ्यास बढ़ने पर पैरों को पकड़े रखने की ग्रावश्यकता नहीं रहती। हाथों को जोड़कर सामने रखना चाहिए।

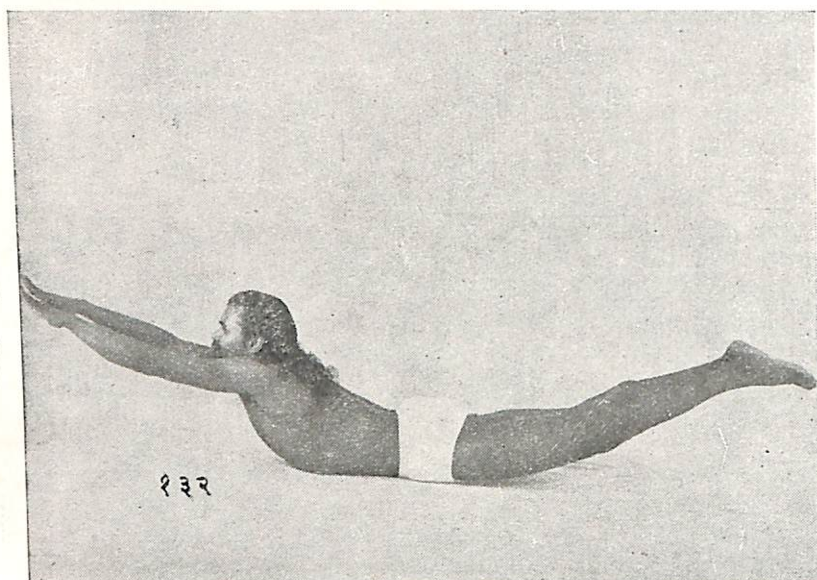
लाभ—इसके ग्रभ्यास से टाँगों ग्रौर पैरों के ग्रनेक विकार दूर हो जाते हैं। पैरों की नस-नाड़ियाँ लचकीली तथा पुष्ट बनती हैं। जंघा ग्रौर जानुग्रों की पीड़ा तथा ऐंठन मिट जाती है।



१३०
हस्तबद्धशिरपाद-आसन



१३१
कंदपीड़-आसन



१३२
नाभि-आसन



१३३
विपरीतपाद-मस्तक-
स्पर्श-आसन

(१३२) **नाभि-आसन**—पेट के बल भूमि पर लेट जाएँ और दोनों हाथों को शिर की ओर करके वाम-दक्षिण पार्श्वों में फैला दें। अब पूरक द्वारा उदर को वायु से पूर्ण करके कुम्भक कर लें और पैरों को पिछली ओर से भूमि पर से उठाकर समस्त शरीर का भार नाभि पर डाल दें। हाथों-टाँगों को नौका-आसन के समान तान दें और शरीर को आगे-पीछे को झुकाएँ। यथाशक्ति इस स्थिति में रहकर रेचक करते हुए पूर्वस्थिति में आ जाएँ।

लाभ—इस आसन से मन्दाग्नि जाती रहती है, अजीर्ण आदि उदर-विकार नहीं होते। पित्ताशय, यकृत, प्लीहा सभी ठीक रूप से कार्य करते रहते हैं—विकृत नहीं होने पाते।

(१३३) **विपरीत पाद-मस्तक-स्पर्श-आसन**—प्रथम तो उदर के बल लेटें, फिर दोनों कोहनियाँ छाती के नीचे स्थापित कर दें और नाभिप्रदेश से ऊपरी भाग को ऊपर उठा लें। दोनों घुटने मोड़कर पैरों को पीठ की ओर इस प्रकार मोड़कर ले जाएँ कि पैरों के अँगूठे कपाल का स्पर्श करें। शिर को भी पीछे की ओर ले जाएँ, जिससे कपाल अँगूठों से जा लगे। यह आसन करने में कठिन है, अतः शनैः-शनैः इसका अभ्यास करें।

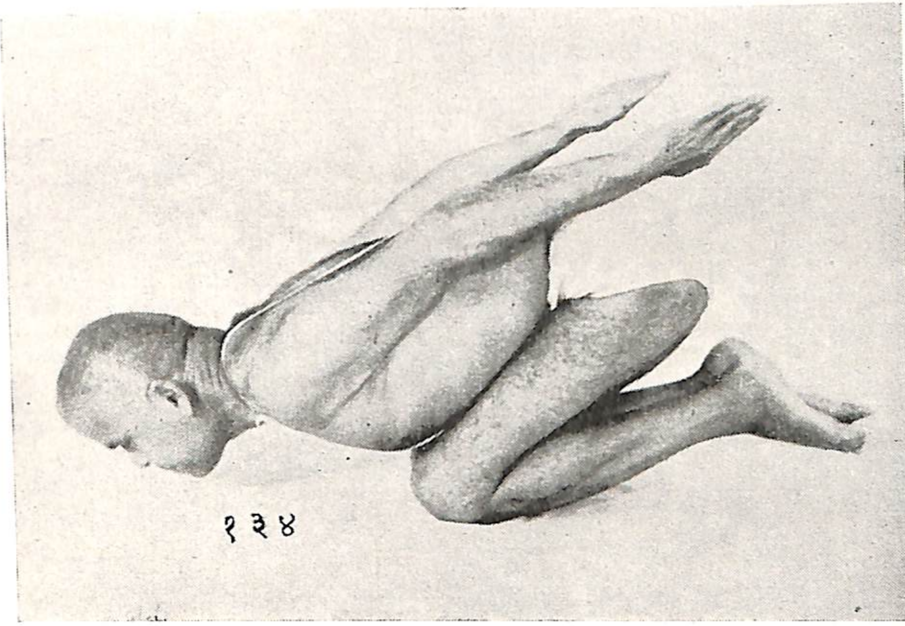
लाभ—इस आसन से शरीर अत्यधिक लचकीला तथा मुड़ने के लिए कोमल हो जाता है, मेरुदण्ड स्थिति-स्थापक बन जाता है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता तथा शरीर में सुकुमारता लाता है।

(१३४) **मृग-आसन**—पहले वज्रासन लगाकर बैठें, फिर आगे को इतना झुकें कि छाती जानुओं पर टिक जाएँ। अब दोनों हाथों को पीठ की ओर से ऊपर ले जाकर सीधा तान दें। नितम्बों सहित दोनों पैरों को इस प्रकार उठाएँ कि वे भूमि से थोड़ा-सा ऊपर उठें और समूचे शरीर का भार घुटनों पर आ जाए।

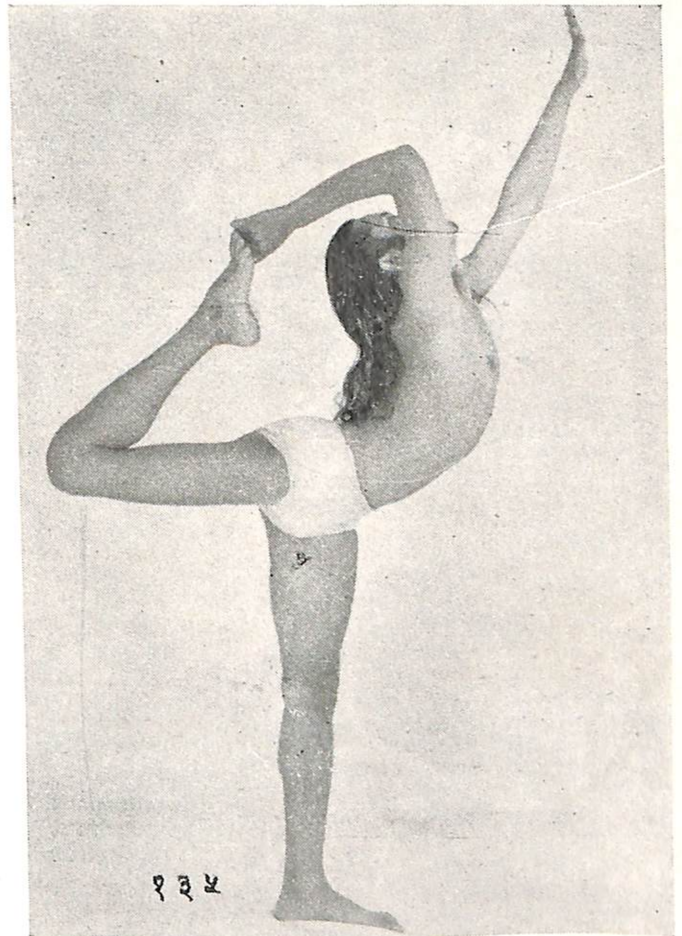
लाभ—इससे कण्ठ की नाड़ियाँ, स्कन्ध, बाहु, वक्ष, पृष्ठ और कटि-प्रदेश लचकीले तथा पुष्ट हो जाते हैं।

(१३५) **पादाँगुष्ठ-शिखास्पर्श-आसन**—पैरों को मिलाते हुए सीधे खड़े हों। अब दक्षिण पैर उठाकर दक्षिण हस्त से उसका अँगूठा पकड़कर पीठ की ओर से ऊपर खींचकर, पैर के अँगूठे को शिखा से स्पर्श कर दें। वाम-हस्त सीधा करके ऊपर उठाए रहें। इससे पैर बदल कर करें और श्वास-प्रश्वास की गति सामान्य रखें। यह आसन भी कठिन है, धीरे-धीरे अभ्यास करें।

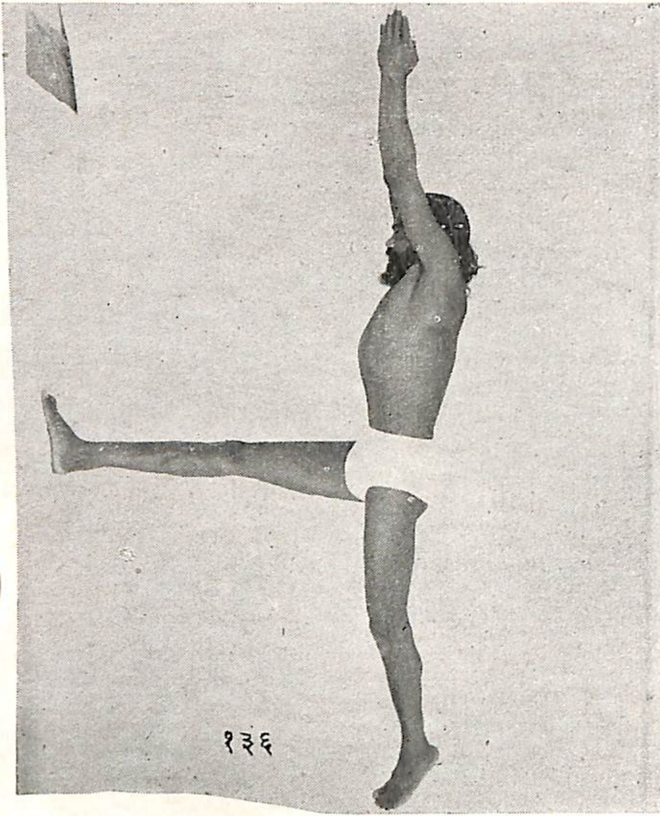
लाभ—इसके अभ्यास से रीढ़, कटि, ग्रीवा, वक्षस्थल आरोग्य, लचकीले, और दृढ़ होते हैं।



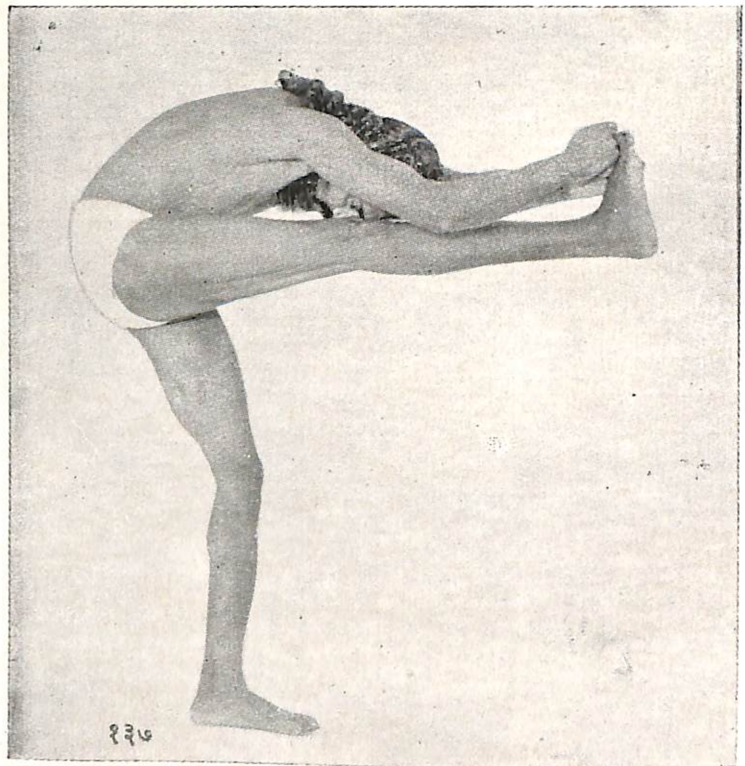
१३४
मृग-ग्रासन



१३५
पादांगुष्ठ-शिखास्पर्श-ग्रासन



१३६
एकपाद-आसन



१३७
उत्थित एकपाद-जानुशिर-
आसन

(१३६) एकपाद-आसन—सीधे खड़े हों। अब पूरक करके वाम-पैर को पीछे की ओर उठाएँ और कटि से आगे की ओर झुकते हुए दोनों हाथों को शिरके आगे बराबर करके जोड़ लें। समस्त शरीर एक सीध में हो जाए। कुम्भक के पश्चात् रेचक करते समय पूर्व स्थिति में आ जाएँ।

लाभ—इससे कमर की दुर्बलता दूर होती है, हाथ-पैरों की माँसपेशियाँ पुष्ट तथा लचीली और सुडौल होती हैं।

(१३७) उत्थित एकपाद जानु-शिर-आसन—खड़े होकर दक्षिण पैर सीधा सामने उठाकर, दक्षिण हाथ से इसी पैर का अँगूठा पकड़ लें। इसके पश्चात् पूरक करके बाएँ हाथ से भी, उस ऊपर उठाए पैर को पकड़ कर, शिर को झुकाकर घुटने पर टेक दें। थोड़े समय इसी स्थिति में ठहरकर तथा शिर को उठाकर प्रश्वास छोड़ दें। दूसरे पैर से भी करें।

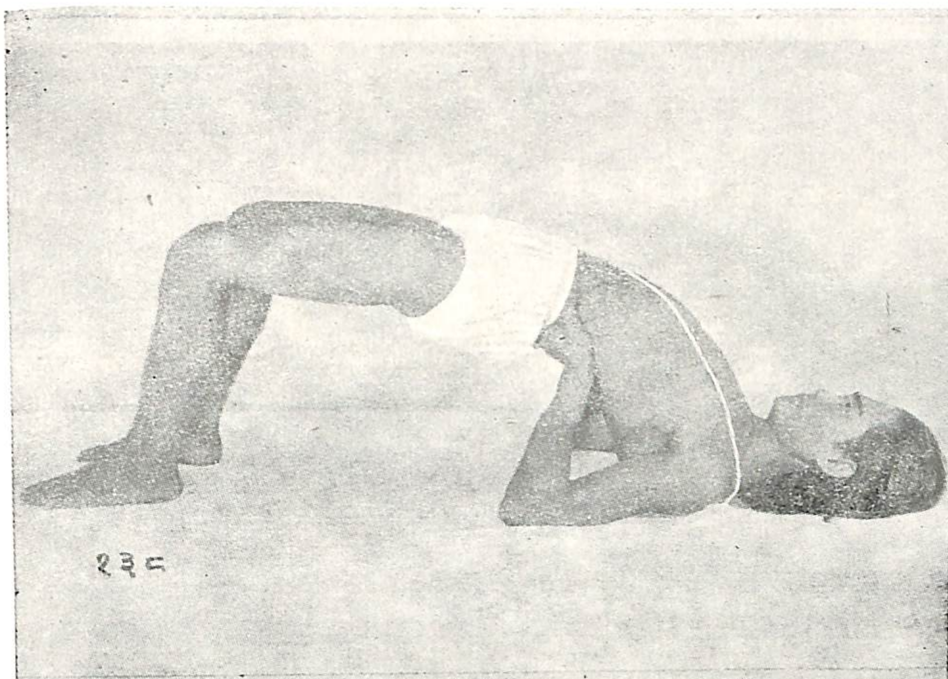
लाभ—इससे टाँगों को ही विशेष लाभ पहुँचता है। शरीर भी ठीक रहता है।

(१३८) सेतुबन्ध-ग्रासन—प्रथम सर्वांग ग्रासन करें। पश्चात् दोनों हाथों से कटि को दृढ़ता से पकड़ कर, धीरे-धीरे दोनों पैरों को पृथिवी पर लाकर टेक दें। कटिभाग को ऊँचा रखकर पुल जैसी ग्राकृति में हो जाएँ।

लाभ—इसके निरन्तर ग्रभ्यास से छाती, पीठ, कमर, नरम तथा दृढ़ भी होती है। ग्राँतों के दोष दूर हो जाते हैं, जठराग्नि प्रदीप्त तथा बढ़ा हुग्रा उदर घट जाता है। पीठ-पीड़ा नहीं होने पाती।

(१३९) उत्थित ग्रर्धचक्र-ग्रासन—सीधे खड़े हों। ग्रब दोनों हाथों को सीधा करके प्राण को बाहर निकाल दें। टाँगों को बिना मोड़े, शिर ग्रौर हाथों को यथाशक्ति ग्रागे झुकाएँ। इसी प्रकार पीठ की ग्रोर भी झुकें ग्रौर कुम्भक को पूरक कर दें।

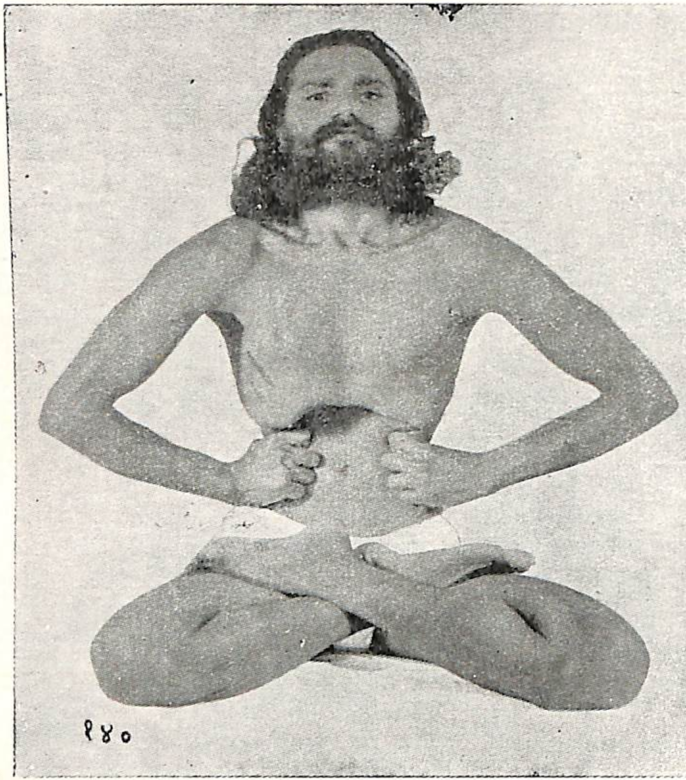
लाभ—यह ग्रासन पक्वाशय, जिगर, तिल्ली ग्रौर ग्रँतड़ियों को शक्ति देता तथा हितकर है।



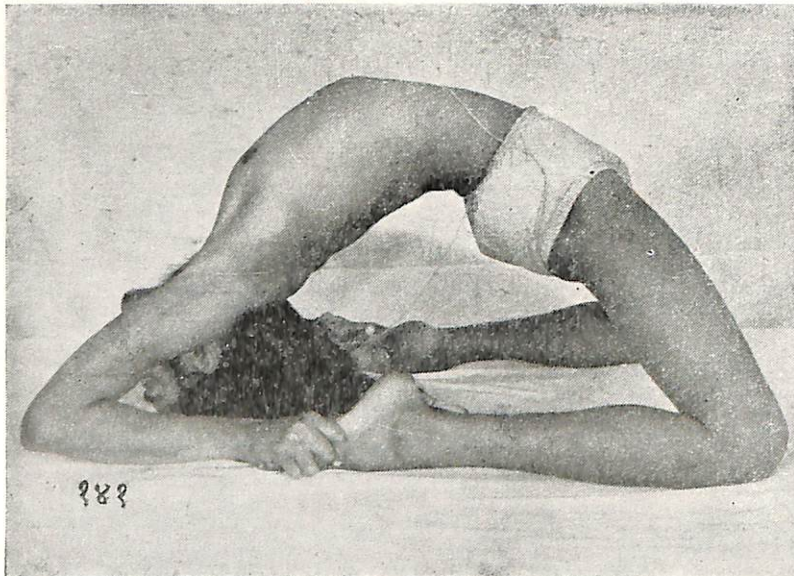
१३८
सेतुबन्ध-आसन



१३९
उत्थित-अर्धचक्र-आसन



१४०
अपान-आसन



१४१
पादहस्त पृष्ठचक्र-
आसन

(१४०) **अपान-आसन**—प्रथम सिद्धासन से बैठकर दोनों नथुनों से प्रश्वास को रेचक द्वारा बाहर निकाल दें। अब उड्डियान लगाकर दोनों हाथों से पसलियों के निचले भाग-उदर के दोनों पार्श्वों को पकड़ कर बलपूर्वक दबा लें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर शनैः-शनैः पूरक कर लें, और इसी प्रकार ५-७ बार करके छोड़ दें।

लाभ—इसके अभ्यास से बढ़ा हुआ वात-कफ़ तथा तिल्ली-जिगर ठीक हो जाता है। पाचनशक्ति बढ़ने के साथ उदर के अन्य विकार भी दूर होते हैं।

(१४१) **पादहस्तपृष्ठ चक्र-आसन**—दोनों टाँगों को मोड़कर घुटनों के बल खड़े हों। अब श्वास पूरक करते हुए, दोनों हाथों को ऊपर की ओर उठाकर, पीछे पीठ की ओर इतना झुकें कि दोनों हाथों से एड़ी पकड़ी जा सके। अब यहीं पर शरीर का भार डालकर, शरीर को अर्धचक्र-सा बना लें। कटि और छाती का भाग ऊपर उठा या तना रहे; यथाशक्ति कुम्भक रखते हुए उठकर रेचक कर दें। बिना प्राणायाम के भी इसे कर सकते हैं।

लाभ—इसके अभ्यास से शरीर लचकीला, दृढ़ एवं बलिष्ठ बनता है—समस्त शरीर पुष्ट तथा सुडौल बनने लगता है।

(१४२) **स्कन्धसंचालन-ग्रासन**—प्रथम वज्रासन से बैठें ग्रौर पूरक द्वारा श्वास भरकर कुम्भक कर लें। ग्रब दोनों हथेलियाँ घुटनों पर रखकर दोनों स्कन्धों (कन्धों) को क्रमशः ग्रागे-पीछे बलपूर्वक घुमाएँ। इसी प्रकार दूसरी ग्रोर उलट कर भी घुमाएँ।

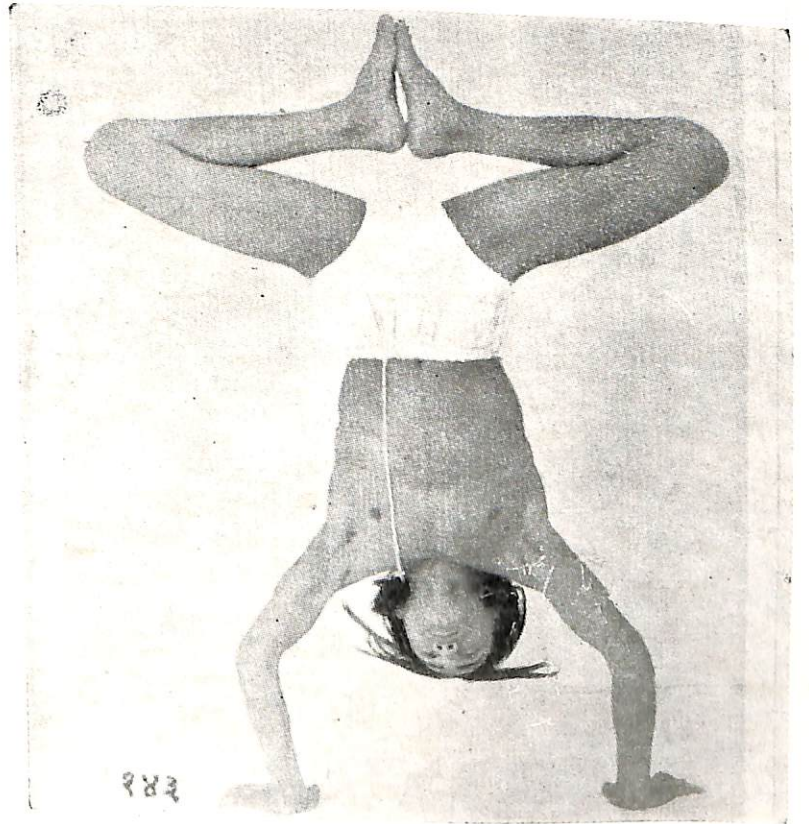
लाभ—यह ग्रासन कन्धों की दुर्बलता दूर करने के लिए ग्रति-उपयोगी है। कन्धों की सन्धियों में वात-रोग, वात-पीड़ा नहीं होने देता। वक्षस्थल तथा फुफ्फुसों को सशक्त बनाता है।

(१४३) **हस्त-उत्थित ऊर्ध्वपादतल संयुक्त-ग्रासन**—पैरों के पंजों पर शरीर का भार डालकर बैठें ग्रौर दोनों हथेलियाँ सामने किंचित् दूरी पर भूतल पर दृढ़ता से स्थापित करें। ग्रब हाथों पर बल डालते हुए, पैरों को ग्राकाश की ग्रोर उठाते हुए शरीर को ताने रखकर निरालम्ब ग्रवस्था में ठहरें। ग्रब पादतलों को परस्पर संयुक्त करके नितम्बों पर स्थापित कर दें। यथासम्भव इस ग्रवस्था में ठहरकर पूर्व-ग्रवस्था में ग्रा जाएँ।

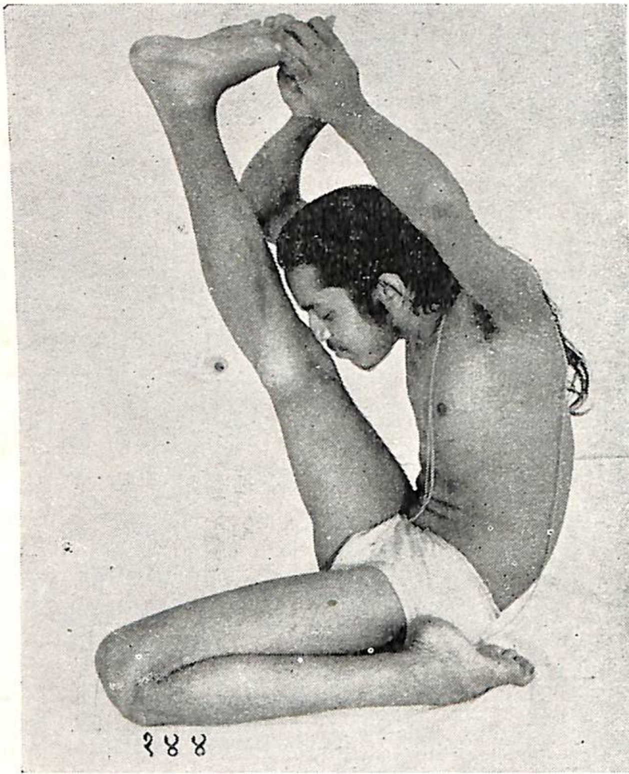
लाभ—यथाविधि इसका नित्य ग्रभ्यास करने से समस्त देह हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ, सुगठित ग्रौर सुडौल हो जाती है। उदर-रोग नष्ट हो जाते हैं ग्रौर भूख बढ़ने लगती है, भुजाएँ पुष्ट ग्रौर मस्तिष्क शान्त होता है।



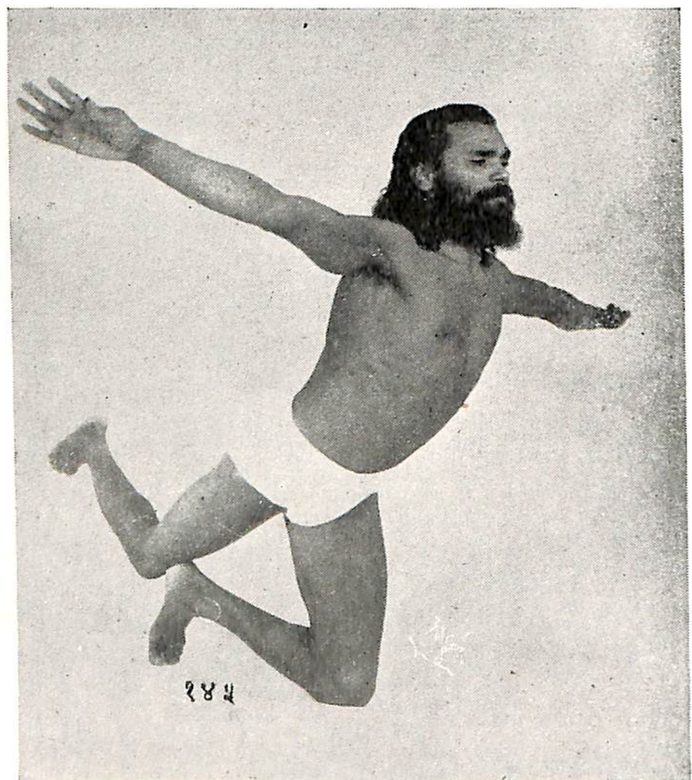
१४२
स्कन्धसंचालन-ग्रासन



१४३
हस्तउत्थित-ऊर्ध्व-पादतल-
संयुक्त-ग्रासन



१४४
एकपादोत्तान-जानशिर-आसन



१४५
यानोड्डियान-आसन

(१४४) एकपादोत्तान जानु-शिर-आसन—पहले पैर फैलाकर बैठें। पश्चात बायाँ घुटना मोड़कर पैर को वाम नितम्ब के समीप रख लें। अब दक्षिण-पैर का अंगूठा दोनों हाथों से पकड़ कर ऊँचा उठाकर, शिर किंचित् आगे झुकाकर मस्तक से जानु को स्पर्श करें।

लाभ—इससे जानु कोमल और पैर की नाड़ियाँ लचकीली हो जाती हैं।

(१४५) यानोड्डियान-आसन—पैरों को पीछे की ओर मोड़ते हुए घुटनों के सहारे इस प्रकार खड़े हों जिससे पैरों की अँगुलियाँ भूमि का स्पर्श करें, एड़ियाँ ऊपर को हो जाएँ। अब बायाँ घुटना उठाकर दाईं एड़ी पर दृढ़ता से जमाकर एड़ी ऊपर उठा लें। इस स्थिति से सीधे होकर हाथों को दोनों ओर फैलाकर यथाशक्ति स्थिर रहें। इसी प्रकार पैर बदल कर भी करें।

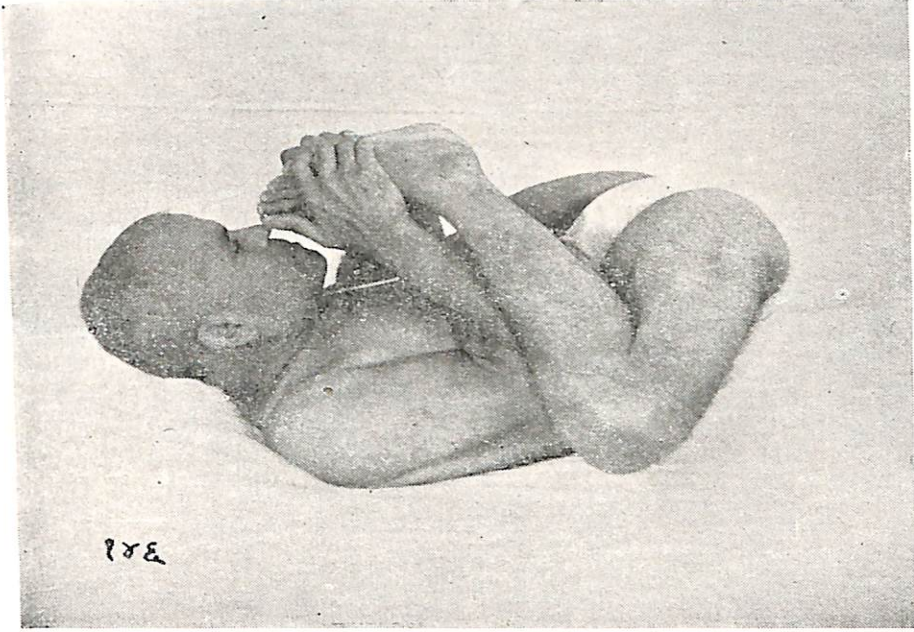
लाभ—इस आसन के अभ्यास से घुटनों में होनेवाली वात-पीड़ा शान्त होने लगती है, कटि दृढ़ बनती है और अवयवों में सन्तुलन बना रहता है।

(१४६) पादाँगुष्ट-नासिका स्पर्श-आसन—चित्त होकर भूमि पर लेटें। अब श्वास अन्दर भरकर, पैरों को ऊपर उठाकर, हाथों से पकड़कर, बिना शिर उठाए, पैरों के अँगूठों से नासिका का अग्रभाग स्पर्श करें। यथासम्भव इसी स्थिति में रहकर रेचक करते समय पूर्वस्थिति में आ जाएँ। नासा-स्पर्श पैर के एक अँगूठे से तथा दोनों से किया जाता है।

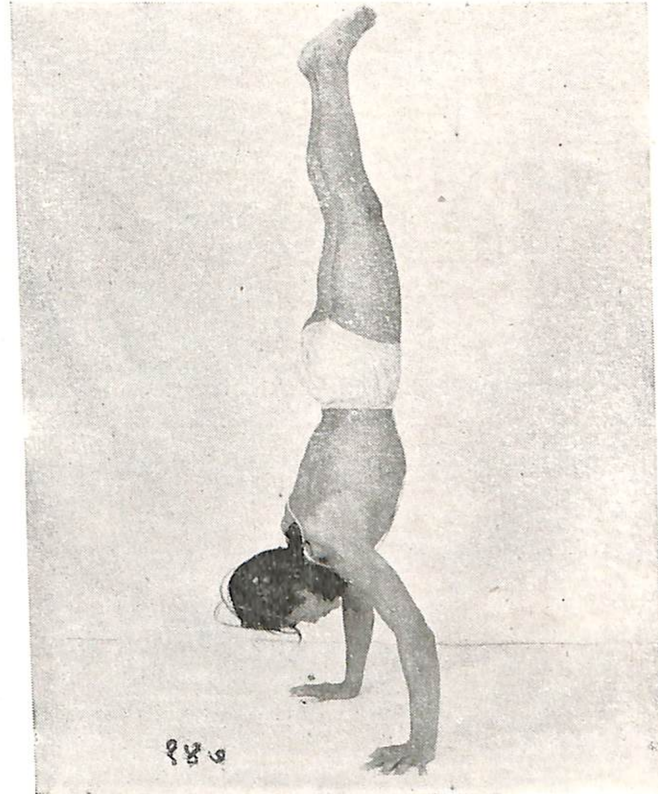
लाभ—इस आसन से कटि में ठहरी वात-पीड़ा दूर हो जाती है, पीठ नरम होती है और पाचनशक्ति बढ़ती है।

(१४७) हस्तशीर्ष-आसन—खड़े होकर आगे को झुकें, और एक हाथ की दूरी पर दोनों हथेलियाँ रखकर सम्पूर्ण शरीर को इनपर उठा लें। टाँगों को सीधा ऊपर को तान दें और पैर जुड़े रहें। श्वास-प्रश्वास की गति स्वाभाविक रहे।

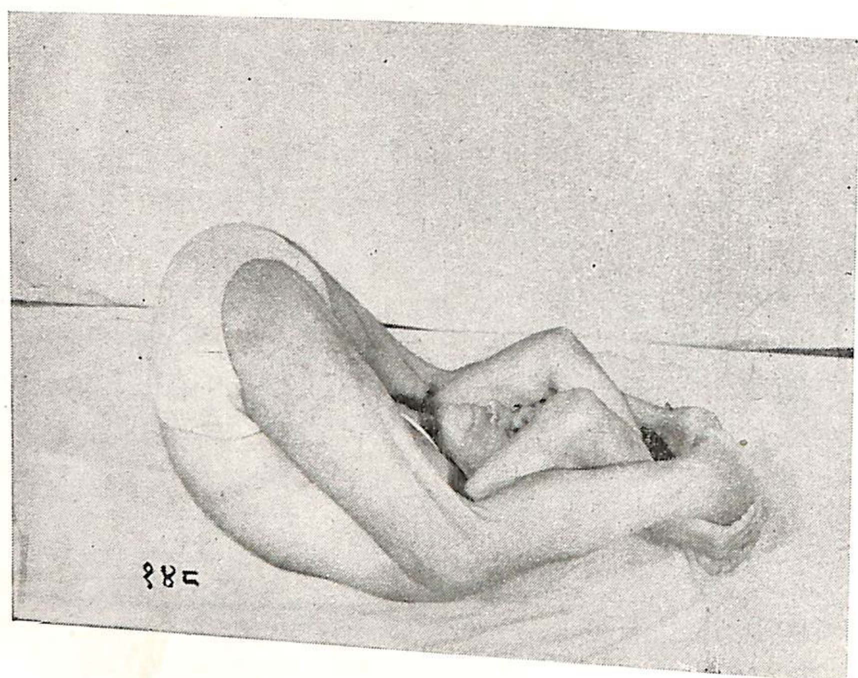
लाभ—शीर्षासन की अपेक्षा इसके अधिक लाभ हैं। रक्त की गति तीव्र होकर रुधिर शीघ्रता से शुद्ध होने लगता है। केश काले रहते हैं, मुख की कान्ति बढ़ती और मुखाकृति सुन्दर बनती है। जुकाम नहीं होता, मन्दाग्नि दूर करता है। मस्तिष्क को पुष्टि देता एवं बाहुबल बढ़ाता है। मस्तिष्क में प्रायः रहने वाली पीड़ा को हरता है।



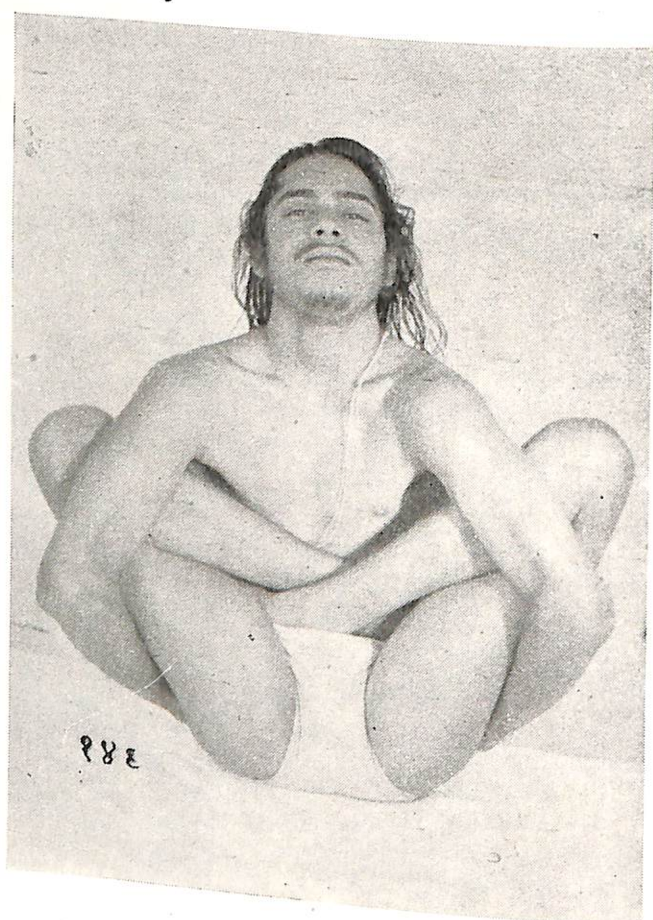
१४६
पादांगुष्ठ-नासिका-
स्पर्श-आसन



१४७
हस्तशीर्ष-आसन



१४८
पादनमस्कार-
आसन



१४६
हस्तबद्ध पद्म-आसन

(१४८) **पाद नमस्कार-आसन**—बैठकर पैरों के तले मिला लें और दोनों हाथों से पैरों के पंजे पकड़कर, श्वास रोककर, शीघ्रता से झटके के साथ पीठ की ओर शिर करके ऊपर लेट जाएँ और भूमि के साथ शिर का स्पर्श कराएँ। फिर झटके के साथ शिर सहित उठकर, सामने मस्तक को भूमि पर नमस्कार करने के समान लगादें। ४-५ बार शीघ्रता से उलट-पलटकर इसको करें।

लाभ—इस आसन से बढ़ा हुआ पेट छँट जाता है, अजीर्ण नहीं होता। भूख चमक उठती है, पाचनशक्ति बढ़ जाती है।

(१४९) **हस्तबद्ध पद्म-आसन**—पद्मासन लगा लें, और नितम्बों पर शरीर का भार डालकर दोनों घुटनों को ऊपर उठा लें। अब दोनों हाथों को टाँगों के बाहर से ले जाकर दोनों नितम्बों को हथेलियों से दृढ़तापूर्वक थाम लें। दृष्टि सामने ऊपर की ओर करें एवं यथाशक्ति कुम्भक रखें।

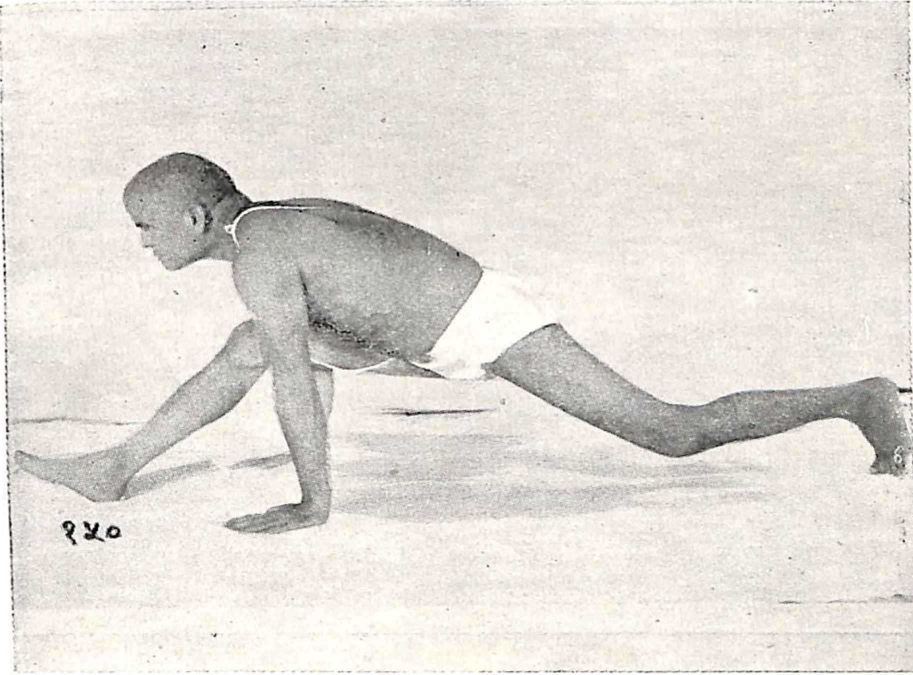
लाभ—इसके अभ्यास से उदर-गत सब पाचन-यन्त्र ठीक कार्य करने लगते हैं। पाचनशक्ति विशेष रूप से बढ़ जाती है। शेष लाभ गर्भ-आसन के समान हैं।

(१५०) **पाद संचालन-आसन**—सीधे खड़े होकर पूरक करते हुए आगे को झुकें। अब एक हाथ की दूरी रखकर दोनों हथेलियाँ भूमि पर टिका दें। इन हथेलियों को केन्द्र बनाकर दोनों पैरों को तीव्रता से इस प्रकार आगे-पीछे चलाएँ कि दक्षिण-पैर दोनों भुजाओं के मध्य से आगे निकल जाए और बायाँ पैर पीछे चला जाए। कुम्भक करते हुए इसे पुनः-पुनः करें।

लाभ—इसके अभ्यास से बाहु, कटि, टाँगें, पैर दृढ़ तथा बलिष्ट होते हैं।

(१५१) **मुष्टिबद्ध हस्तचक्र-आसन**—खड़े होकर लगभग दो फुट की दूरी पर पैर रखकर जमालें। अब दोनों हाथ सामने फैलाकर अँगुलियाँ परस्पर गूँथकर, श्वास भरकर, शिर को मध्य में रखते हुए चारों ओर वृत्ताकार में घुमाएँ। दो-चार चक्कर एक ओर से देकर उतने ही चक्कर दूसरी ओर से भी दें।

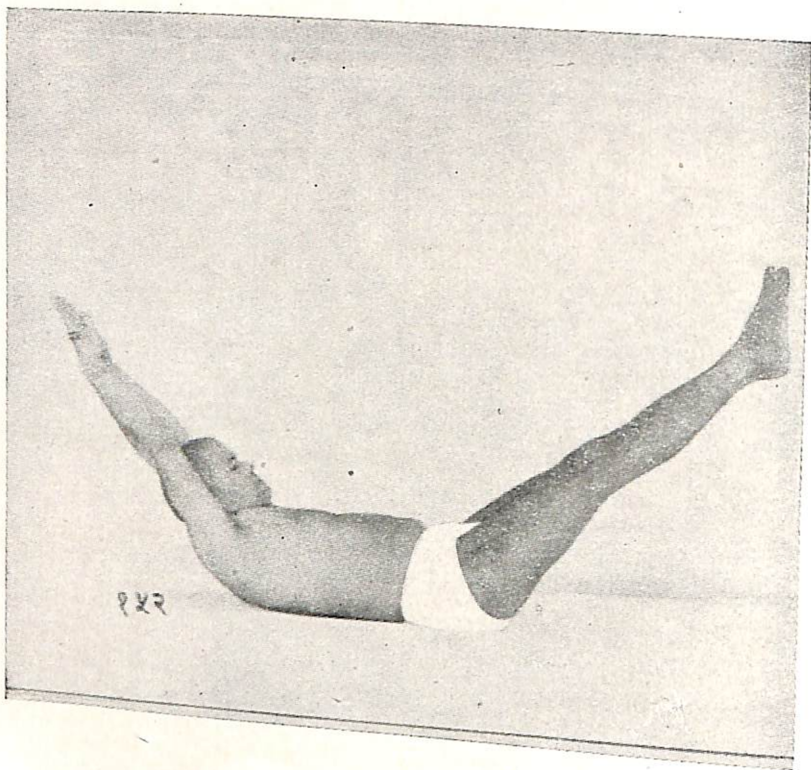
लाभ—इस आसन के अभ्यास से छाती का विकास तथा कन्धों की शक्ति में वृद्धि होती है। यदि कब्ज़ रहता हो तो जल पीकर बिना प्राणायाम किये इस आसन को करने से कब्ज़ दूर हो जाता है।



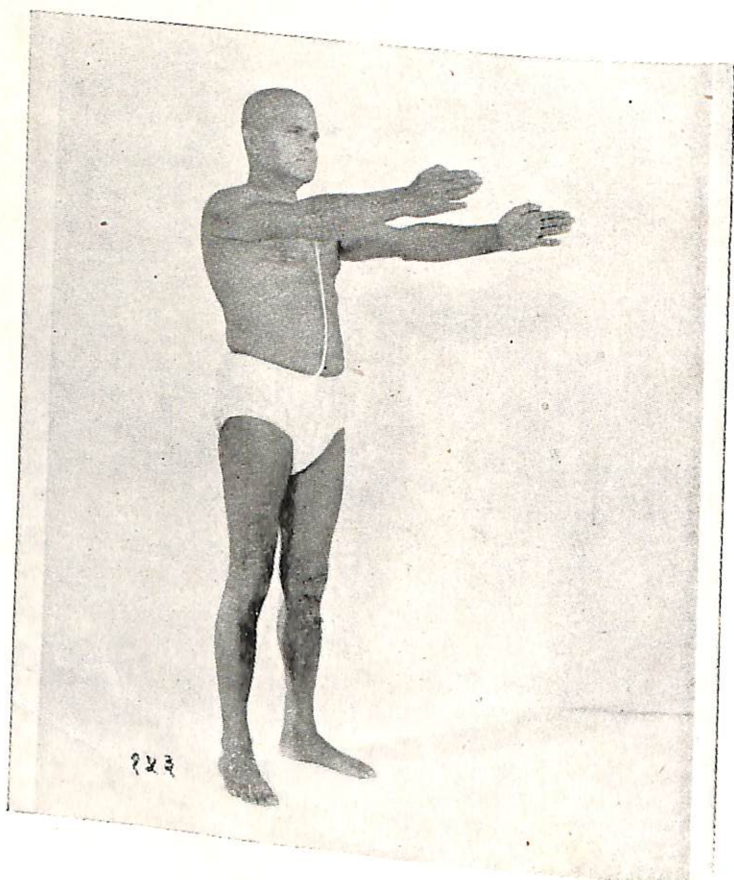
१५०
पादसंचालन-आसन



१५१
मुष्टिबद्ध-हस्तचक्र-आसन



१५२
नौका-आसन



१५३
द्विहस्तचक्र-आसन

(१५२) **नौका-आसन**—भूमि पर चित्त लेटें। और दोनों हाथों को सीधा सामने ले जाकर हथेलियाँ जोड़कर अँगुलियाँ परस्पर गूँथकर भुजाएँ तान दें। अब हाथ-पैरों को भूमि से इतना ऊपर उठाकर तानें कि पेट भूमि से लगा रहे। दोनों हाथ-पैर उठकर शरीर की आकृति नौका जैसी बन जाए। इस स्थिति में शरीर उदर तथा कटि पर सन्तुलित हो जाता है। रेचक करते समय पूर्व सादी-स्थिति में आजाएँ।

लाभ—यह आसन अनावश्यक उद्गार(डकार)तथा हिचकियाँ दूर करता है और छोटी-बड़ी आँतों को बल प्रदान करता है।

(१५३) **द्विहस्तचक्र-आसन**—एक हाथ की चौड़ाई पर पैर रख कर सीधे खड़े हों और दोनों भुजाओं को ढीला-सा करके वृत्ताकार में शीघ्रगति से दाएँ-बाएँ दोनों ओर घुमाएँ।

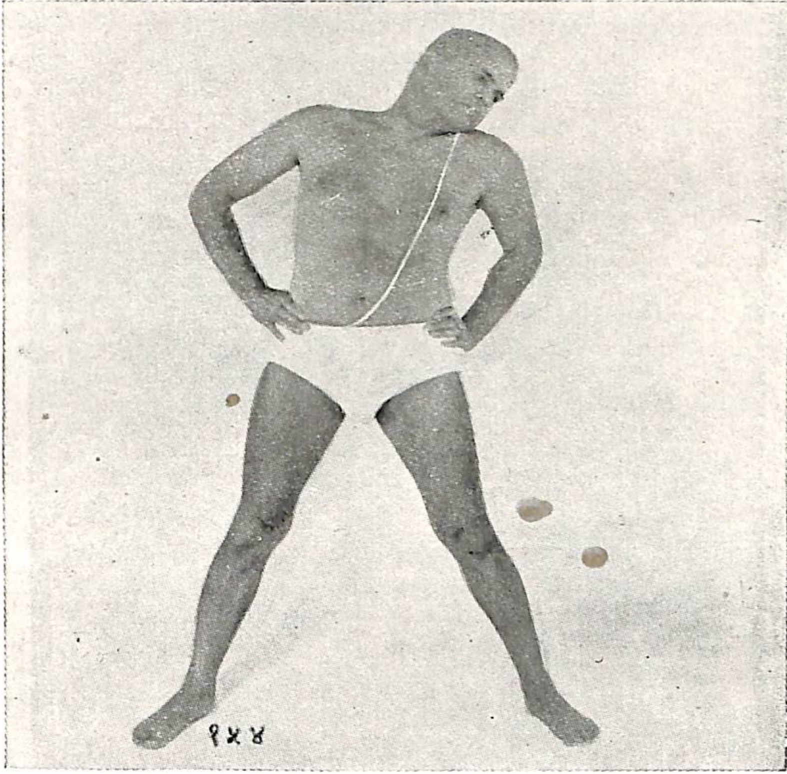
लाभ—इससे कन्धे कोमल, लचकीले, दृढ़ और पुष्ट होते हैं; वातज पीड़ाएँ नहीं होतीं, छाती फैलती और दृढ़ होती है।

(१५४) **ग्रीवाचक्र-ग्रासन**—सीधे खड़े होकर, ढीली की हुई ग्रीवा को छाती, कन्धों ग्रौर पीठ के साथ स्पर्श कराते हुए चारों ग्रोर घुमाएँ। दाईं ग्रोर से घुमा लेने के पश्चात् बाईं ग्रोर से भी घुमाएँ। इच्छा हो तो पूरक करके कुम्भक प्राणायाम करते हुए भी घुमा सकते हैं।

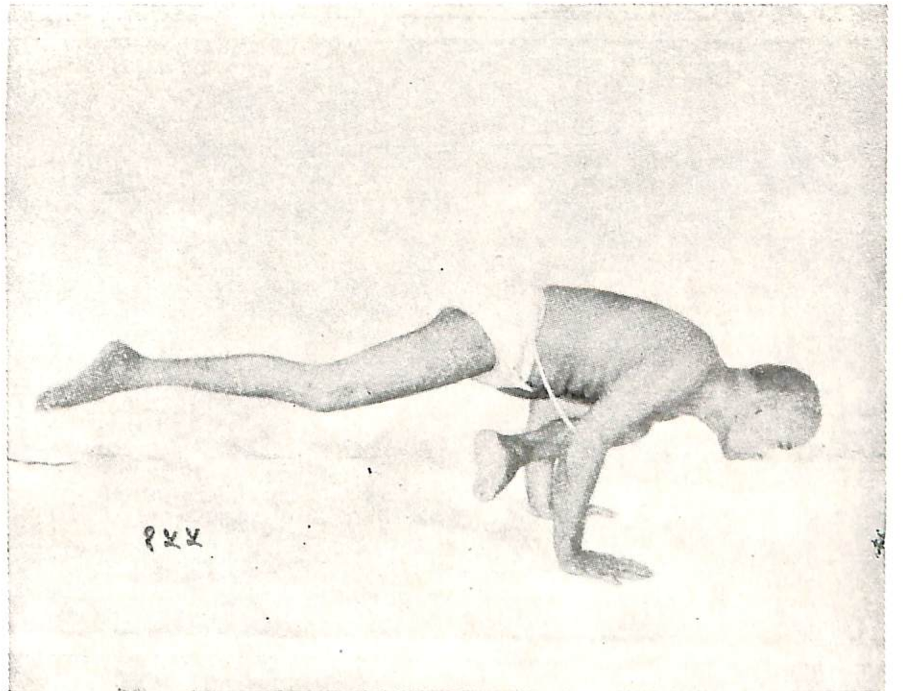
लाभ—इससे ग्रीवा-कण्ठ की समस्त नाड़ियाँ लचकीली ग्रौर दृढ़ बनती हैं। गण्डमाला-रोग होने की सम्भावना नहीं रहती। वाणी मधुर, स्वर सुरीला ग्रौर गम्भीर होता है। ग्रीवा में शीघ्र झुर्रियाँ नहीं पड़तीं। नेत्रों को शक्ति देता ग्रौर दांतों को दृढ़ बनाता है।

(१५५) **उल्लूक पाद-प्रसारण-ग्रासन**—दोनों पैर ग्रागे फैलाकर बैठें। ग्रौर दोनों पैरों में हथेलियाँ डालकर दोनों कोहनियों पर जंघा ग्रौर पिण्डलियों का भाग रखकर, हाथों के बल समस्त शरीर को उठा लें। ग्रब बाईं टाँग से वाम-हस्त को लपेटकर दक्षिण-पाद को पीछे की ग्रोर सीधा फैलाकर तान दें। फिर दक्षिण-पैर को पूर्व स्थिति में लाकर दक्षिण हस्त को दृढ़ता से लपेट कर बायाँ पैर दक्षिण पैर की भाँति सीधा फैलाकर तान दें।

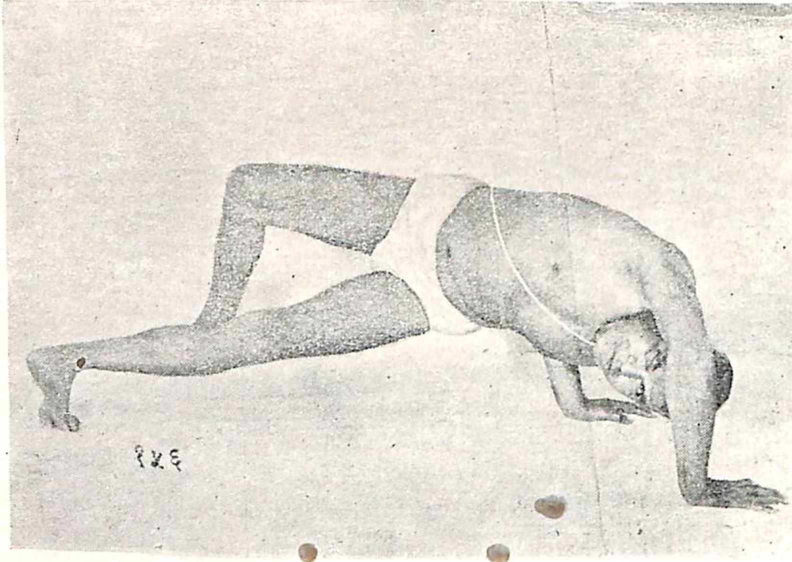
लाभ—इसके ग्रभ्यास से भुजाग्रों के साथ वक्षस्थल का बल भी विशेष रूप से बढ़ता है। कुम्भक प्राणायाम के साथ यह ग्रासन करने से प्राणशक्ति बलिष्ठ होती है; पैर पुष्ट होते हैं ग्रौर भोजन में रुचि बढ़ती है। समस्त शरीर पर ग्रच्छा प्रभाव पड़ता है।



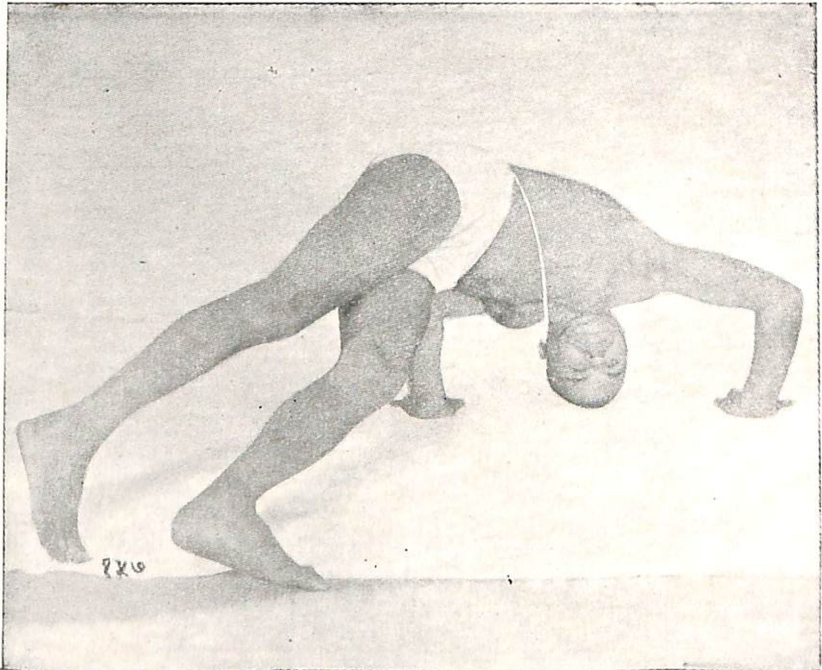
१५४
ग्रीवाचक्र-आसन



१५५
उल्लूकपाद-प्रसारण-
आसन



१५६
सर्वाङ्गचक्र-आसन



१५७
हस्तशीर्षचक्र-आसन

(१५६) **सर्वाङ्ग-चक्र-ग्रासन**—दण्ड निकालने के समान ही भूमि पर ग्रागे-पीछे हाथ-पैर फैला लें। हाथों को दृढ़ रखते हुए, पैरों से चारों ग्रोर चलते हुए चक्र लगाएँ। इस दशा में हथेलियाँ उसी स्थान में दृढ़ रहती हैं ग्रौर पैरों के पंजें समस्त शरीर को भूमि से ऊपर उठाए हुए चलते हैं। दाईं-बाईं दोनों ग्रोर क्रमशः कई चक्र लगा लेने चाहिएँ।

लाभ—इससे सम्पूर्ण शरीर का यथोचित व्यायाम हो जाता है; ग्रङ्ग-प्रत्यङ्ग खुल जाते हैं, रक्त-संचार वेग से होता है। ग्रतः रक्त शीघ्रता से शुद्ध होने लगता है। साराँश यह कि शारीरिक शक्ति को सब प्रकार से बढ़ाता है। सभी धातुग्रों को पुष्ट करता है।

(१५७) **हस्तशीर्ष-चक्र-ग्रासन**—भूमि पर कोमल वस्त्र बिछाकर उस पर शिर ग्रौर हाथ रखकर पैरों को लम्बा फैला दें। फिर शिर ग्रौर हथेलियों को बिना उठाए पैरों से सारे शरीर को लिये हुए पैरों से चलकर चक्र लगाना प्रारम्भ कर दें—शिर ग्रौर हथेलियों के सहारे चारों ग्रोर चक्र काटें। इसी भाँति दूसरी ग्रोर से भी सारे शरीर को घुमावें। कम-से-कम दोनों ग्रोर तीन-चार बार चक्र लगा लें।

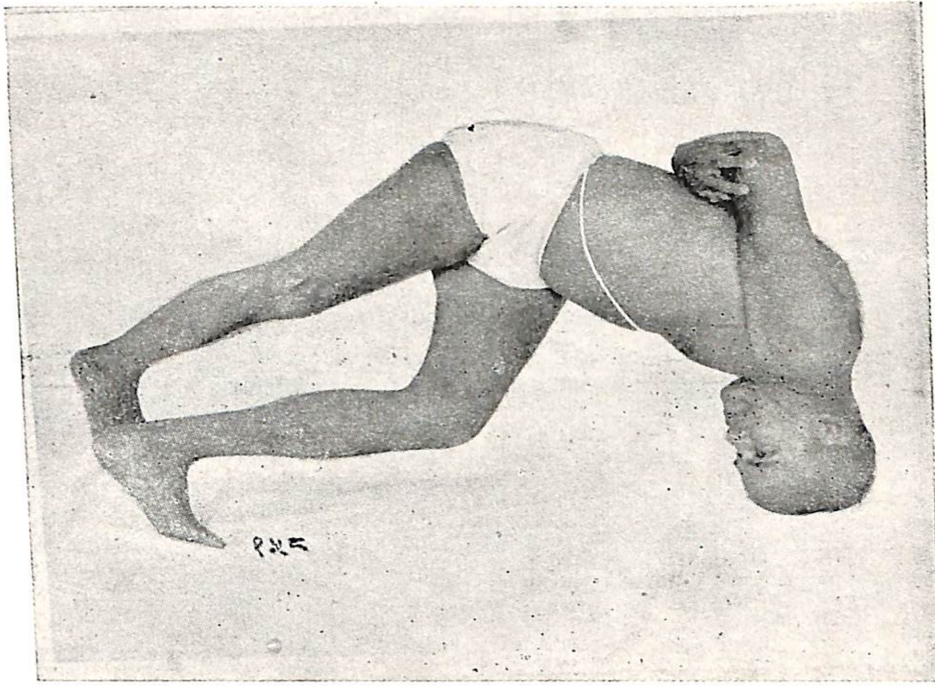
लाभ—इस ग्रासन से भी सम्पूर्ण शरीर का व्यायाम हो जाता है, विशेषकर ग्रीवा का। पाचनशक्ति बढ़ती है। यों तो सम्पूर्ण शरीर, किन्तु मुख विशेष रूप से तेजस्वी बनता है।

(१५८) **शीर्षचक्र-ग्रासन**—भूमि पर वस्त्र या कम्बल बिछाकर उस पर शिर रखकर पैर फैलाएँ। द्विकोण ग्राकृति बना लें, ग्रौर दोनों हाथों को पीछे ले जाकर परस्पर बाँध लें। पश्चात् पैरों को चलाते हुए दाईं ग्रोर को चक्र काटें, फिर बाईं ग्रोर भी घूमें। चारों ग्रोर घूमते समय शिर एक ही स्थान पर टिका रहे। यह ग्रासन ऊपर के ग्रासनों से कुछ कठिन है। ग्रतः शनैःशनैः इसका ग्रभ्यास करें।

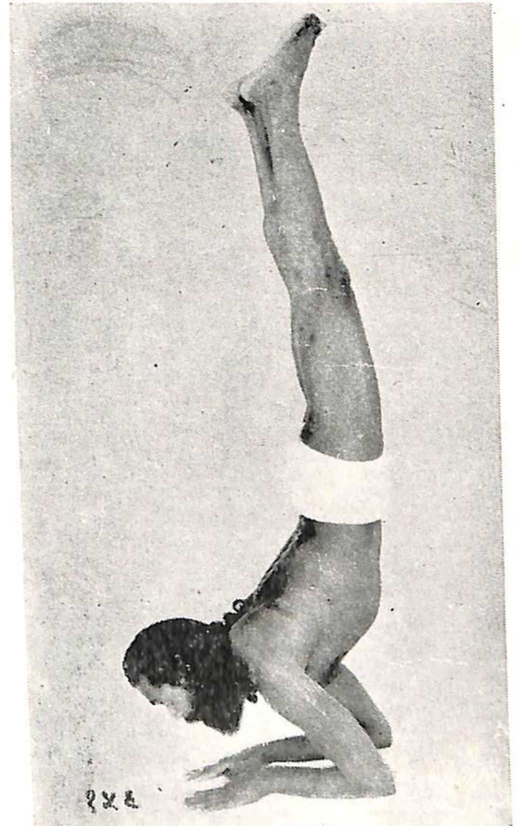
लाभ—इसके ग्रभ्यास से मस्तक, ग्रीवा, वक्षस्थल, टाँगें बलवान होती हैं। समस्त शरीर की माँस-पेशियाँ, नाड़ियाँ कोमल हो जाती हैं। मस्तिष्क ताज़ा हो जाता है, मेधा ग्रौर स्मरण शक्ति बढ़ती है।

(१५९) **उत्थितशीर्ष-ग्रासन**--कोहनी तथा हथेलियों सहित दोनों हाथों को भूमि पर दृढ़ता से रखकर समस्त शरीर को इन्हीं पर ऊपर की ग्रोर तानकर खड़ा कर लें। शिर को भी पृथ्वी से ऊपर उठाकर रखें। यथाशक्ति इसी स्थिति में ठहरने का प्रयत्न करें। श्वास-प्रश्वास की गति सूक्ष्म रहे।

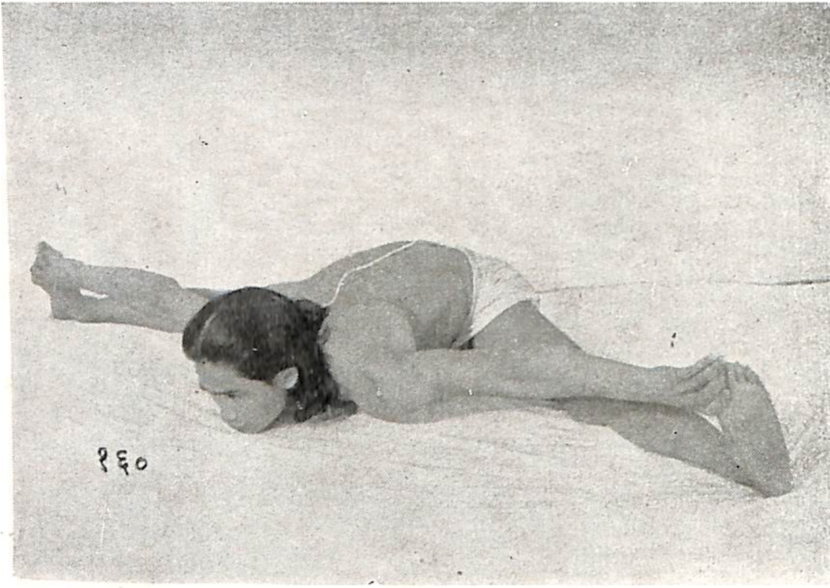
लाभ—इससे दोनों भुजाएँ, छाती, ग्रीवा दृढ़ तथा पुष्ट होती हैं। पाचन-शक्ति बढ़ती है। मस्तिष्क की ग्रोर रक्त का प्रवाह विशेष होने से मेधा ग्रौर स्मरण शक्ति बढ़ती है।



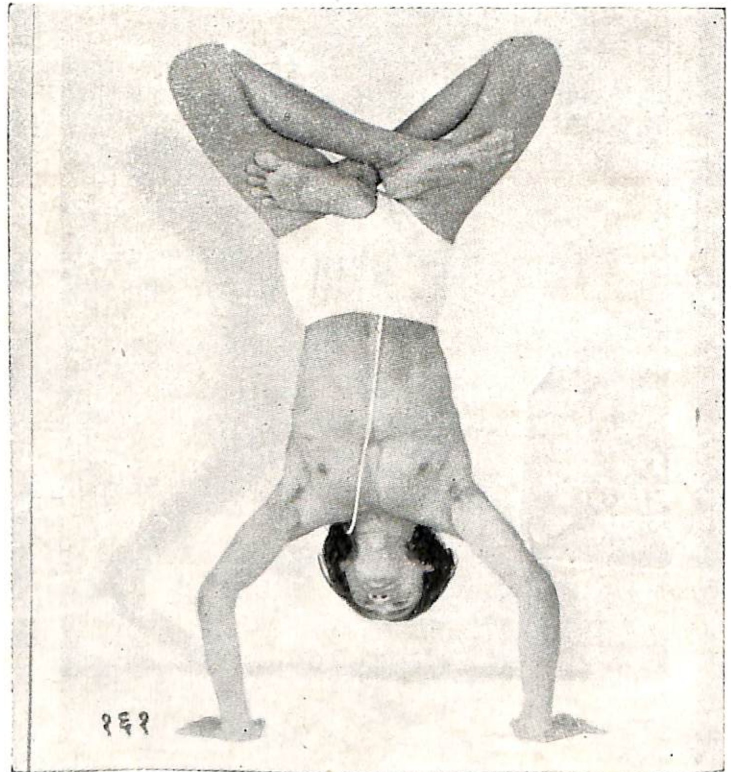
१५८
शीर्षचक्र-आसन



१५९
उत्थितशीर्ष-आसन



१६०
विस्तृतपाद-ग्रासन



१६१
हस्तस्थित-ऊर्ध्वपद्म-ग्रासन

(१६०) **विस्तृतपाद-आसन**––दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठें, और दोनों टाँगों को दोनों पार्श्वों की ओर जितना संभव भी हो फैला दें; दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़ें। अब पूरक करके कुम्भक साधें और शिर को घुमा कर मस्तक पृथ्वीपर टिका दें। इसी स्थिति में एक बार बाएँ जानु से, और दूसरी बार दाएँ जानु से मस्तक को पृथ्वी पर टेकें। इसके पश्चात् दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर, परस्पर बाँधकर, शिर को आगे झुकाकर मस्तक पृथ्वी से लगा दें।

लाभ––इस आसन के अभ्यास से कोष्ठबद्धता दूर होती है और कटि लचकदार बनती है।

(१६१) **हस्तस्थित ऊर्ध्वपद्म-आसन**—प्रथम पद्मासन लगाएँ, पश्चात् हथेलियाँ सामने थोड़ी दूरी पर दृढ़ता से रखकर हथेलियों पर धीरे-धीरे समूचे शरीर को ऊपर की ओर खड़ा कर लें। अब यथा सामर्थ्य इसी स्थिति में ठहरने का प्रयत्न करें। यह आसन कुछ कठिन है। अतः धीरे-धीरे अभ्यास करें।

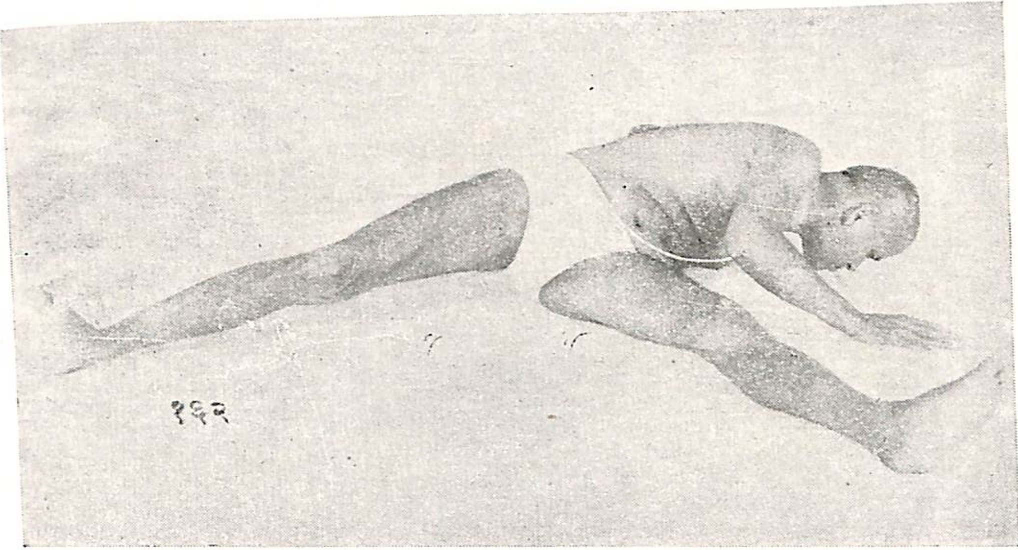
लाभ—इसके अभ्यास से भुजाएँ बलिष्ठ होती हैं; पाचनशक्ति बढ़ती है, उदर सम्बन्धी विकार नहीं होते; शरीर स्वस्थ, दृढ़, और सुडौल बनता है।

(१६२) **विस्तृतपाद-पार्श्व भू नमस्कार-आसन**—दोनों पैरों को सामने पसारकर बैठें, और इन्हें दाईं-बाईं ओर यथाशक्ति फैला दें। इसी स्थिति में वाम-पार्श्व की ओर दोनों हथेलियाँ स्थापित करके बीच में शिर को मस्तक को भूमि पर टेक दें। इसी प्रकार दक्षिण पार्श्व से भी इसे करें। अभ्यासकाल में पूरक सहित कुम्भक रखते हुए करना चाहिए।

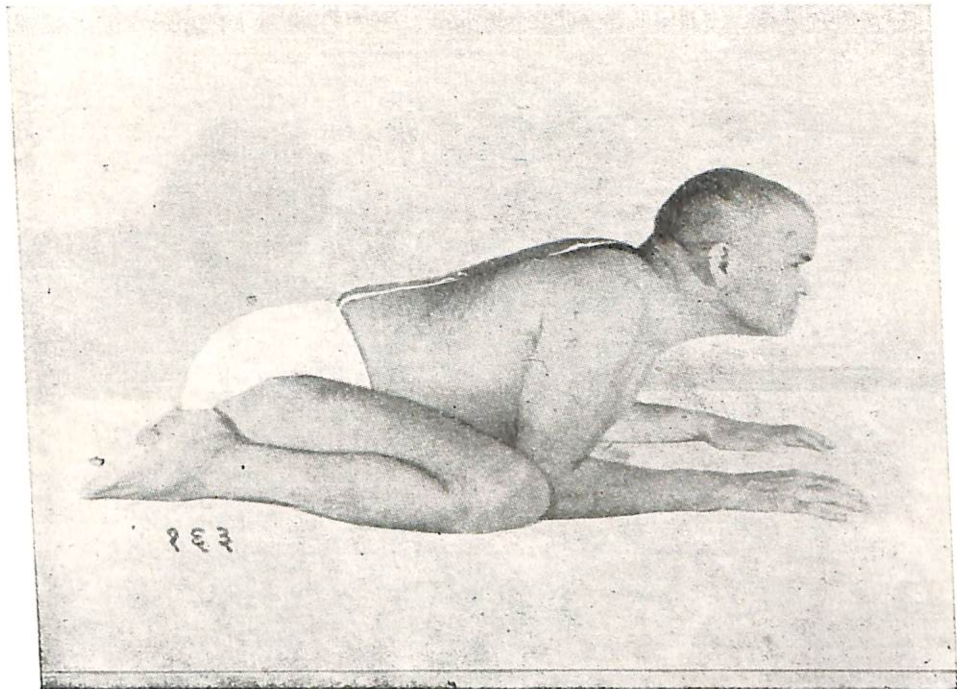
लाभ—इसके अभ्यास से छाती, पसलियाँ, कटि पुष्ट और सुडौल बनते हैं तथा आँतें निर्विकार रहती हैं।

(१६३) **भृङ्ग-आसन**—वज्रासन पर स्थित होकर पूरक करें। अब कुम्भक करके, आगे को झुककर वक्षस्थल को घुटनों पर टेक दें और कोहनियाँ घुटनों के मध्य में आगे को कर लें। पश्चात् शिर को कुछ उठाकर दृष्टि सामने रखते हुए मुख को कुछ सिकोड़कर प्राणवायु को और जितना अधिक खींचकर उदर में भर सकें—भर दें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहें, फिर पूर्वस्थिति में आ जाएँ।

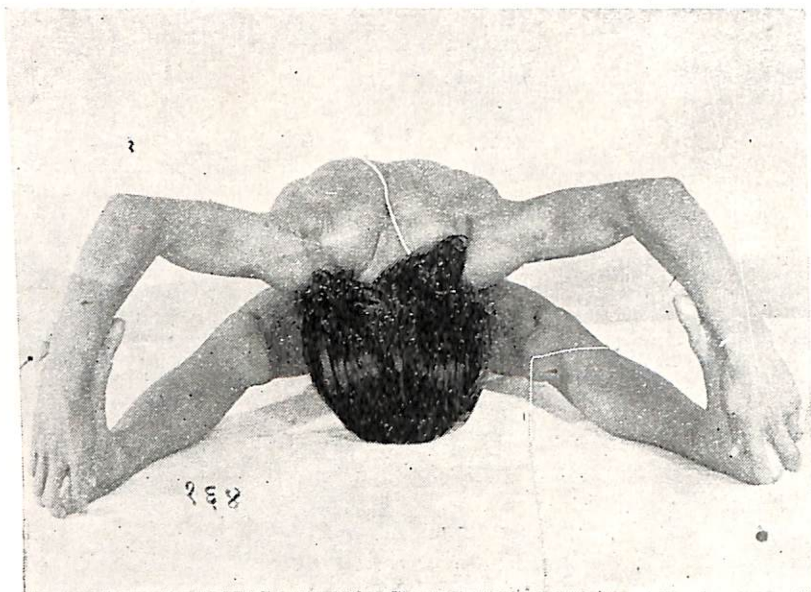
लाभ—यह अपान वायु-शोधक है, अँतड़ियों को ठीक रखता है तथा उदर-विकारों को नहीं होने देता और कब्ज़ भी नहीं रहता।



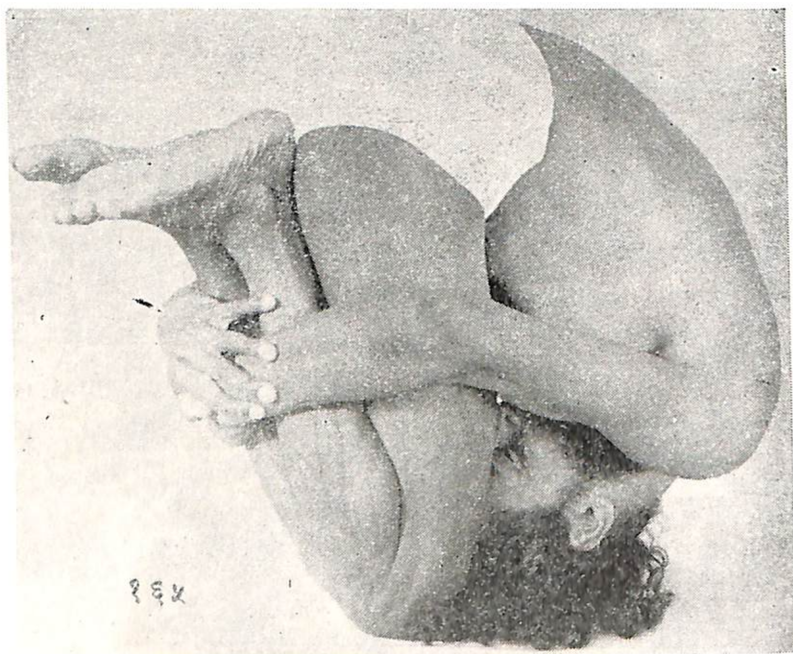
१६२
विस्तृतपाद-
पार्श्व-भू-
नमस्कार
आसन



१६३
भृङ्ग-आसन



१६४
उग्र-आसन



१६५
सर्वाङ्गबद्ध-आसन

(१६४) उग्र-आसन—दोनों पैर सामने पसारकर बैठें और इन्हें दो हाथ चौड़ा फैला लें। अब दोनों हाथों को पैरों की अँगुलियों के ऊपर से ले जाकर मस्तक को टाँगों के मध्य की भूमि पर टिका दें। यथाशक्ति कुम्भक रखकर रेचक करते समय शिर को उठा लें। अब पुनः पूरक करके—मस्तक को उसी प्रकार भूमि पर रख दें और कुम्भक कर लें। कई बार इसे दोहरा लें।

लाभ—इससे उदर स्वस्थ रहता है, उदर में वायु (गैस) उत्पन्न नहीं होती। पेट पतला रहता है, भुजा और टाँगों का अच्छा व्यायाम हो जाता है।

(१६५) सर्वाङ्गबद्ध-आसन—प्रथम हलासन की स्थिति में आएँ। फिर कटि-भाग को ऊँचा करके शिर को घुटनों के कुछ समीप ले आएँ। अब घुटनों को मोड़कर एड़ियाँ नितम्बों के समीप स्थापित कर दें। तदुपरान्त दोनों हाथों से पैरों को दृढ़तापूर्वक जकड़कर यथाशक्ति इसी स्थिति में रहें। यह आसन कठिन है, शनैः-शनैः इसका अभ्यास करें।

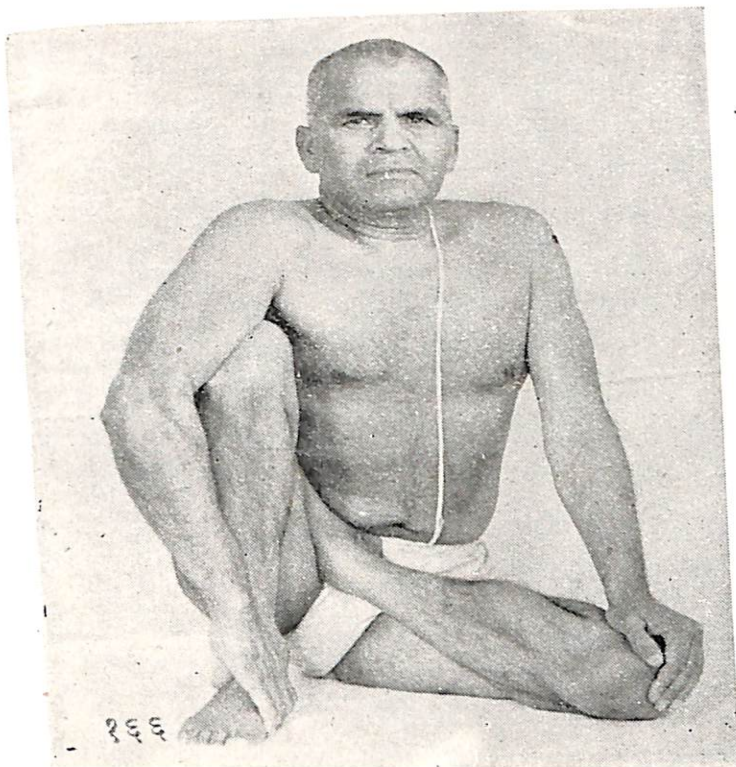
लाभ—यह अङ्गों के कम्प को दूर करता है, उदर को कोमल तथा कृश बनाता है। समस्त शरीर को शक्तिशाली बनाता है।

(१६६) **प्राण-ग्रासन**—साधारण स्थिति से बैठकर दक्षिण जंघा-मूल पर बायाँ पैर रखें ग्रौर दायाँ घुटना मोड़कर नितम्ब के समीप ही पैर को मोड़कर एड़ी खड़ी कर लें। ग्रब दक्षिण-बग़ल को दक्षिण घुटने पर टेककर, पैर की एड़ी तथा ग्रँगूठे का मध्यभाग पकड़ें ग्रौर बाईं हथेली वाम घुटने पर रखकर सीधे बैठ जाएँ ग्रौर कुम्भक साध लें।

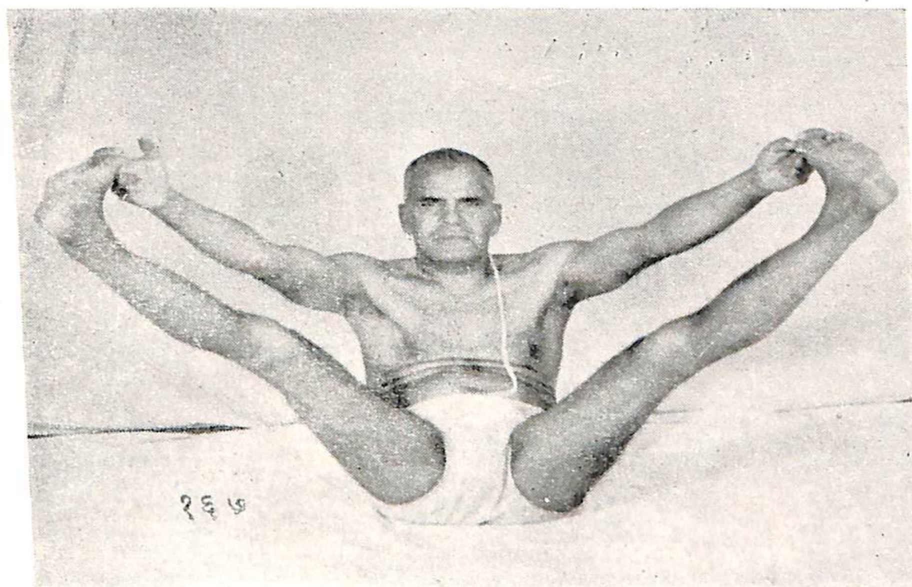
लाभ—इसके ग्रभ्यास से भुजाएँ पुष्ट ग्रौर सुडौल बनती हैं, हृदय की पुष्टि होकर इसकी गति नियमित बनती है। प्राण पुष्ट होता है।

(१६७) **स्थित ऊर्ध्वपाद विस्तृत-ग्रासन**—दोनों टाँगें ग्रागे पसारकर बैठें, ग्रौर इन पैरों को दाईं-बाईं ग्रोर यथासम्भव ग्रधिक-से-ग्रधिक चौड़ा कर लें। ग्रब श्वास भरकर दोनों हाथों से पैरों के ग्रँगूठे पकड़ लें तथा पैरों को जितना संभव हो ऊपर उठाकर इसी स्थिति में बैठे रहें।

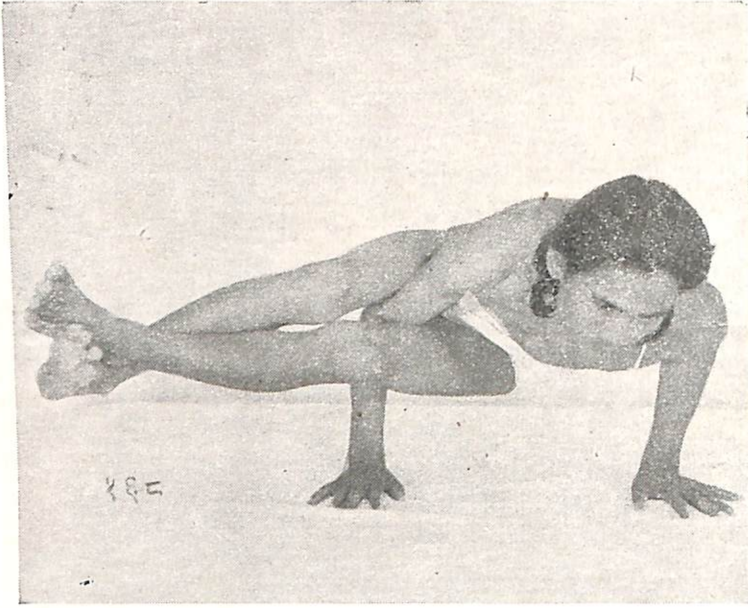
लाभ—यह ग्रासन, पीठ-कटि-नाभि-उदर को स्वस्थ तथा बलिष्ठ बनाता है।



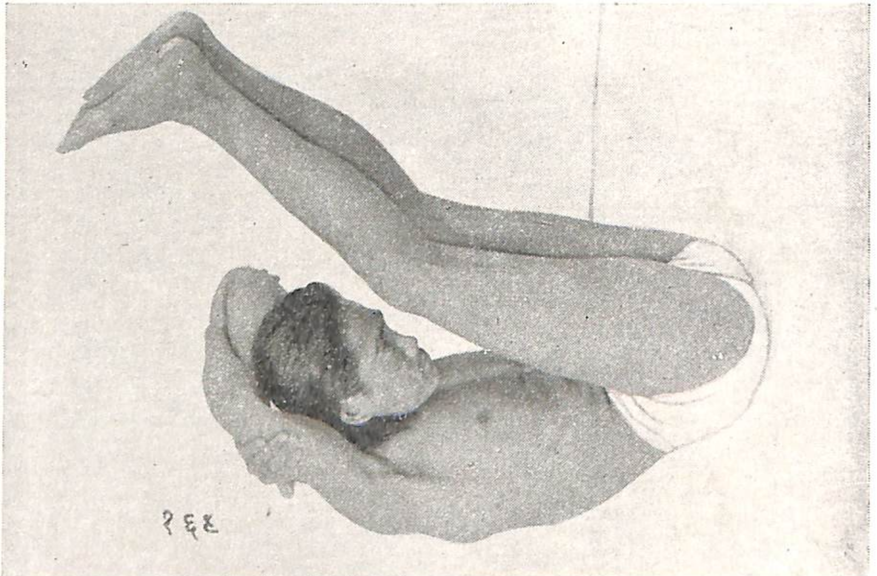
१६६
प्राण-ग्रासन



१६७
स्थित ऊर्ध्वपाद-विस्तृत-ग्रासन



१६८
वक्र-आसन



१६९
शीर्षबद्ध-उत्थित-
जानुस्पर्श-आसन

(१६८) वक्र-आसन—सीधे खड़े होकर, कमर से आगे को झुककर दोनों हथेलियाँ भूमि पर टिका लें। और दोनों टाँगें बाईं ओर ले जाकर एक दूसरी को परस्पर लपेट दें। अब दोनों जाँघों के मध्य में वामहस्त को डालकर कोहनियों तक बाहर निकालें और इस हाथ को पृथ्वी पर टेक दें। अब इन हाथों के बल पर शरीर को तौल दें। श्वास की गति स्वाभाविक रहे। इसी प्रकार बाईं ओर से भी करें।

लाभ—इसके अभ्यास से छोटी-बड़ी आँतें पुष्ट होती हैं, आँते मल को शीघ्र फेंकने लगती हैं; पाक-कार्य ठीक होने लगता है। हाथ-पैर भी दृढ़ होते हैं।

(१६९) शीर्षबद्ध उत्थितजानुस्पर्श-आसन—भूमि पर चित्त होकर लेट जाएँ, और दोनों हाथ शिर के पीछे की ओर ले जाकर दक्षिण हस्त से बाईं कोहनी तथा वामहस्त से दाईं कोहनी पकड़ लें। अब पूरक सहित कुम्भक करके नितम्बों का सहारा लेकर शिर और पैरों को इतना ऊपर उठाएँ कि शिर और घुटने परस्पर मिल जाएँ। रेचक करते समय पूर्व स्थिति में आ जाएँ।

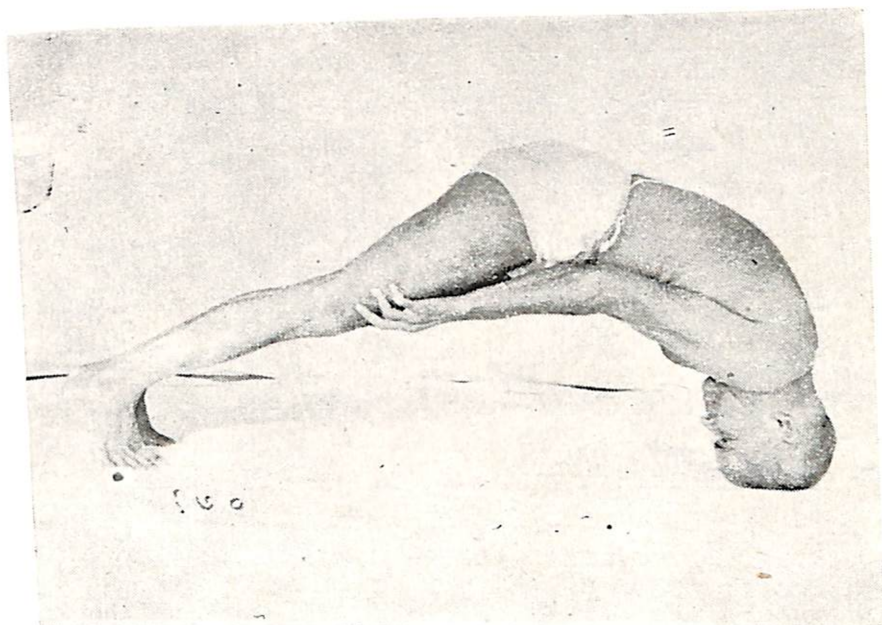
लाभ—इसके नित्य-निरन्तर अभ्यास से वक्षस्थल, फुप्फुस, कटि आदि सदा स्वस्थ तथा पुष्ट रहते हैं; और शरीर दृढ़ बना रहता है।

(१७०) **द्विकोण-ग्रासन**—पैर मिलाते हुए सीधे खड़े हों, श्वास ग्रन्दर भर कर कमर से ग्रागे को झुकें ग्रौर पैरों से दो हाथ की दूरी पर शिर को टेक दें। ग्रब दोनों हाथ कटि के पृष्ठभाग पर बाँधकर यथाशक्ति इसी स्थिति में रहें।

लाभ—इससे कण्ठ-नाड़ियाँ शुद्ध ग्रौर दृढ़ होती हैं। रक्त-संचालन भली प्रकार होने से ग्रङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्ट होते हैं।

(१७१) **सारङ्ग-ग्रासन**—दोनों हथेलियाँ भूमि पर दृढ़ता से जमाएँ, ग्रौर ग्रँगुलियाँ पीछे करके कोहनियाँ परस्पर मिला लें। ग्रब कोहनियों पर नाभि को यथोचित रूप से स्थापित करदें। पश्चात् ठोड़ी को भूमि से छुग्राते हुए टाङ्गों को ऊपर की ग्रोर उठाकर, घुटनों से मोड़कर, शिर से स्पर्श करने का प्रयत्न करें। कुम्भक साधे रहें।

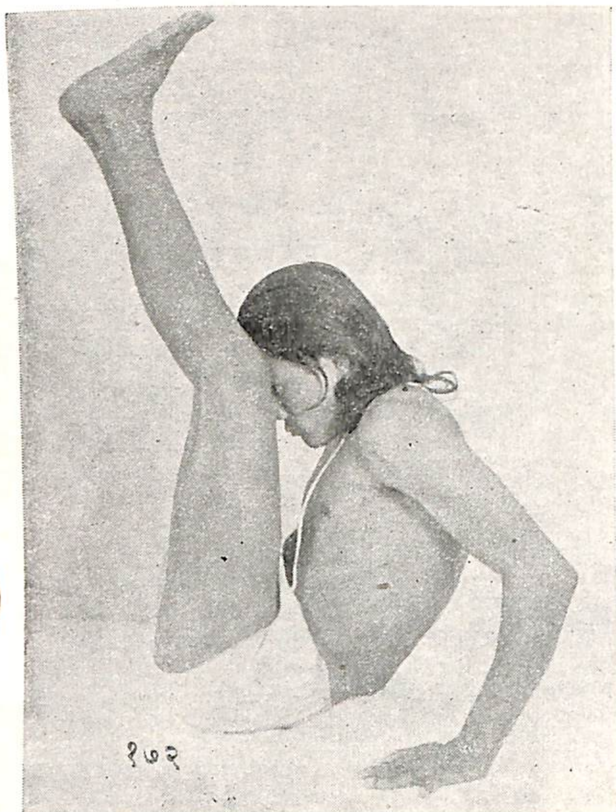
लाभ—इससे सर्वाङ्ग पुष्ट होते हैं। जठराग्नि तीव्र होकर भूख बढ़ जाती है।



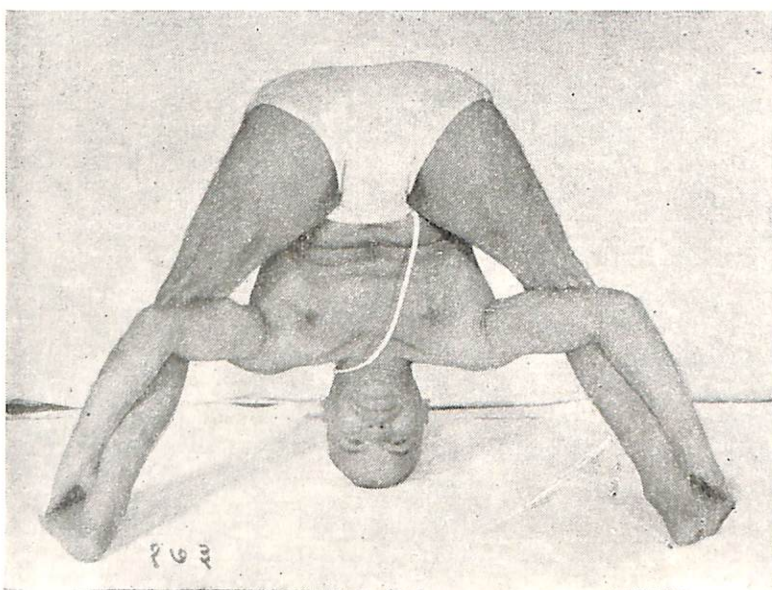
१७०
द्विकोण-आसन



१७१
सारङ्ग-आसन



१७२
उत्थित द्विजानु-शिरस्पर्श-आसन



१७३
उत्थितपाद-हस्तबद्ध-
भू-नमस्कार-आसन

(१७२) उत्थित द्विजानु शिरस्पर्श-आसन——दोनों टाँगें सामने सीधी पसार कर बैठें। और दोनों हाथों को कटि के पीछे ले जाकर भूमि पर टेक दें। अब पूरक करके टाँगों को परस्पर मिलाकर ऊपर उठाएँ, और शिर को झुकाकर घुटनों पर टेक दें।

लाभ——इस आसन से ग्रीवा, छाती, पेट, पीठ, रीढ़ सबल और दृढ़ बनती हैं।

(१७३) उत्थितपाद-हस्त बद्धभू-नमस्कार-आसन——सीधे खड़े होकर दोनों पैरों को चौड़ा कर डेढ़ हाथ पर रखें। अब श्वास अन्दर को भरें और आगे को झुक कर दोनों टाँगों के मध्य में से हाथों को निकालकर दक्षिण हस्त से दक्षिण पैर का पंजा और वाम हस्त से वाम पैर का पंजा पकड़कर इतना और झुकें कि मस्तक भूमि से लग जाए। रेचक करते समय सिर उठा लें।

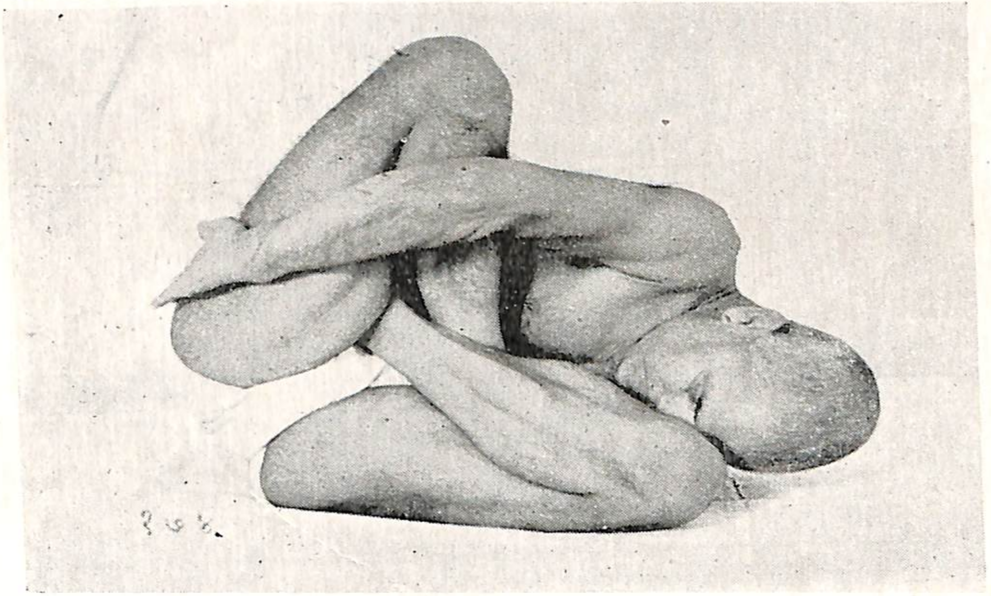
लाभ—यह आसन शरीर की सन्धियों को लचीला और दृढ़ बना देता है; फुप्फुस तथा प्राण को शक्ति देता है।

(१७४) **संकोच-ग्रासन**—बाईं करवट लेटकर बायाँ पैर, दाईं जंघामूल पर रखें ग्रौर दक्षिण पैर बाईं जंघामूल के सामने भूमि पर स्थापित कर दें। ग्रब बायाँ हाथ पीछे से बाहर निकालें एवं दक्षिण हस्त दाएँ घुटने में फँसाकर पीछे ले जाकर दोनों हाथों की ग्रँगुलियाँ परस्पर बाँध लें। पूरक करके शिर को वाम घुटने पर धरें ग्रौर रेचक करते समय शिर उठा लें। इसी प्रकार दाईं करवट लेटकर भी करें।

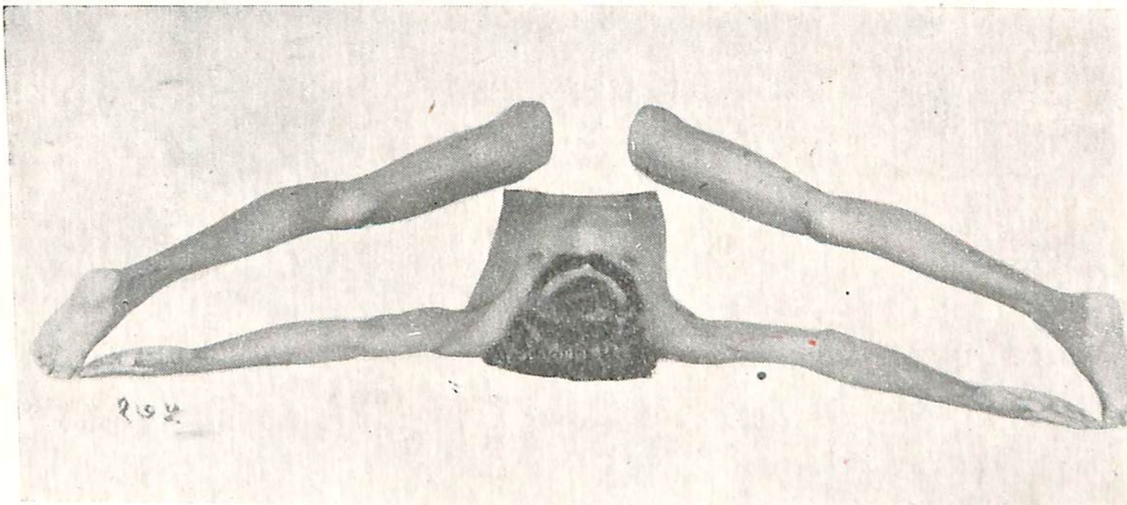
लाभ—इससे समस्त शरीर लचीला, कोमल ग्रौर दृढ़ बनता है। रक्त-संचार की तीव्रता से रुधिर शीघ्रता पूर्वक शुद्ध होता है।

(१७५) **हस्तपाद विस्तृत-ग्रासन**—हलासन में स्थित होकर पैरों को दाएँ-बाएँ यथाशक्ति चौड़ा कर लें। इसी प्रकार दोनों भुजाग्रों को भी दोनों कन्धों की ग्रोर फैला दें। हाथ-पैर तने रहें—मुड़ने न पाएँ। ग्रब हाथों की ग्रँगुलियों से पैरों के ग्रँगूठे छुएँ। कुम्भक रखकर यह ग्रासन करना चाहिए।

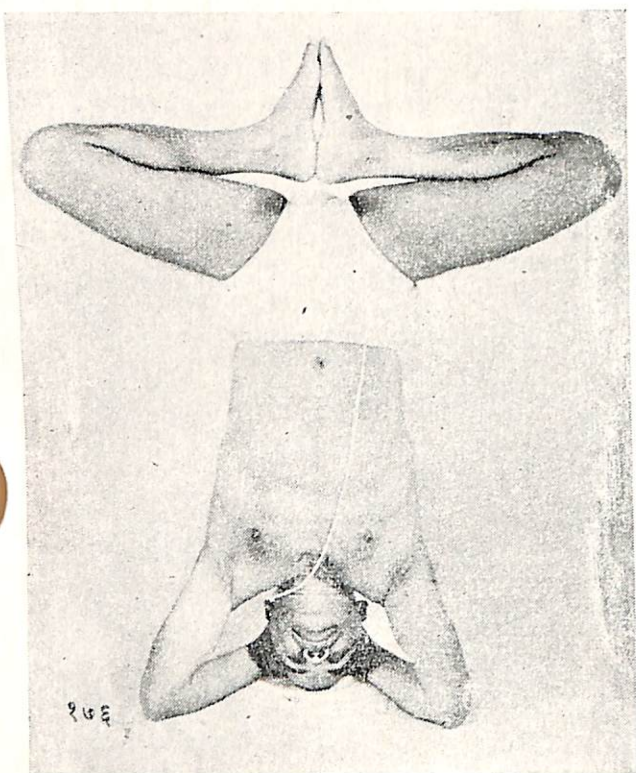
लाभ—इससे समस्त देह का व्यायाम हो जाता है।



१७४
संकोच-आसन



१७५
हस्तपाद विस्तृत-आसन



१७६
ऊर्ध्वपादतल-संयुक्त-आसन



१७७
एकहस्त-पृष्ठकोण-आसन

(१७६) ऊर्ध्वपादतल संयुक्त-आसन—बैठकर दोनों हाथों को सामने एक हाथ की दूरी पर दृढ़ता से टेक दें और शिर को दोनों हाथों के मध्य में भूमि पर टेककर समस्त शरीर को इन पर संभालते हुए पैरों को दोनों ओर फैलाकर घुटने मोड़कर, पादतलों को गुदा के समीप लाकर परस्पर मिला लें। इसी स्थिति में कुछ काल तक ठहरने का यत्न करें।

लाभ—इससे शिर-ग्रीवा-मस्तिष्क स्वस्थ रहते हैं और पाचनशक्ति बढ़ती है।

(१७७) एकहस्त पृष्ठकोण-आसन—दोनों पैर एक हाथ की दूरी पर रखते हुए खड़े हों, पूरक करके बाईं हथेली बाएँ पैर के घुटने के पृष्ठ भाग पर दृढ़ता से रखें। अब दाएँ हाथ को ऊपर उठाकर कटि से यथाशक्ति पीछे को झुकें। पश्चात सीधे होकर दक्षिण पैर का टखना हाथों से पकड़ें और शिर से दक्षिण घुटने को छुएँ। पुनः दाईं हथेली दाएँ घुटने के पृष्ठ भाग पर जमाकर, बायाँ हाथ उठाकर, कमर से पीछे को यथासम्भव झुकें। अन्त में सीधे होकर बाईं टाँग पकड़ें और शिर घुटने पर टेक दें। इसी प्रकार क्रमपूर्वक दाईं-बाईं ओर से करें।

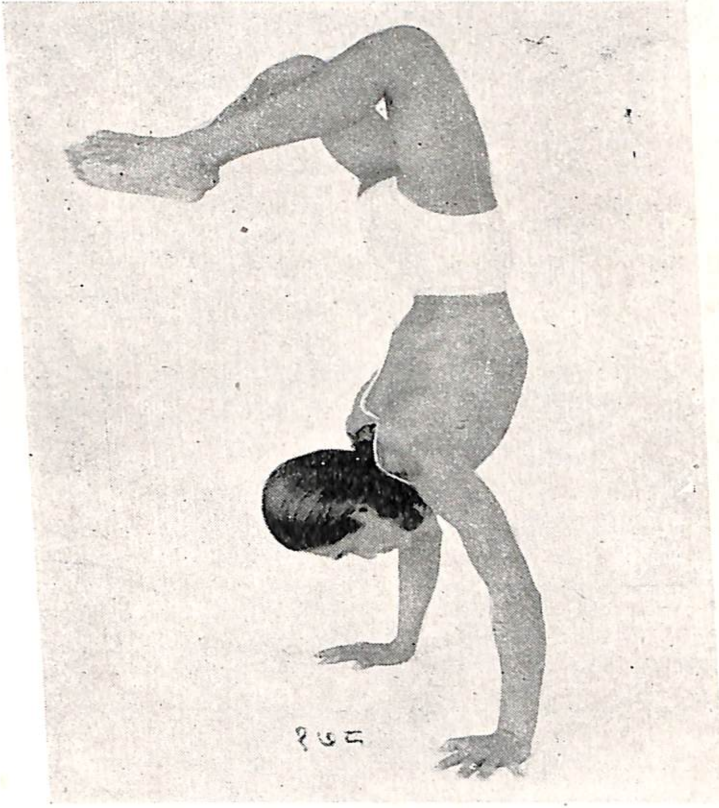
लाभ—यह कमर, टाँगें और फुप्फुसों को प्राणों सहित बल देता है।

(१७८) मयूरचाल-आसन—दोनों हथेलियों को भूमि पर दृढ़ता से जमाकर फिर सावधानी से हथेलियों के बल पर समस्त शरीर को ऊपर की ओर उठाकर खड़ा कर लें। अब घुटनों को मोड़कर पैर आगे को झुकाकर, शिर को कुछ उठाते हुए हाथों के बल आगे को चलने का प्रयत्न करें। अभ्यास की दृढ़ता से शनैः-शनैः दूर तक चलने की शक्ति भुजाओं में आ जाती है।

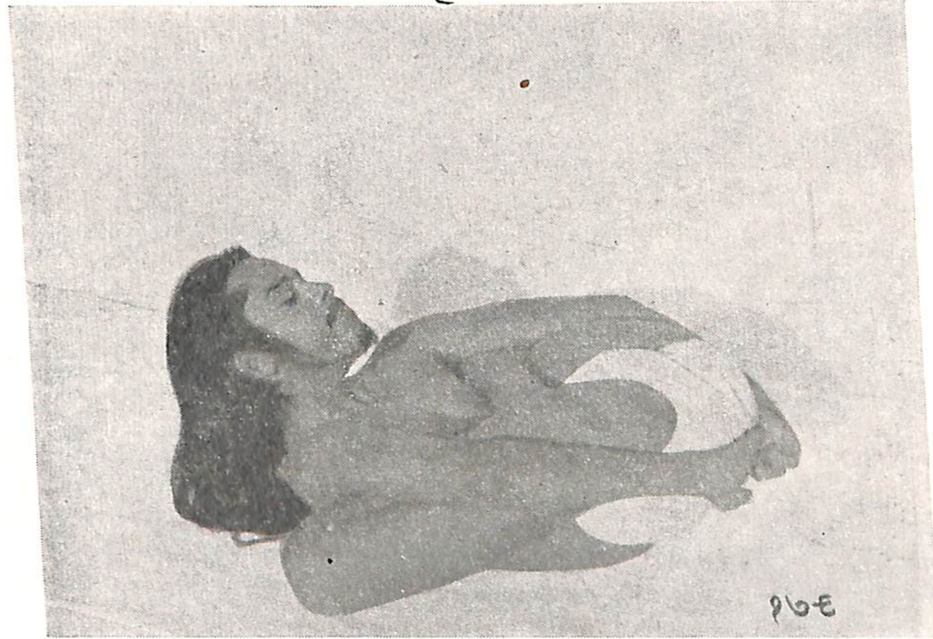
लाभ—इसके अभ्यास से विशेष रूप से वक्षस्थल, स्कन्ध तथा भुजाओं में बल और शक्ति आती है। प्राण बलिष्ठ, शरीर हल्का-फुल्का, पतला, फुर्तीला, तेजस्वी हो जाता है। भूख बढ़ जाती है और कार्यशक्ति तथा पराक्रम की वृद्धि होकर शरीर पर अधिकार हो जाता है।

(१७९) जानु पृष्ठबद्ध पद्म-आसन—पद्मासन लगाकर भूमि पर चित्त लेटें और घुटनों को छाती पर दबाकर दोनों हाथ घुटनों के ऊपर से ले जाकर बाँधें और कुम्भक प्राणायाम कर लें।

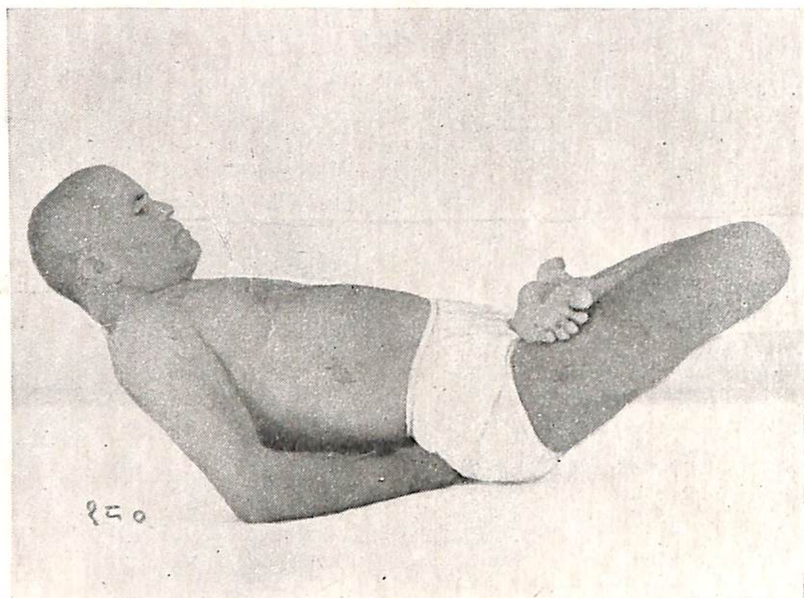
लाभ—ऊपर कथित आसन के अभ्यास से बढ़ा हुआ मेद (चर्बी) कम होने लगता है। पाचनशक्ति की वृद्धि तथा स्वास्थ्य की रक्षा होती है। बवासीर, हर्निया एवं गुर्दे की पीड़ा नहीं होती।



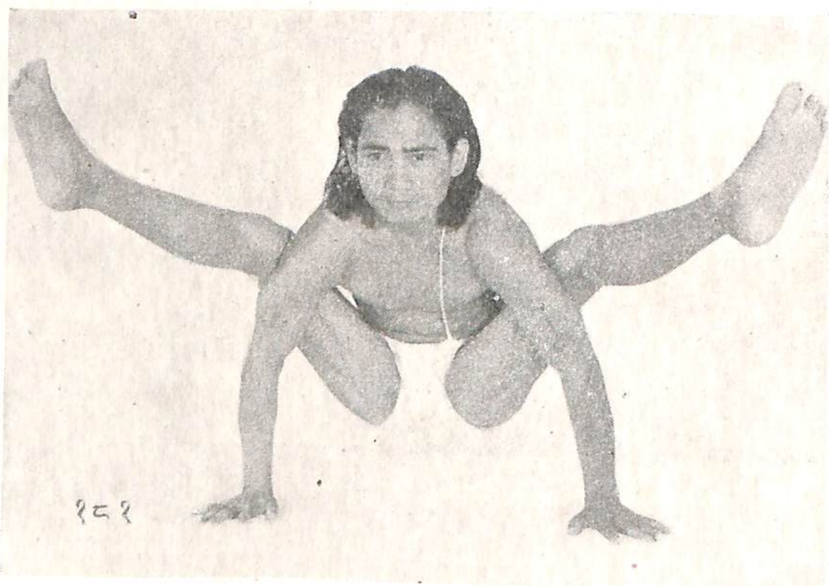
१७८
मयूरचाल-आसन



१७९
जानुपृष्ठबद्ध-पद्म-
आसन



१८०
तोलांगूल-आसन



१८१
द्विहस्त-उत्थित पाद-
प्रसारण-आसन

(१८०) तोलांगूल-आसन—पद्मासन लगाकर, दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँधकर, नितम्बों के नीचे दृढ़ता से रखकर, इन्हीं मुट्ठियों पर सारे शरीर को तौलें। घुटने जितने आगे को बढ़े हों, शिर भी उतना ही पीछे को उठा हो। इसी स्थिति में कुम्भक कर लें।

लाभ—इससे सम्पूर्ण अँगुलियाँ दृढ़ होती हैं। उदर ठीक अवस्था में रहता है और कब्ज़ नहीं होता।

(१८१) द्विहस्त उत्थित पादप्रसारण-आसन—पैर के पंजों के बल बैठें। फिर पैरों के मध्य में से दोनों हथेलियाँ निकालकर कुछ दूरी पर भूमि पर जमा लें। अब दोनों घुटनों के निचले भाग को, दोनों कोहनियों के ऊपर तौलकर, हाथों के बल सम्पूर्ण शरीर को ऊपर करें और टाँगें आगे सीधी तानकर ढाई-हाथ की चौड़ाई से रखें। श्वास-प्रश्वास की गति सूक्ष्म रहे।

लाभ—इससे शरीर समस्त दोष तथा विकार-रहित होकर स्वस्थ रहता और बल की वृद्धि होती है।

(१८२) पृष्ठपाद स्थित-आसन—सीधे खड़े होकर दक्षिण पाद वाम पार्श्व की ओर तथा वाम पाद दक्षिणपार्श्व की ओर इस प्रकार करें कि दोनों घुटने परस्पर मिल जाएँ, पाद-पृष्ठ भूमि पर टिक जाएँ और पाद-तल ऊपर हो जाएँ। अब सामने हाथ जोड़कर इसी स्थिति में कुछ देर रहें।

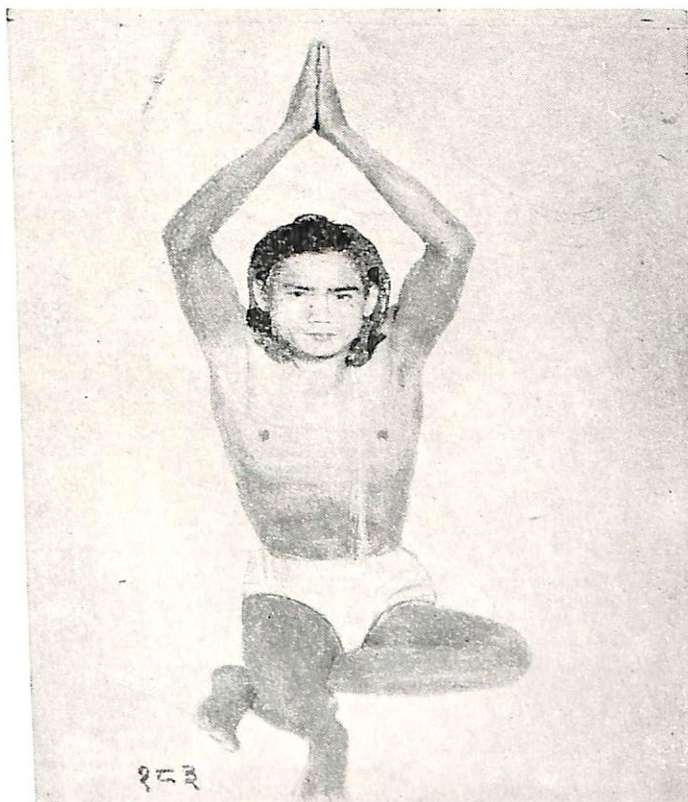
लाभ—इससे गमन-शक्ति (चलने-फिरने की शक्ति) बढ़ती है और घुटने दृढ़ बनते हैं।

(१८३) एकपाद जानुबद्ध-आसन—सीधे खड़े होकर, बाएँ घुटने और पंजे के मध्य-स्थान को दाएँ घुटने के पृष्ठ भाग पर स्थापित करें। अब आधे बैठें और फँसावें। श्वास अन्दर भरकर दोनों हाथों को शिर के ऊपर जोड़े रखें। इसे पैर बदल कर भी करें।

लाभ—इससे पैर के सब भाग, नस-नाड़ियाँ, कटिभाग आदि दृढ़ बनते हैं।



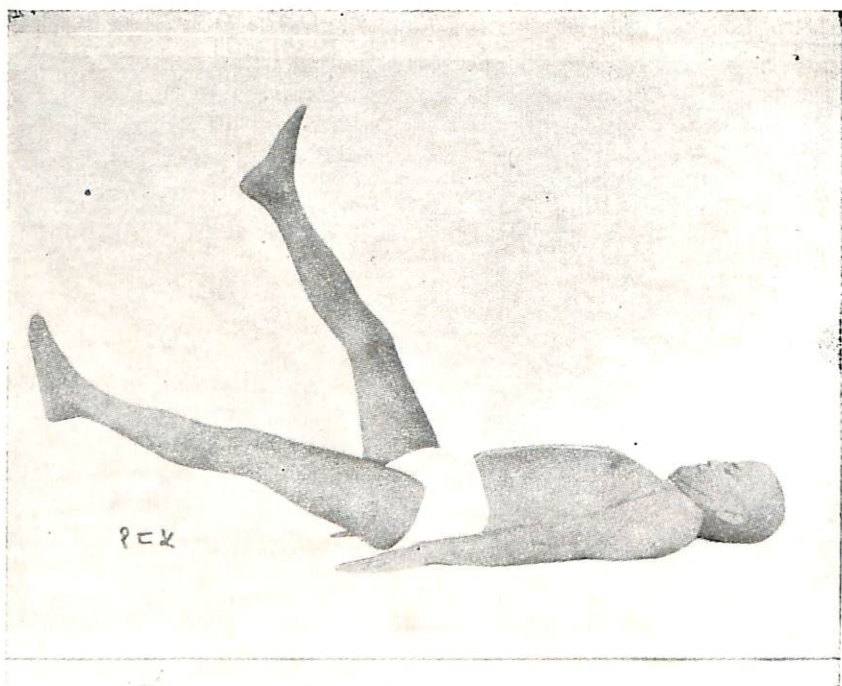
१८२
पृष्ठपादस्थित-आसन



१८३
एकपादजानुबद्ध-आसन



१८४
कपोत-आसन



१८५
शयनपाद-संचालन
आसन

(१८४) **कपोत-आसन**—पहले बैठें, फिर दोनों घुटने मोड़कर पैरों की एड़ियाँ और अँगूठे परस्पर मिला लें। अब जाँघों के मध्य दोनों हाथ डालकर हथेलियों से दोनों पादतलों को आवृत करें (ढँक दें)। पश्चात आभ्यन्तरिक कुम्भक करके शिर ऊपर उठाएँ। फिर रेचक करते समय शिर नीचे कर लें।

लाभ—वक्षस्थल, ग्रीवा और हाथ-पैरों की नस-नाड़ियों को पुष्ट करता है—दृढ़ बनाता है।

(१८५) **शयनपाद संचालन-आसन**—चित्त लेटकर दक्षिणपाद ऊपर उठाएँ तथा वामपाद कुछ नीचे रहे। अब पैरों को नीचे-ऊपर शीघ्रातिशीघ्र चलाएँ। फिर दक्षिण पैर भूमि से मिलाकर रखें और वाम पैर को चक्राकार रूप में घुमाएँ। तत्पश्चात वाम पैर नीचे रखकर दक्षिण पैर को घुमाएँ।

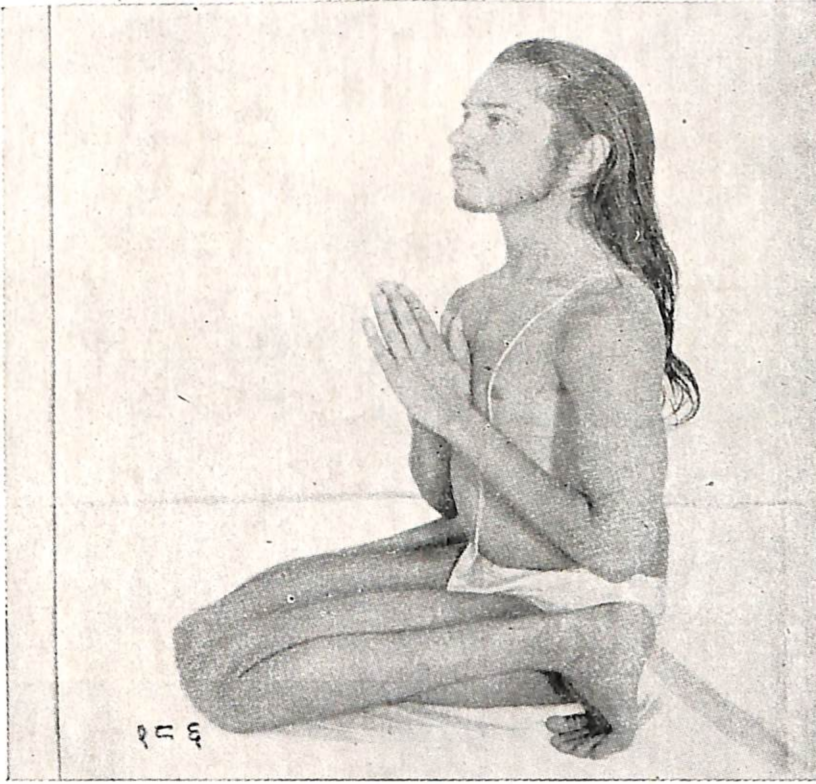
लाभ—इसके अभ्यास से कटि-विकार, नाड़ी-विकार तथा स्नायु-दोष दूर होते हैं। कब्ज़ नहीं रहता, घुटनों की वातिक-पीड़ा अथवा आमवात के विकार शान्त हो जाते हैं।

(१८६) **पादांगुष्ठस्थित नितम्ब-आसन**—घुटनों को मोड़कर पैरों को नितम्बों के दोनों ओर इस स्थिति में रखें कि एड़ियाँ ऊपर और अँगुलियाँ नीचे रहें। अब दोनों घुटने परस्पर मिलाकर दोनों हाथों को जोड़ लें, शिर-ग्रीवा-कटि समरेखा में रहें, फिर पूरक-कुम्भक-रेचक करें।

लाभ—इससे टाँगें, घुटने, पैर, पाद-अँगुलियाँ विशेष रूप से दृढ़ और पुष्ट बनते हैं।

(१८७) **उत्थितहस्त द्विपार्श्वपाद प्रसारण-आसन**—दोनों टाँगें सामने पसार कर बैठें। और दोनों पैरों के मध्य में किंचित् दूरी रखते हुए हथेलियाँ भूमि पर स्थापित कर दें। अब दोनों कोहनियों पर घुटनों का निचला भाग भली प्रकार जमा कर हाथों के बल सम्पूर्ण शरीर को भूमि से ऊपर रखते हुए तौलें, बाएँ पैर से बायाँ हाथ दृढ़ता से पकड़ें। और दाईं टाँग दक्षिण कोहनी के ऊपर से सीधी करके दक्षिण पार्श्व में रख लें। कुछ देर के पीछे दायाँ पैर पूर्व स्थिति में लाकर दायाँ हाथ बाँध-कर, बायाँ पैर बाईं कोहनी पर वामपार्श्व को तौलकर रखें। दोनों ओर से अभ्यास करें।

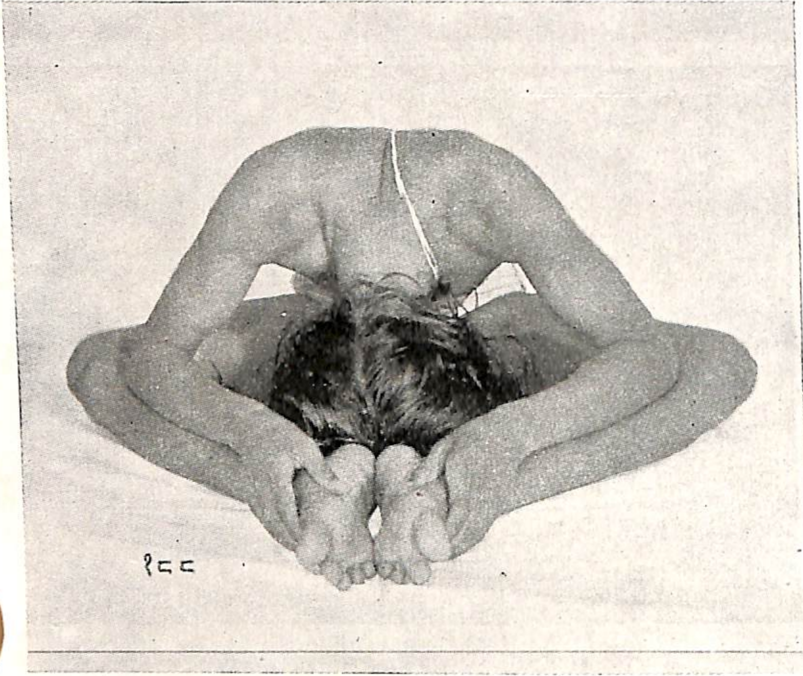
लाभ—यह भुजाओं को विशेष-बल प्रदान करता है, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को सुडौल बनाता है।



१८६
पादांगुष्ठस्थितनितम्ब-आसन



१८७
उत्थितहस्त-द्विपार्श्व-
पाद-प्रसारण-आसन



१८८
पादतल संयुक्त-
भू-नमन-आसन



१८६
बकउड्डियान-आसन

(१८८) पादतल संयुक्त भू-नमन-आसन—बैठकर टाँगें सामने पसार लें। घुटनों को चौड़ाते हुए दोनों पाद-तलों को परस्पर संयुक्त करके, आगे एक हाथ की दूरी पर मिली एड़ियाँ रखें। अब वाह्य कुम्भक करके दोनों कोहनियों से घुटने दबाएँ, और हाथों से पैरों को पकड़कर जाँघों के मध्य पृथ्वी पर शिर झुकाकर टेक दें।

लाभ—उदर स्वच्छ और हल्का रहता है। अँतड़ियाँ पुष्ट रहती हैं और शरीर आरोग्य रहता है।

(१८९) वक उड्डियान-आसन—पैर मिलाकर सीधे खड़े हों। अब बायाँ पैर ऊपर उठाकर गर्दन पर रख लें और दोनों हाथों को दक्षिण वाम ओर सीधा फैलाकर एक पैर से खड़े होकर कुम्भक कर लें। मुख को सामने रखने का यत्न करें। इसी प्रकार दूसरी टाँग बदल कर भी करें।

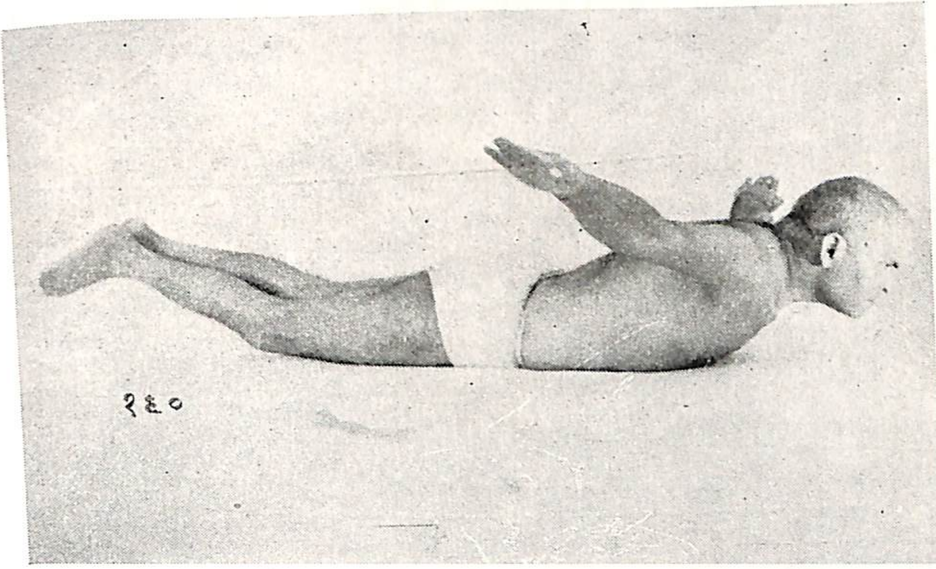
लाभ—इसके अभ्यास से ग्रीवा और वक्षस्थल बलिष्ठ बनते हैं। पराक्रम और पौरुष बढ़ता है। वात-कफ़ का शमन होता है।

(१६०) **यान-ग्रासन**—उदर के बल भूमि पर लेटकर दोनों हाथ-पैरों को परस्पर मिलाकर सीधे तानें, फिर दोनों हाथों को दाएँ-बाएँ पार्श्वों में तानकर फैला दें। इस प्रकार समूचा शरीर नाभि पर संतुलित कर दें। घुटने, पैर, ग्रीवा ग्रौर छाती ऊपर उठे रहें। पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक रखते हुए इसी स्थिति में जब तक रह सकें, रहें। पूरक-कुम्भक-रेचक का क्रम कई बार कर लें।

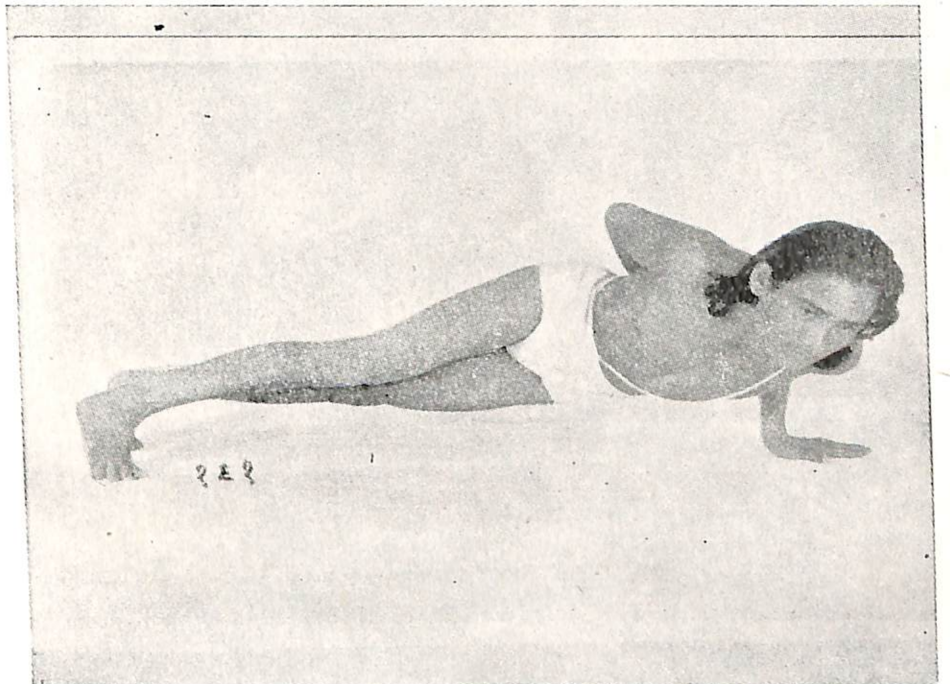
लाभ—सम्पूर्ण शरीर स्फूर्त बनता है।

(१६१) **एक हस्तदण्ड-ग्रासन**—पैर के पंजों के बल इस रीति से बैठें कि नितम्ब ऊपर उठे रहें। तदुपरान्त बायाँ हाथ सामने की ग्रोर भूमि पर स्थापित करें। दायाँ हाथ पीठ पर धरें, फिर एक हाथ से दण्ड निकालें। शिर-ग्रीवा-वक्ष ऊपर को तानकर पीछे ग्राजाएँ। इसे दाएँ-बाएँ हाथों से क्रमशः करें।

लाभ—यह ग्रासन समस्त शरीर की शक्ति को बढ़ाता है। भुजाग्रों को विशेष रूप से पुष्ट बनाता है। प्राणशक्ति भी बढ़ती है।



१६०
यान-आसन

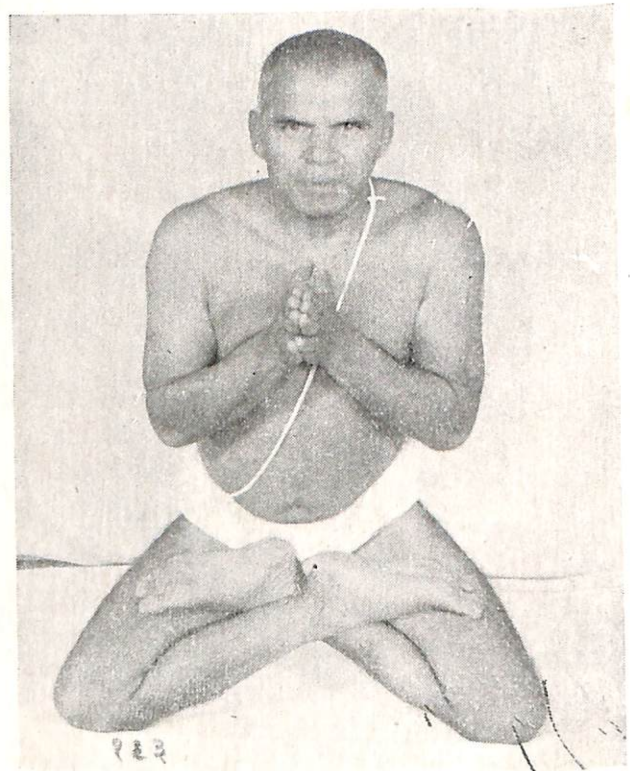


१६१
एकहस्तदण्ड-आसन



१६२
भुजदण्ड-ग्रासन

१६३
उत्तिष्ठपद्म-ग्रासन



(१६२) भुजदण्ड-आसन—दक्षिण पाद को एक हाथ की दूरी पर आगे करके खड़े हों। श्वास अन्दर भर कर दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँधकर हाथों को इस प्रकार चलाएँ कि दक्षिण हाथ आगे और बाम हाथ पीछे रहे। छाती तानकर शीघ्रतापूर्वक इन्हें घुमाते रहें।

लाभ—इससे स्कन्ध, भुजाएँ, वक्षस्थल अत्यन्त बल-शाली बन जाते हैं।

(१६३) उत्तिष्टपद्म-आसन—पद्मासन लगाकर बैठें। और हाथों का सहारा लेकर दोनों घुटनों पर खड़े हो जाएँ। अब दोनों हाथों को छाती के सामने जोड़कर यथाशक्ति खड़े रहें।

लाभ—इसके अभ्यास से कटि-जानु और पाद सुदृढ़ तथा शक्ति-शाली बनते हैं।

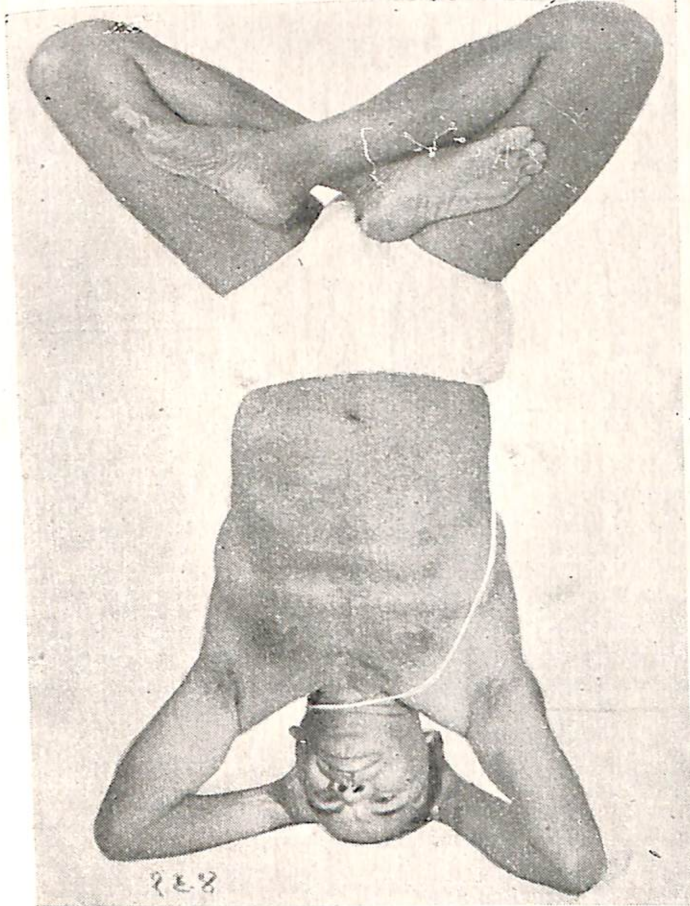
(१९४) **ऊर्ध्वपद्मासन**--पहले शीर्षासन करें। पश्चात् ऊपर ही टाँगें मोड़ कर पद्मासन लगा लें और ऊपर की ओर ताने रहें।

दूसरी विधि--प्रथम सर्वाङ्ग आसन करें और उसी स्थिति में ऊपर ही पद्मासन लगाकर खड़े रहें।

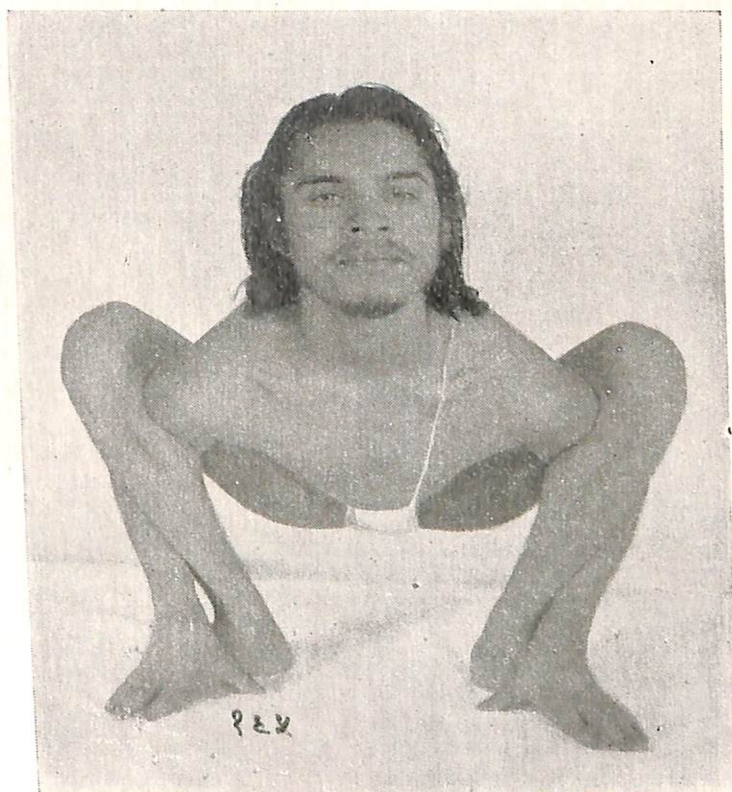
लाभ--इससे पाचनशक्ति बढ़ती है, आँतें शुद्ध तथा सबल बनती हैं। कब्ज़ नहीं होता।

(१९) **खंजन-आसन**--दोनों पैरों के मध्य में कुछ अन्तर देकर दोनों पञ्जों पर भार देकर बैठें। तदुपरान्त दोनों हाथों को दोनों जानुओं के मध्य में से पृष्ठभाग की ओर से ले जाकर हथेलियाँ दोनों पैरों के पंजों के ऊपर ऐसे स्थापित करें कि पक्षी के पंजे जैसी आकृति हो जाए। फिर छाती तानकर इस प्रकार बैठें कि नितम्ब ऊँचे उठे रहें।

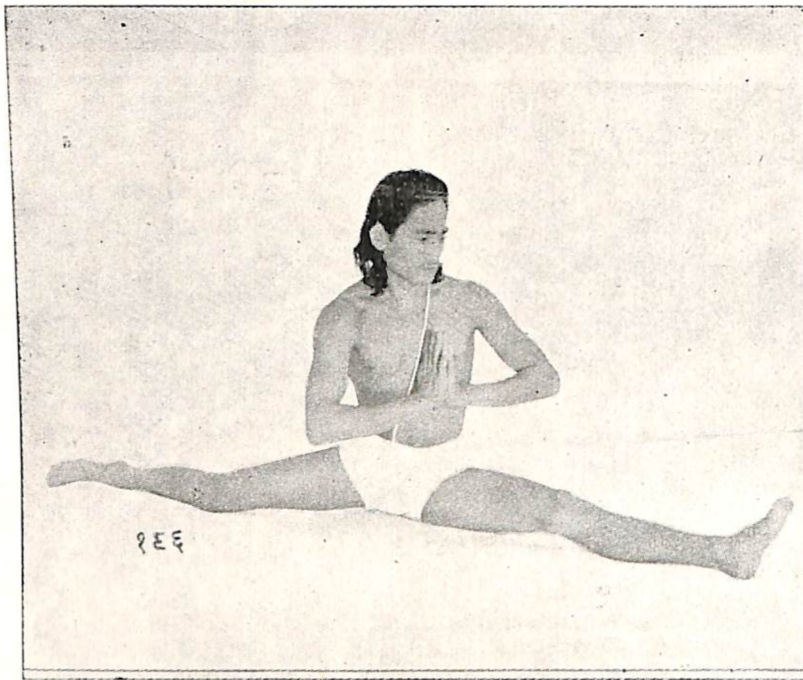
लाभ—इससे मलोत्सर्ग सुगमता से होता है।



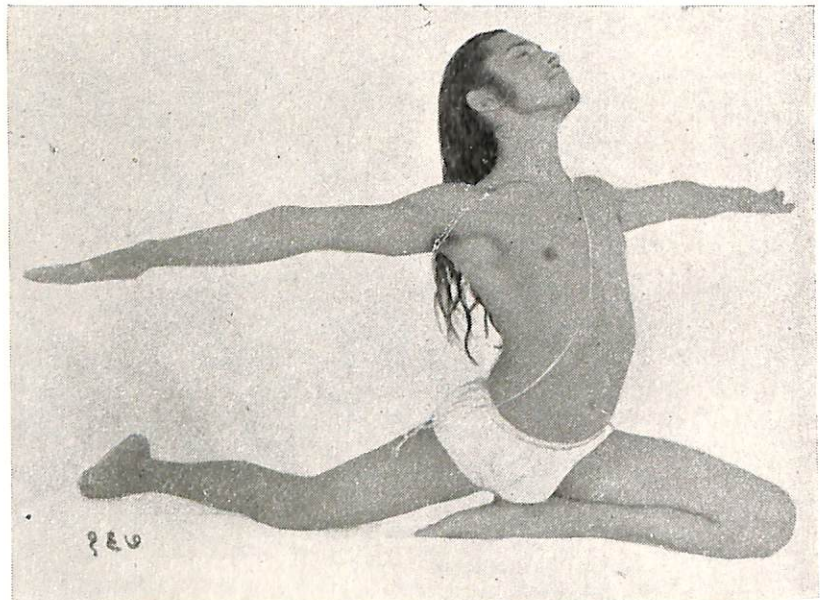
१६४
ऊर्ध्वपद्म-आसन



१६५
खंजन-आसन



१६६
विकट-आसन



१६७
चातक-आसन

(१९६) **विकट-आसन**—सीधे खड़े होकर बायाँ पैर आगे को फैलाएँ और दक्षिणपाद पीछे को फैला दें। इन पैरों को बलपूर्वक इतना फैला दें कि दोनों टाँगें सर्वथा भूमि से लग जाएँ। अब दोनों हाथ सामने जोड़ लें। यथाशक्ति इसी स्थिति में ठहरकर फिर दूसरा पैर (दक्षिण पैर) आगे फैलाकर शेष क्रिया करें। यह आसन कठिन है। अतः धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करें, जाँघें नरम पड़ जाने पर यह सुगमता से होने लगेगा।

लाभ—इससे जंघामूल लचीले, कोमल तथा दृढ़ होते हैं। जंघा और जानुओं की नसें सशक्त बनतीं हैं और वीर्य स्थिर होता है। हर्निया और अण्डकोष में विकार नहीं होने पाता।

(१९७) **चातक-आसन**—खड़े होकर बाएँ घुटने को मोड़कर एड़ी को सीवन-स्थान में लगा दें। अब दक्षिण पैर पीछे की ओर सीधा फैलाकर भूमि पर लगाए रहें। अब प्राणवायु को अन्दर भरकर दोनों भुजाओं को दाएँ-बाएँ करके फैला लें। मुख ऊपर आकाश की ओर करलें।

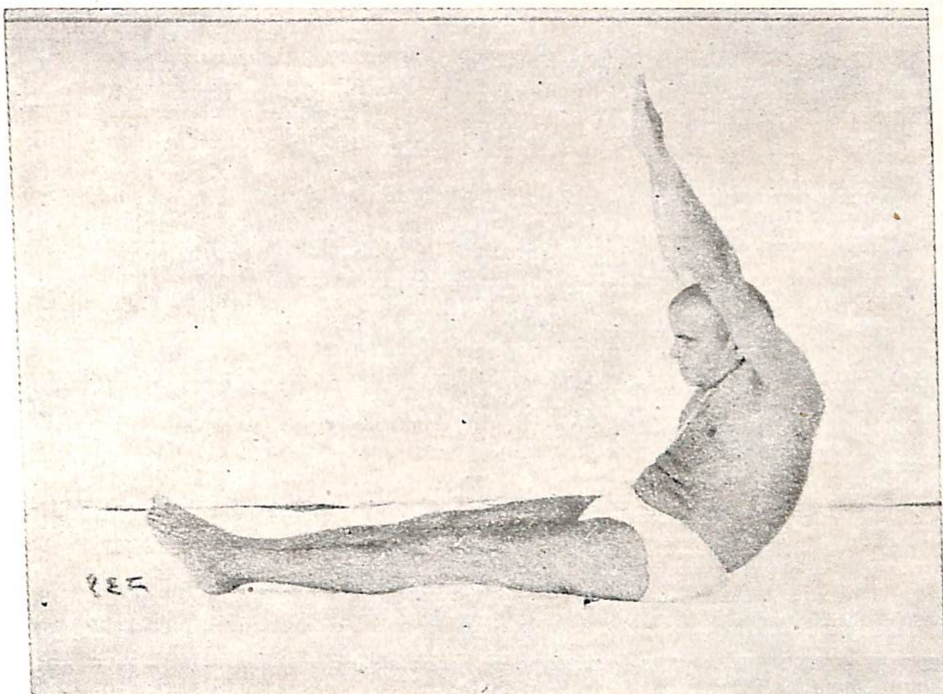
लाभ—इसके अभ्यास से पीठ, रीढ़, कमर की अस्थियों तथा उदर की दुर्बलता दूर होती है। छाती चौड़ी और पुष्ट होती है।

(१९८) **शयन उत्थान-आसन**—चित्त लम्बे लेटकर हाथों को शिर की ओर सीधे तान दें। और श्वास पूरक करके धीरे-धीरे शिर, ग्रीवा, हाथों को उठाते हुए बैठ जाएँ। अब कमर को आगे झुकाते हुए शिर घुटनों पर टेक दें। शनैः-शनैः प्रश्वास रेचक कर दें। पुनः श्वास पूरक करते हुए पूर्ववत लेटकर समस्त प्रक्रिया करें। १५-२० बार तो करें ही।

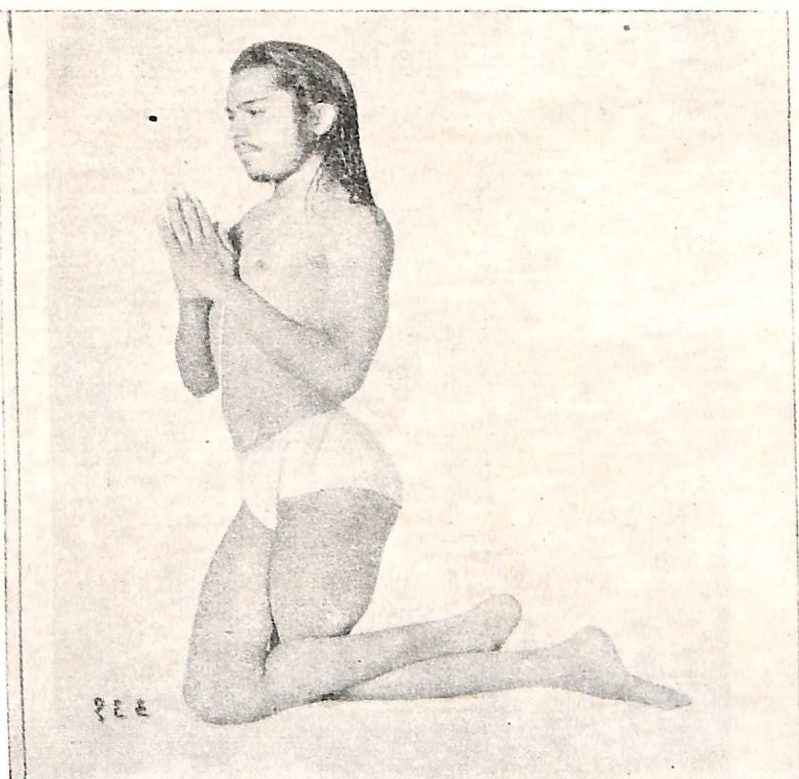
लाभ—उदर को कृश करने तथा पाचन-शक्ति को बढ़ाने के लिए यह आसन अत्यन्त उपयोगी है।

(१९९) **पादगुम्फित उत्थित-आसन**—घुटनों को मोड़कर घुटनों के बल खड़े हों। और दक्षिण पैर से वाम पैर को लपेटकर दोनों घुटनों को दृढ़तापूर्वक भूमि पर स्थापित करके ग्रीवा-पीठ-कटि को सीधा रखते हुए स्थित हो जाएँ। अब दोनों हाथों को सामने जोड़कर यथासम्भव इसी स्थिति में रहें। पुनः पूर्व स्थिति में आकर पैर बदलकर इसको कई बार करें।

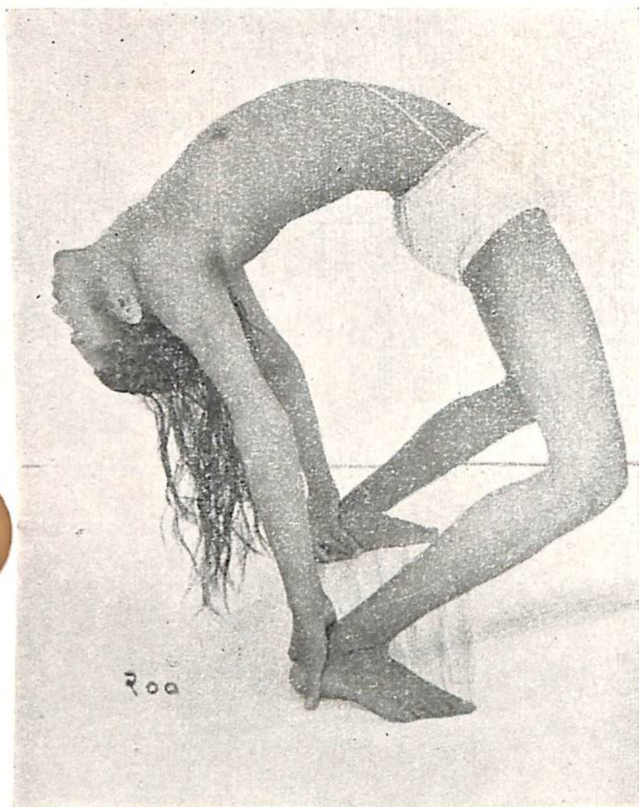
लाभ—उक्त आसन का अभ्यास पैरों की सन्धियों को लचकीला और शक्तिशाली बनाता है। अण्डकोष-वृद्धि को रोकता तथा शुक्राशय और मूत्राशय को स्वस्थ रखता है।



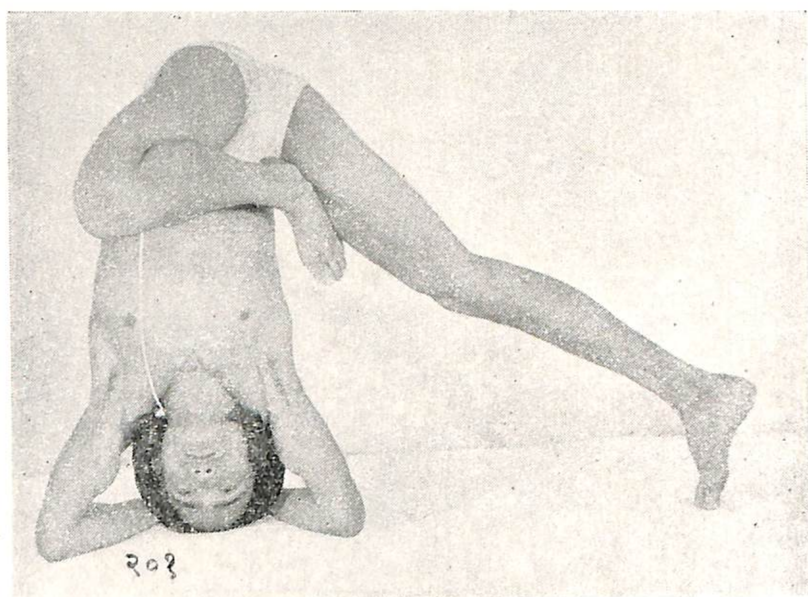
१९८
शयनउत्थान-आसन



१९९
पादगुम्फित उत्थित-आसन



२००
विपरीत हस्तपाद-आसन



२०१
एकपादशीर्ष-आसन

(२००) **विपरीत हस्तपाद-ग्रासन**—सीधे खड़े होकर पैरों को डेढ़ हाथ के लगभग चौड़ा कर लें। ग्रब कटि से ऊपर के भाग को पीठ की ग्रोर साधते हुए इतना झुकें कि दोनों पैरों के टखने दोनों हाथों से पकड़े जा सकें ग्रथवा हथेलियाँ भूमि पर टखनों के समीप टिक सकें। ग्रब टखनों को पकड़कर ग्रथवा हथेलियाँ उक्त प्रकार से भूमि पर टिकाकर शरीर को चक्राकृति में रखकर यथाशक्ति ठहरे रहें। यह ग्रासन कठिन है।

लाभ—इस ग्रासन के ग्रनेक लाभ हैं। यह रीढ़ को कोमल, लचकीला तथा दृढ़ बनाता है। फलतः कुबड़ापन नहीं ग्राता। कटि तथा उदर ग्रौर ग्रँतड़ियों को निर्विकार बनाता है, पाचनशक्ति ठीक रहती है। बुढ़ापे को शीघ्र नहीं ग्राने देता, शरीर में सुकुमारता तथा लावण्य बनाए रखता है।

(२०१) **एकपाद शीर्ष-ग्रासन**—पैर के पञ्जों के बल बैठकर, दक्षिण-हथेली पर बाईं हथेली रखकर कुछ दूरी पर सामने भूमि पर दृढ़ता से जमा लें। ग्रब झुककर इन हथेलियों पर शिर रखकर, हाथों के सहारे ही समूचे शरीर को ऊपर ग्राकाश की ग्रोर करके सीधा खड़ा करलें। फिर दक्षिणपाद को बाईं जंघा-मूल पर रखकर वायाँ पैर वामपार्श्व की ग्रोर धीरे-धीरे झुकाते हुए भूमि पर रख दें—टिका दें।

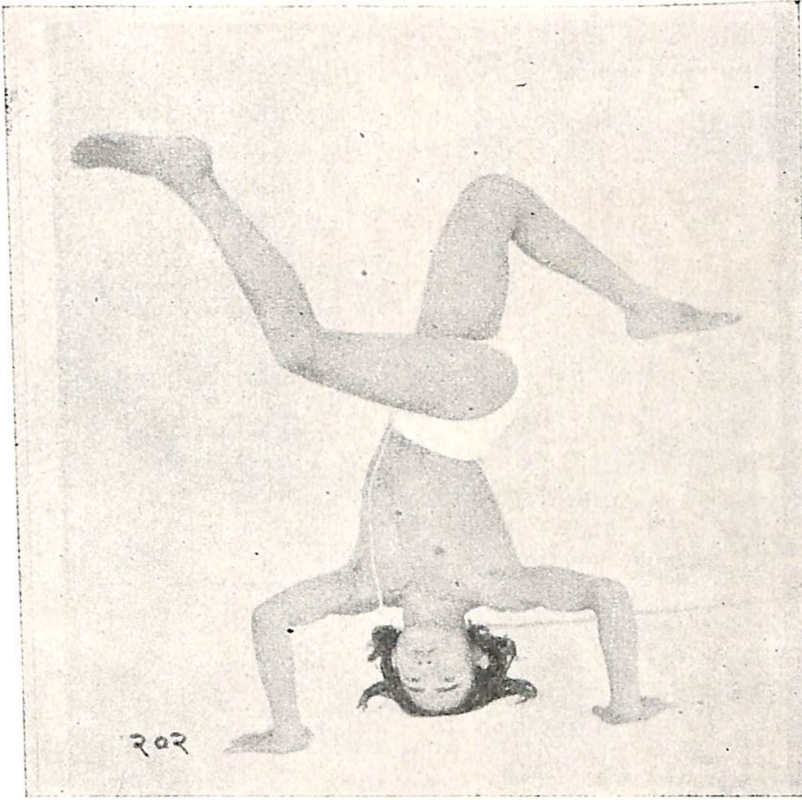
लाभ—यह ग्रासन शिर को पीड़ाग्रस्त नहीं होने देता। यदि शिरपीड़ ग्रन्य उपायों से न जाती हो तो जिस नथुने से श्वास चल रहा हो उसे रुई ठूँसकर बन्द करके इस ग्रासन का ग्रभ्यास किया करें। इससे भूख भी बढ़ती है।

(२०२) **पादवक्र कपाली-ग्रासन**--पैरों के पंजों के भार बैठकर कुछ ग्रागे को झुकें, ग्रौर दोनों हथेलियों को एक हाथ की चौड़ाई पर सामने भूमि पर रख दें—जमा दें। ग्रब बीच में शिर रखकर, टाँगें ऊपर उठाकर शरीर को हथेलियों पर उठा लें—खड़ा कर लें। पश्चात् पैरों को दाएँ-बाएँ झुकाकर करो।

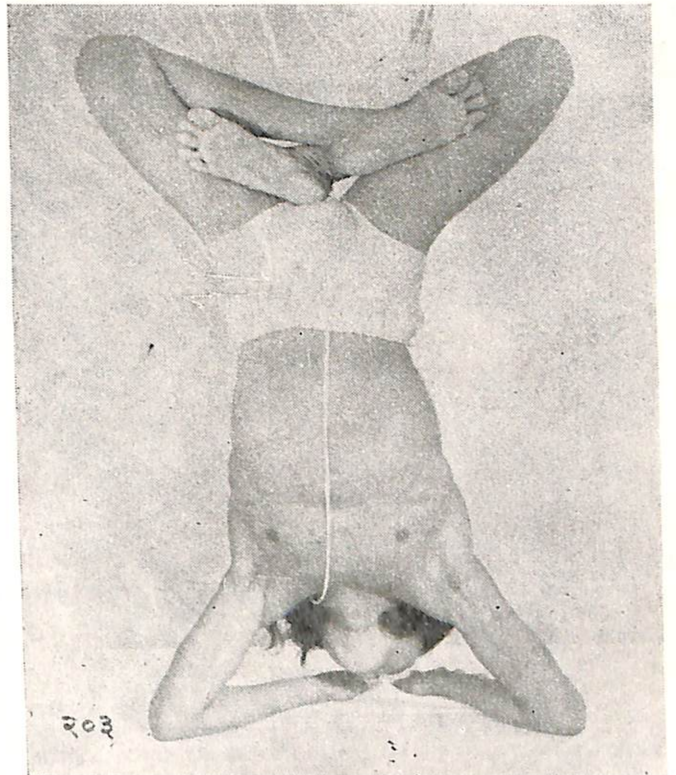
लाभ—इस ग्रासन से मस्तिष्क के तन्तु स्वच्छ होते हैं, स्मरण-शक्ति बढ़ती है, पैर भी पुष्ट होते हैं।

(२०३) **विपरीत ऊर्ध्वपद्मासन**—पद्मासन लगाकर दोनों हथेलियों सहित कोहनियाँ भूमि पर स्थापित करें। फिर पद्मासन के साथ ही शरीर को ऊपर उठाकर इन कोहनियों पर तौल लें। शिर भी भूमि से उठा रहे। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर छोड़ दें।

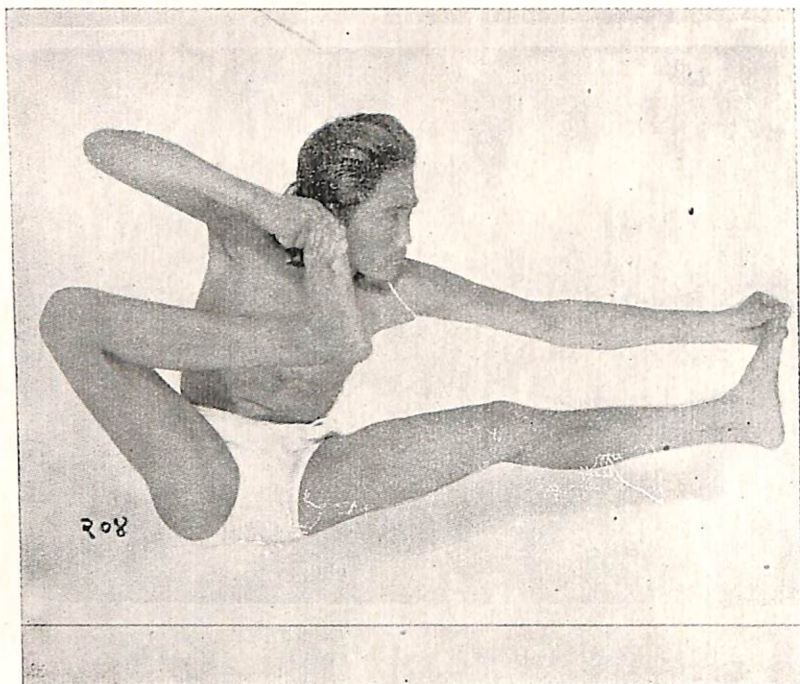
लाभ--इसके नित्य ग्रभ्यास से उदर-कटि-वक्षस्थल में कोई विकार नहीं ग्राने पाता। ग्रन्यान्य छोटे-मोटे रोग निवृत्त हो जाते हैं तथा शरीर सदा हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ एवं स्वस्थ रहता है।



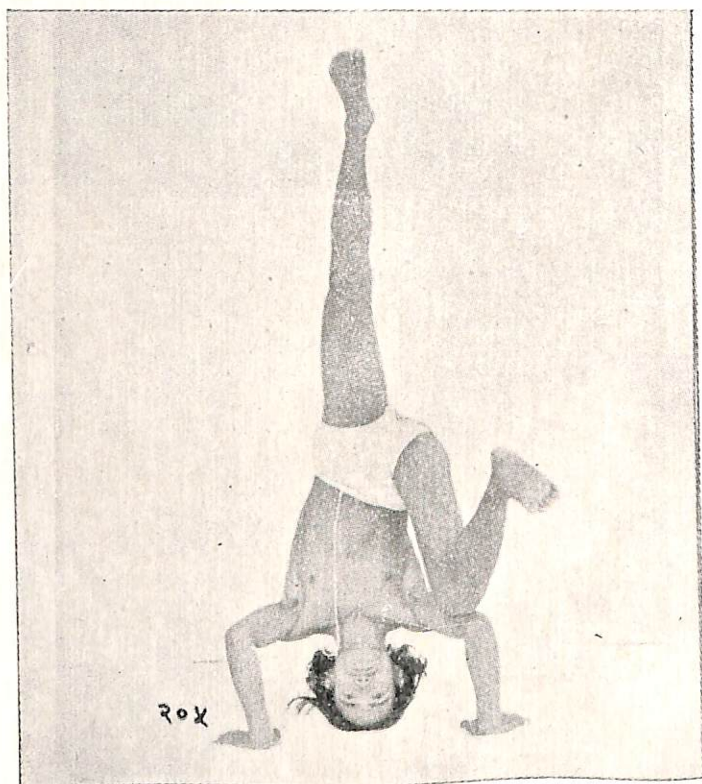
२०२
पादवक्र कपाली-ग्रासन



२०३
विपरीत ऊर्ध्वपद्म-ग्रासन



२०४
उत्थित एकपाद-
आकर्षण-आसन



२०५
ऊर्ध्व एकपाद-आसन

(२०४) **उत्थित एकपाद आकर्षण-आसन**—सीधे खड़े होकर पैरों को मिला लें और टाँगें सीधी रखते हुए कमर से आगे को झुकें। अब दाएँ हस्त से दक्षिण पैर का अँगूठा पकड़ें और श्वास पूरक करके कुम्भक कर लें तथा दक्षिण-पाद के अँगूठे को खींचकर कान तक ले आएँ। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर छोड़ दें।

लाभ—इससे टाँगों की नस-नाड़ियाँ लचकीली और दृढ़ तथा माँस-पेशियाँ सुडौल बनती हैं।

(२०५) **ऊर्ध्व एकपाद-आसन**—दोनों हथेलियाँ एक हाथ की चौड़ाई से सामने एक हाथ की दूरी पर पृथ्वी पर जमाकर, दोनों कोहनियों पर दोनों घुटने रख दें और दायाँ पैर ऊपर की ओर सीधा तान दें। शिर भूमि से सटा रहे। कुछ देर इसी स्थिति में रहें, फिर पूर्वस्थिति में आकर दूसरी टाँग उठाकर इसे करें।

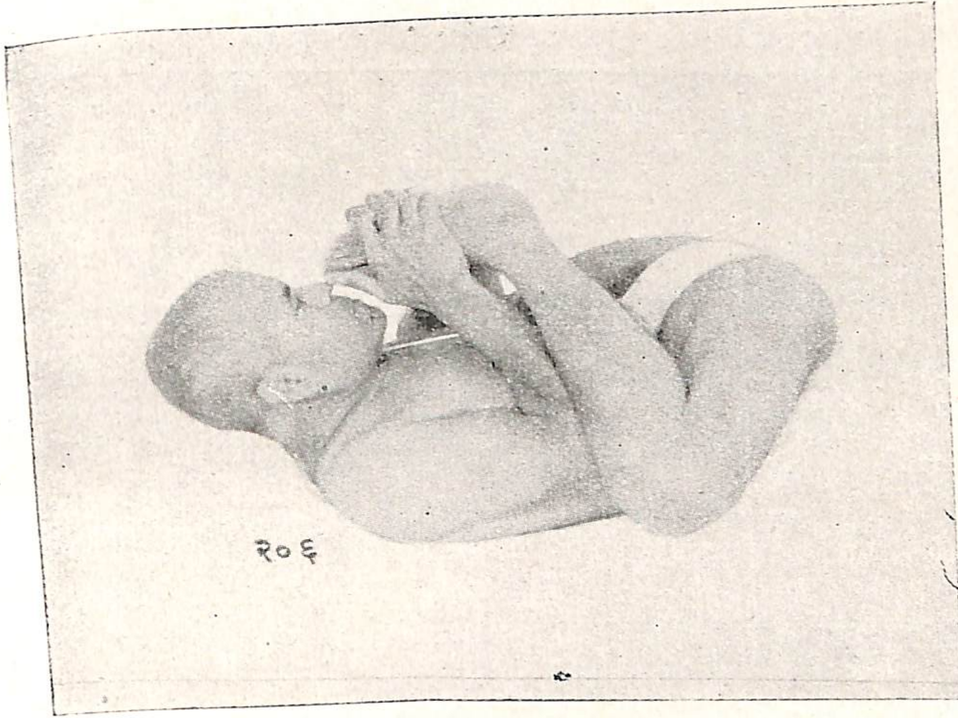
लाभ—यह ब्रह्मचर्य-रक्षा में सहायक होता है और बल, शक्ति, पराक्रम बढ़ाता है।

(२०६) **शयन द्विपाद नासाग्र स्पर्श-श्रासन**—भूमि पर चित्त लेटकर श्वास पूरक करके कुम्भक कर लें। अब दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़कर उठाएँ। शिर को भी कुछ उठाकर फिर दोनों पैरों के अँगूठों को पकड़कर नासिका के अग्र-भाग से लगाएँ। रेचक करते समय टाँगें फैलाकर लेट जाएँ। इसी प्रकार प्राणा-याम सहित अथवा बिना प्राणायाम के जैसी इच्छा हो करें।

लाभ—यह आसन पेट को पतला, हल्का और कमर को कोमल बनाता है तथा भूख भी अच्छी लगती है।

(२०७) **उत्थितहस्त प्रसारण-आसन**—दोनों पैरों को दो हाथ की चौड़ाई पर रखकर सीधे खड़े हों। अब दोनों हाथों को दाएँ-बाएँ फैलाकर, श्वास रोककर, दक्षिण पार्श्व (करवट) की ओर इतना झुकें कि दायाँ हाथ बाएँ पैर के पंजे पर आ जाए और बायाँ हाथ ऊपर को सीधा तन जाए। इतना कर लेने पर फिर वाम पार्श्व की ओर पूर्ववत् झुकें और बायाँ हाथ दक्षिण पैर के पंजे पर टिककर दायाँ हाथ ऊपर को तन जाए।

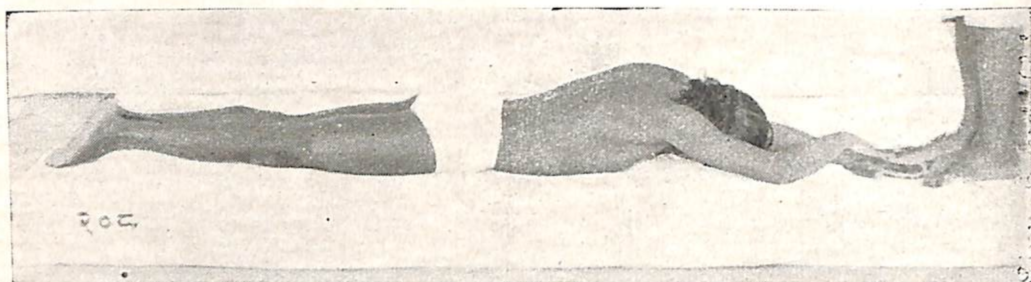
लाभ—इससे उदर ठीक रहता है और शरीर स्वस्थ होता है।



२०६
शयन द्विपाद-
नासाग्रस्पर्श-ग्रासन



२०७
उत्थितहस्त-प्रसारण-ग्रासन



२०८--साष्टाङ्ग दण्डवत-ग्रासन



२०९--विस्तृतपाद-हस्त स्पर्श-ग्रासन

(२०८) **साष्टाङ्ग दण्डवत-ग्रासन**—उदर के बल सीधे लेटकर दोनों हाथों को सिर से ग्रागे बढ़ाकर, भुजाग्रों को फैलाकर, एक हाथ की कलाई पर दूसरे हाथ की (दक्षिण हाथ पर बाएँ हाथ की) कलाई ग्रा जाए ग्रौर ग्राचार्य के दक्षिणपाद को हमारा दायाँ हाथ, एवं वामपाद को हमारा बायाँ हाथ स्पर्श करे।

लाभ—इस ग्रासन का प्रयोग गुरुजनों ग्रौर देवालयों में देवता को प्रणाम करने के लिए किया जाता है। यह नम्रता की भावना उपजाता, ग्रभिमान को नष्ट करता है; श्रद्धा-भक्ति ग्रौर प्रेम को बढ़ाता है।

(२०९) **विस्तृत पाद-हस्त स्पर्श-ग्रासन**—टाँगें सामने फैलाकर बैठें ग्रौर इन्हें दक्षिण वाम-पार्श्वों की ग्रोर यथाशक्ति चौड़ा कर लें। ग्रब दोनों भुजाग्रों को स्कन्धों के दाएँ-बाएँ फैला लें, सीधा तान लें ग्रौर इसी ग्रवस्था में मुख, ग्रीवा ग्रौर बायाँ हाथ झुकाते ग्रौर मोड़ते हुए बायाँ हाथ दक्षिण पैर पर रख दें। किन्तु दक्षिण-हस्त विपरीत दिशा में सीधा रहे। फिर बाईं ग्रोर मुख-ग्रीवा करके दक्षिणहस्त वामपाद पर रखें, बायाँ हाथ उसके विपरीत दिशा में ताने रहें। इसी प्रकार कई बार करें।

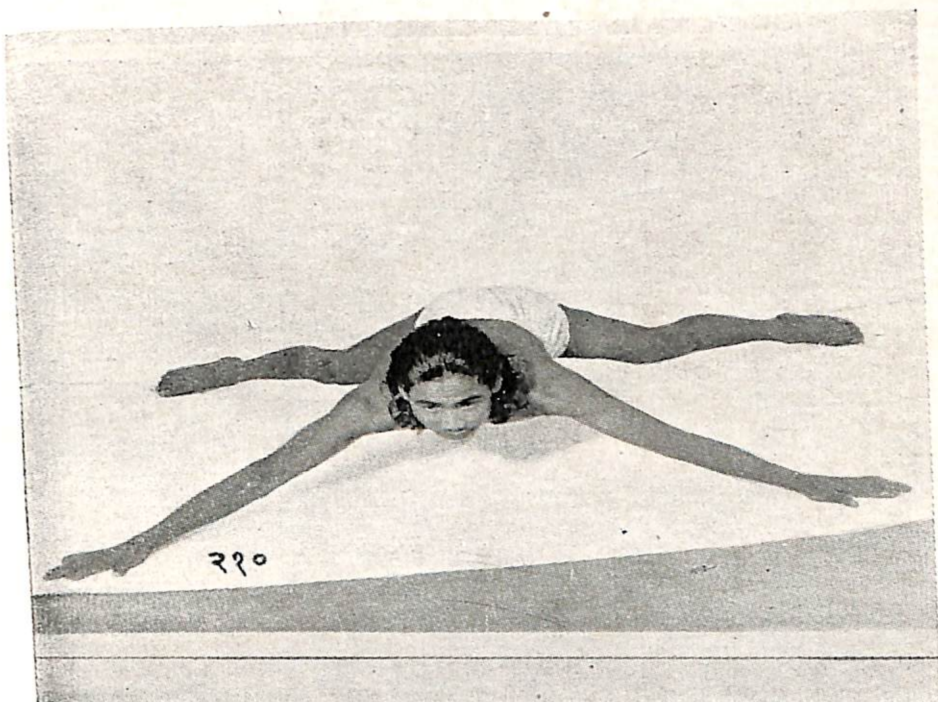
लाभ—इस ग्रासन से उदर-गत पाचन-शक्ति बढ़ती है ग्रौर ग्राँतें ठीक कार्य करती हैं।

(२१०) **चतुष्पाद-ग्रासन**—छाती के बल भूमि पर लेट जाएँ और हाथ-पैरों को यथाशक्ति भूमि पर फैला दें। अब पूरक करते हुए हथेलियों तथा पैर के पंजों पर सम्पूर्ण शरीर को तौलें। फिर रेचक करते समय लेट जाएँ। इसी प्रकार पुनः-पुनः अभ्यास करें। इस कठिन ग्रासन को शनैः-शनैः करें।

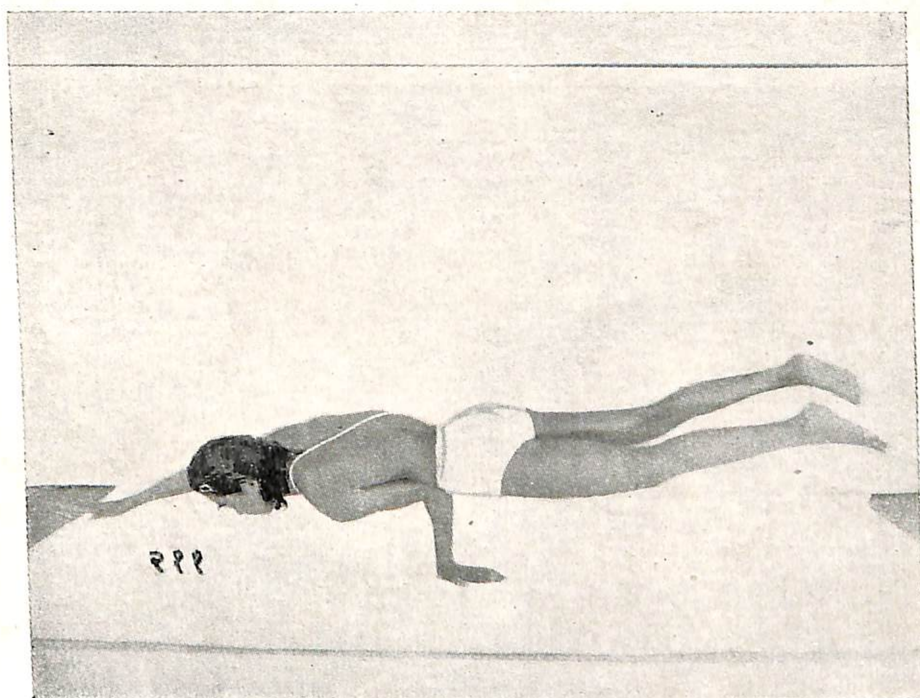
लाभ—यह ग्रासन समस्त शरीर में शक्ति तथा प्राणों में कार्य-शक्ति बढ़ाता है, रक्त शुद्धि भी करता है।

(२११) **एकहस्त शरीर उत्थान-ग्रासन**—बाईं हथेली भूमि पर स्थापित करें और नाभि-स्थान बाईं कोहनी पर रखकर दक्षिण-हस्त शिर की ओर सीधा करके तान लें और सम्पूर्ण शरीर को मयूरासन की भाँति तौल लें। इस स्थिति में कुछ देर रहकर फिर दूसरे हाथ से भी ऐसा ही करें।

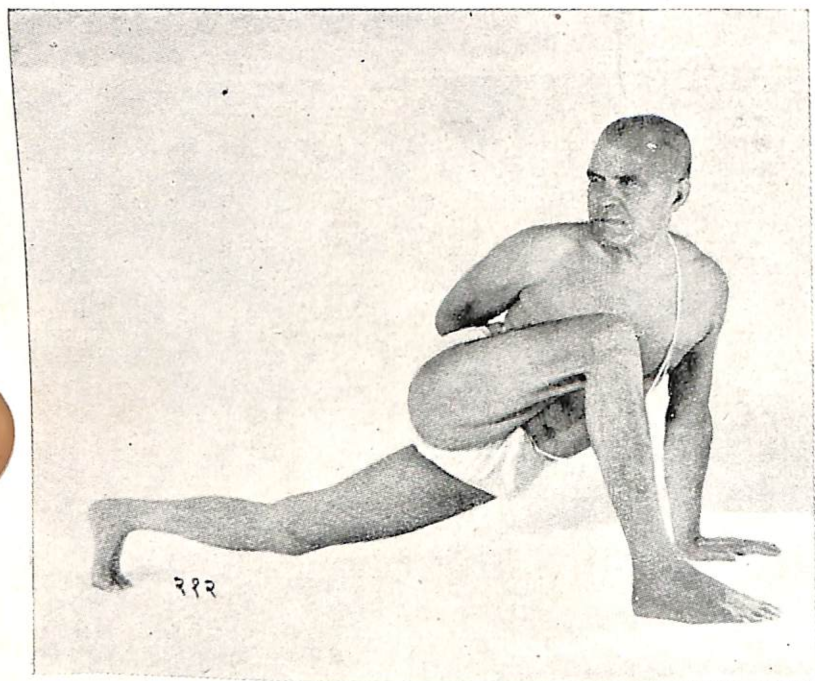
लाभ—इससे जिगर, तिल्ली, गुल्म तथा आँतों से सम्बन्धित रोगों का निवारण होता है और वात-पित्त-कफ़ शान्त रहते हैं। उदर स्थूल नहीं होता, शरीर में स्फूर्ति बनी रहती है।



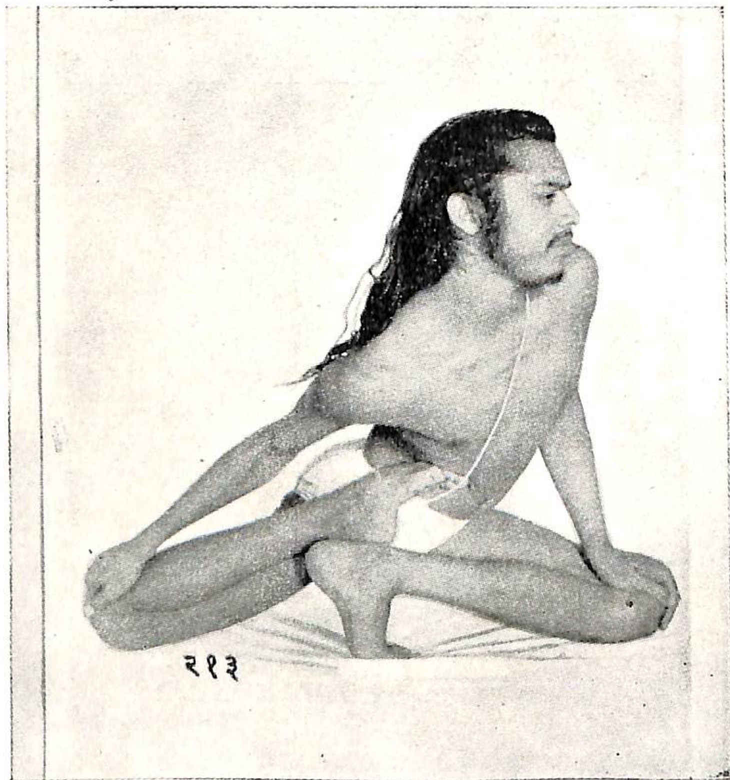
२१०
चतुष्पाद-आसन



२११
एकहस्त-शरीर-
उत्थान-आसन



२१२
एकपाद-हस्त-दण्ड-
आसन



२१३
पार्ष्णिपीड़-आसन

(२१२) **एक पाद-हस्त दण्ड-आसन**—सीधे खड़े होकर दक्षिण-पैर डेढ़ हाथ की दूरी पर सामने रखें। कमर से सामने झुककर बाईं हथेली दक्षिण-पाद के बराबर रखकर, श्वास अन्दर भरकर, दक्षिण-हस्त की मुट्ठी बाँधकर पीठ पर रख लें और वाम-हस्त तथा दक्षिण पैर की सहायता से दण्ड निकालें। इसी प्रकार कई दण्ड निकालें।

लाभ—समस्त शरीर की बल-वृद्धि के साथ-साथ मुख्य रूप से हाथ, पैर, छाती का बल बढ़ता है।

(२१३) **पार्ष्णिपीड-आसन**—उत्कट आसन से बैठकर, बायाँ घुटना वाम-पार्श्व में भूमि पर फैलाकर इस प्रकार धरें कि एड़ी उपस्थेन्द्रिय के सामने हो जाए। अब दायाँ घुटना दक्षिण-पार्श्व में भूमि पर टेककर और इसे पीछे की ओर मोड़कर, पंजा उदर पर रखकर इस प्रकार ले जाएँ कि पैर की अँगुलियों से नाभि-स्थान दब जाए और एड़ी बाईं एड़ी के बीच आ जाए। फिर बायाँ हाथ बाएँ जानु पर और दक्षिण हाथ दाएँ जानु पर रखकर वामपार्श्व की ओर मुँह करके शक्ति अनुसार ठहरें।

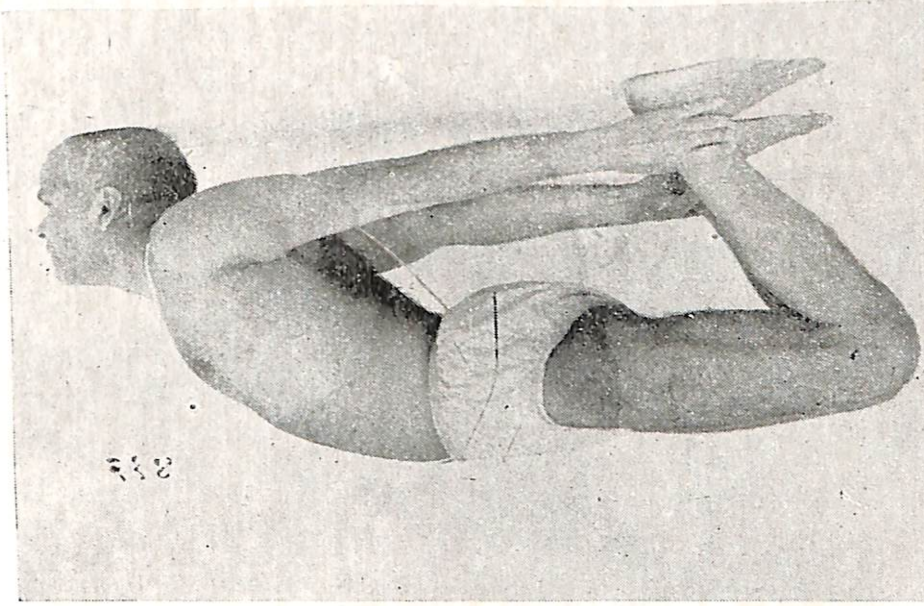
लाभ—इसके अभ्यास से जिगर और तिल्ली के विकार तथा तद्जन्य रोग दूर हो जाते हैं। पैरों की सन्धियाँ, स्नायु आदि भी लचीले और सशक्त हो जाते हैं।

(२१४) **अर्द्धचक्र-आसन**—भूमि पर चित्त लेटकर दोनों पैरों की एड़ियाँ नितम्बों के समीप रखकर घुटने खड़े कर लें। अब दोनों हाथों से पैरों के गिट्टों के समीप के स्थान को दृढ़ता से पकड़ें और शिर तथा पैरों के सहारे शरीर को संभालते हुए धड़ को चक्राकृति में भूमि से ऊपर उठाए रहें।

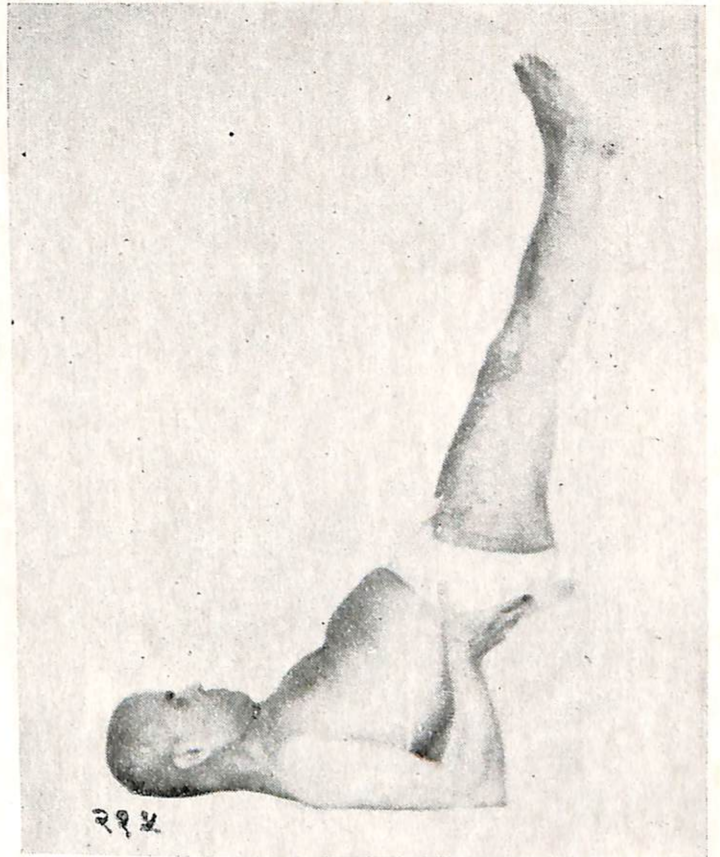
लाभ—इसके लाभ भी चक्रासन के समान ही हैं।

(२१५) **विपरीतकरण-आसन**—साधारण रीति से लेटकर, पैरों को ऊपर उठाकर, नितम्ब सहित कटिभाग को हथेलियों का सहारा देकर पैरों को भूमि से अढ़ाई हाथ ऊपर उठा लें और दृष्टि पैर के अँगूठों पर रहे। इस स्थिति में यथाशक्ति ठहरें।

लाभ—इस आसन के लाभ सर्वाङ्ग-आसन के समान ही हैं।



२१४
अर्द्धचक्र-आसन



२१५
विपरीतकरण-आसन



२१६
पृष्ठबद्ध जानुस्पर्श-आसन



२१७
शयनपाद संयुक्त-
हस्तस्पर्श-आसन

(२१६) **पृष्ठबद्ध जानुस्पर्श-आसन**—सीधे खड़े होकर दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर कोहनियों को परस्पर पकड़ लें। अब श्वास बाहर निकालकर और आगे झुककर दोनों घुटने नासिका से स्पर्श करें।

लाभ—इससे सभी अङ्गों को स्फूर्ति मिलती है, किन्तु उदर को विशेष रूप से लाभ पहुँचता है।

(२१७) **शयनपाद संयुक्त हस्तस्पर्श-आसन**—चित्त लेटकर दोनों भुजाओं को कन्धों के आस-पास लम्बा पसार दें। अब श्वास पूरक करके दोनों पैरों को मिलाकर एक बार वाम हस्त की हथेली को दक्षिण हाथ से स्पर्श करें और दूसरी बार दक्षिण हाथ से बाईं हथेली को स्पर्श करें। रेचक करते समय पूर्वस्थिति में हो जाएँ।

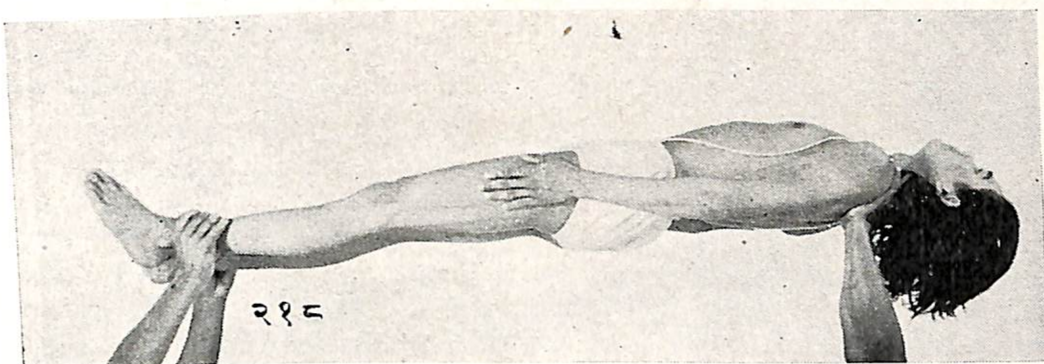
लाभ—इससे कटि और उदर को बहुत लाभ होता है।

(२१८) **शव-ग्रासन**—चित्त लेटकर श्वास से शरीर को पूर्णतया भरकर ग्रकड़ा लें। दण्ड के समान शरीर ऐसा कठोर हो जाए कि शिर को पकड़कर उठाने पर समूचा सीधा खड़ा हो जाए। कहीं से भी मुड़े नहीं। ग्रौर यदि पैरों को पकड़ कर उठाएँ तो भी पूर्ववत् कहीं से बिना मुड़े दण्ड के समान शरीर खड़ा हो जाए।

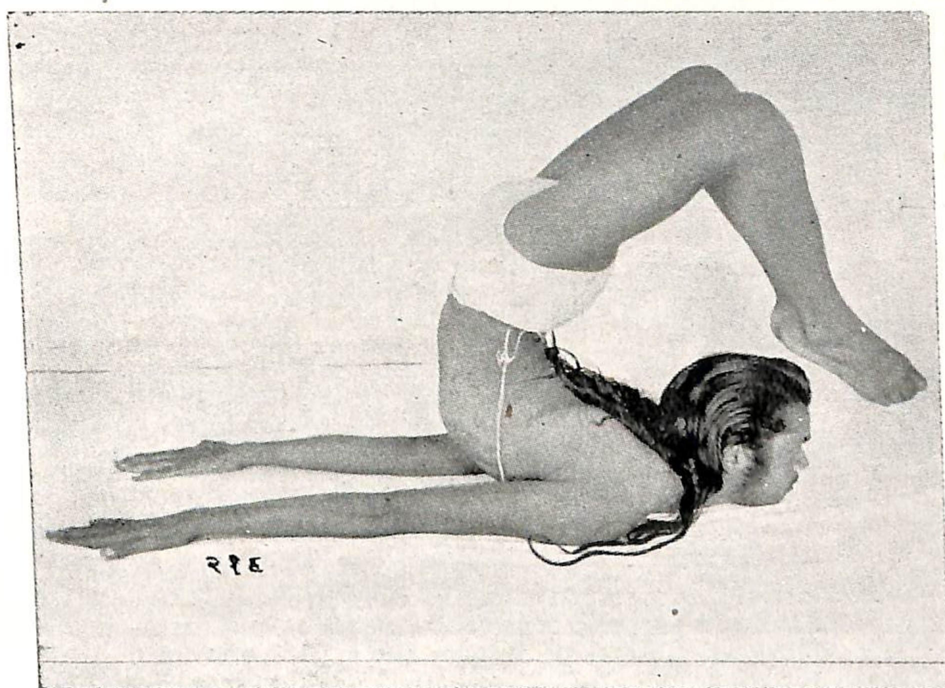
लाभ—इस ग्रासन से समस्त देह पर ग्रधिकार हो जाता है। प्राण के वशित्व से शरीर विकास पाता है ग्रौर दृढ़ बनता है।

(२१६) **विस्तृत हस्तपादचक्र-ग्रासन**—छाती ग्रौर उदर के सहारे लेटकर दोनों हाथों को कन्धों के दाएँ-बाएँ भूमि पर फैला लें। ग्रब ठोड़ी, कन्धे ग्रौर दोनों भुजाग्रों के सहारे शरीर के पिछले भाग के ग्रङ्गों को सीधा ऊपर को खड़ा करके घुटनों से ग्रागे पैरों को मोड़कर शिर की ग्रोर इतना झुकाएँ कि पैरों के ग्रँगूठे शिर को स्पर्श करें। कठिनता के कारण, ग्रभ्यास से धीरे-धीरे यह ग्रासन भली प्रकार होने लगता है।

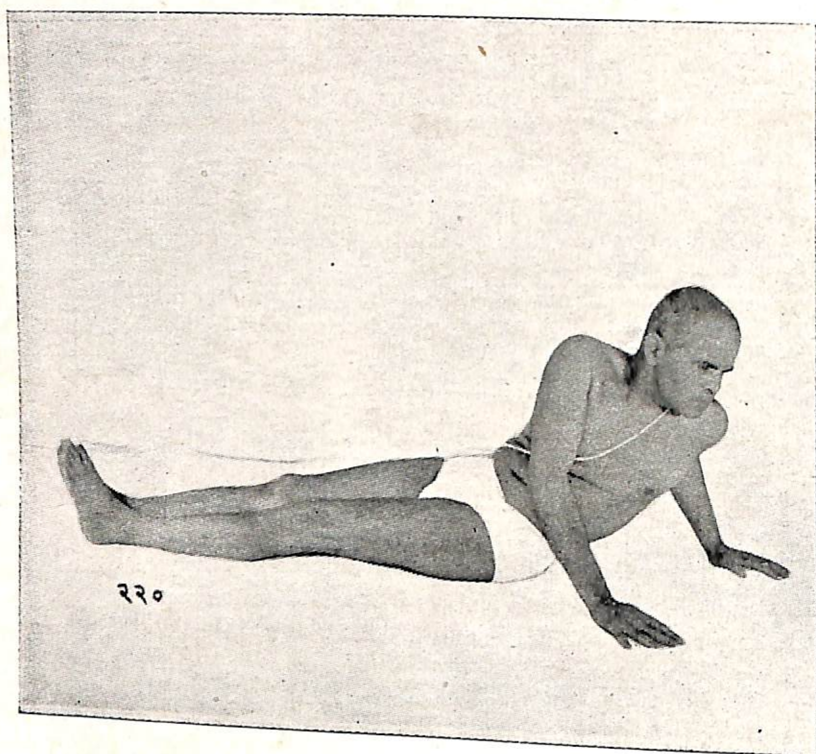
लाभ—ग्रीवा, वक्षस्थल, मेरुदण्ड एवं शरीर के ग्रन्य सभी ग्रंगों को यह ग्रासन नरम, लचकीला, स्वस्थ एवं पुष्ट बनाता है। रबड़ के समान यह शरीर भी मुड़ने-तुड़ने लगता है। शरीर पर बहुत कुछ ग्रधिकार हो जाता है।



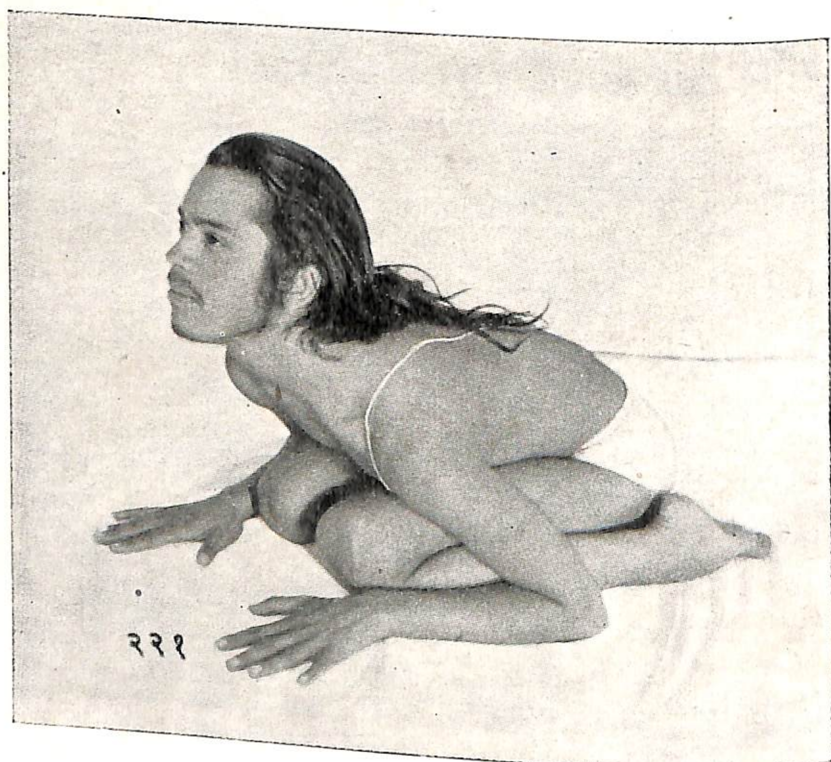
२१८——शव-आसन



२१९——विस्तृत हस्तपाद चक्र-आसन



२२०
द्विपार्श्व-पृष्ठाभि-
मुख-आसन



२२१
मण्डूकी-आसन

(२२०) **द्विपार्श्व पृष्ठाभिमुख-आसन**—दोनों पैरों को मिलाते हुए सामने सीधा फैलाकर बैठें। अब कमर से ऊपर के भाग को बाईं करवट की ओर मोड़कर दोनों हथेलियाँ बाईं ओर ही भूमि पर टिका दें। कुछ देर इसी स्थिति में रहकर फिर दक्षिण करवट की ओर मुड़कर दोनों हथेलियाँ इसी ओर रखें। क्रमशः इसी प्रकार दोनों ओर करें।

लाभ—स्थूलकाय और स्थूल उदर वाले व्यक्ति इस आसन से अपना बढ़ा हुआ उदर सरलता से छोटा-हल्का बना सकते हैं।

(२२१) **मण्डूकी आसन**—दक्षिण पाद नितम्ब के दक्षिण पार्श्व में और वामपाद नितम्ब के वामपार्श्व में इस प्रकार रखें कि पादतल तो ऊपर को तथा पैरों के अँगूठे एक हाथ की दूरी पर हो जाएँ। अब दोनों जानुओं को परस्पर मिलाकर दाईं ओर दाईं हथेली तथा बाईं ओर बाईं हथेली घुटनों के समीप भूमि पर जमा-कर सामने को इतना झुकें कि छाती जानुओं से जा सटे। फिर पूरक प्राणायाम करते हुए शिर और गर्दन को कुछ ऊपर को तान दें एवं दृष्टि आकाश की ओर रहे।

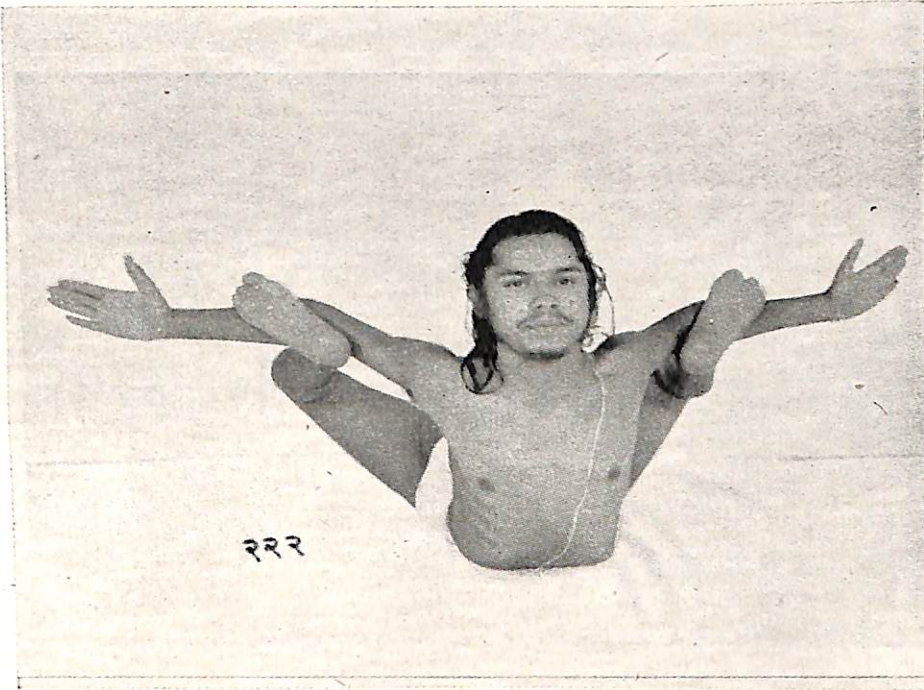
लाभ—इसके अभ्यास से कटि, टाँगें, भुजाएँ और पैरों की सन्धियाँ कोमल, लचीली तथा दृढ़ बनती हैं।

(२२२) **शकुनि-ग्रासन**—भूमि पर पट्ट (छाती ग्रौर उदर के बल) लेट कर दोनों घुटने मोड़कर पाद-पृष्ठों को पीठ की ग्रोर ले जाएँ। ग्रब दोनों हाथों को भी पीठ की ग्रोर ले जाकर, फैली भुजाग्रों के मध्य में पादपृष्ठों को स्थापित कर दें। तत्पश्चात् सिर-ग्रीवा-छाती को ऊपर की ग्रोर तानें, तथा दक्षिणहस्त को दाईं, ग्रौर वामहस्त को बाईं ग्रोर तानकर ऐसे फैलाएँ कि पक्षी के पँख सरीखे दीख पड़ें, इस स्थिति में यथाशक्ति रहकर इसे छोड़ दें।

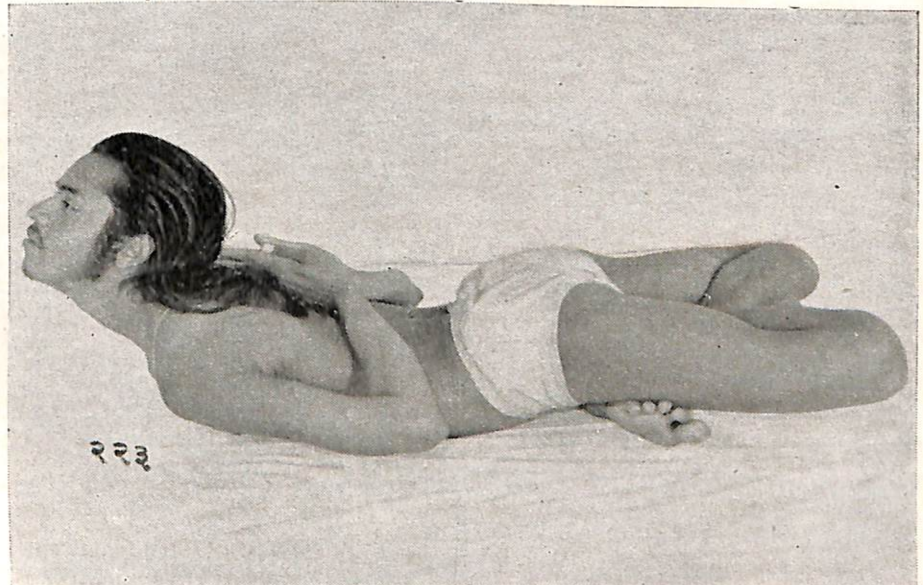
लाभ—इससे कन्धे, छाती ग्रौर भुजाएँ बलवान होती हैं।

(२२३) **पतङ्ग-ग्रासन**—पद्मासन लगाकर भूमि पर उदर के बल लेट जाएँ। ग्रौर दोनों हाथों को पीठ की ग्रोर जोड़कर इस प्रकार घुमाएँ कि हाथों की ग्रँगुलियाँ शिर की ग्रोर हो जाएँ तथा घुटने पृथ्वी से ऊपर उठे रहें ग्रौर शिर पीछे की ग्रोर हो। तदुपरान्त श्वास ग्रन्दर पूरक करके शिर ग्रौर छाती यथासम्भव ऊपर को करके इसी स्थिति में यथाशक्ति रहने का प्रयत्न करें।

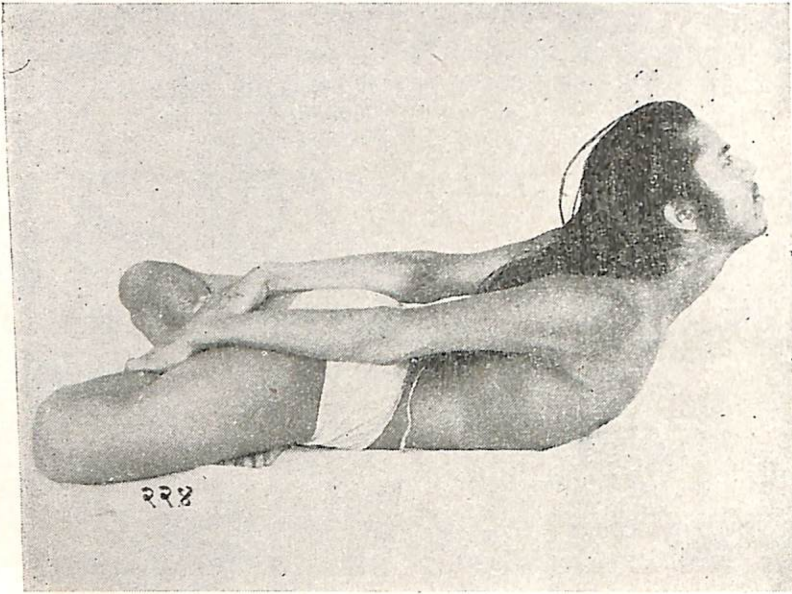
लाभ—इस ग्रासन के ग्रभ्यास से उदर का मेद छँट जाता है। उदरगत पाचक-यन्त्र ठीक कार्य करते हैं। करपृष्ठ तथा मणिबन्ध (कलाइयाँ) शक्ति-सम्पन्न बन जाते हैं।



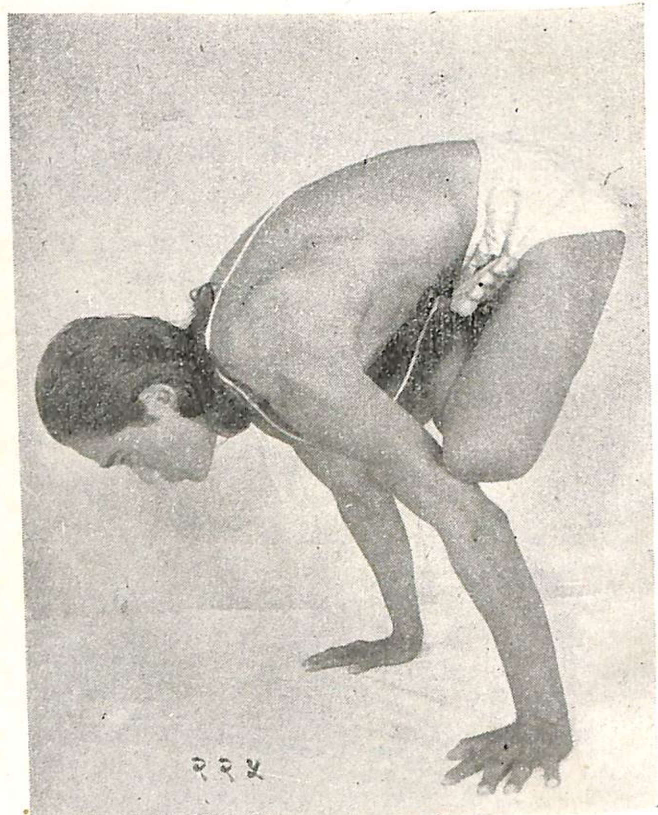
२२२
शकुनि-ग्रासन



२२३
पतङ्ग-ग्रासन



२२४
विपरीत पद्मशयन-
ऊर्ध्वमुख-आसन



२२५
उत्तमाङ्ग-आसन

(२२४) **विपरीत पद्मशयन ऊर्ध्वमुख-आसन**—पद्मासन लगाकर छाती के बल लेट जाएँ। फिर दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर दोनों पिण्डलियों को दृढ़ता से पकड़ते हुए छाती, ग्रीवा, शिर ऊपर को उठाकर मुख आकाश की ओर कर लें। अब दोनों जानुओं को भी भूमि से कुछ ऊपर उठाकर उदर पर स्थित हो जाएँ।

लाभ—शिर, ग्रीवा, वक्षस्थल, स्कन्ध और कटि इससे दृढ़ बनते हैं।

(२२५) **उत्तमाङ्ग-आसन**—पद्मासन में स्थित होकर दोनों हथेलियों को सामने भूमि पर जमा दें। अब शरीर को धीरे-धीरे हाथों के बल ऊपर उठाकर दोनों घुटने दोनों कोहनियों पर टिका लें और दृष्टि आकाश की ओर रखते हुए यथाशक्ति इसी अवस्था में बने रहें।

लाभ—इससे शरीर के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्ट और सुडौल बनते हैं। पाचन-शक्ति भी बढ़ती है।

(२२६) **द्विपादाँगुष्ठस्थित-आसन**--दोनों पैरों की अँगुलियाँ पादतलों की ओर मोड़कर एकमात्र दोनों अँगूठों के सहारे दोनों एड़ियाँ उठाकर इन पर नितम्ब रखकर बैठें। अब दोनों भुजाओं को कन्धों के बराबर ऊँचा उठाकर सीधा फैला लें। घुटनों को परस्पर मिला लें।

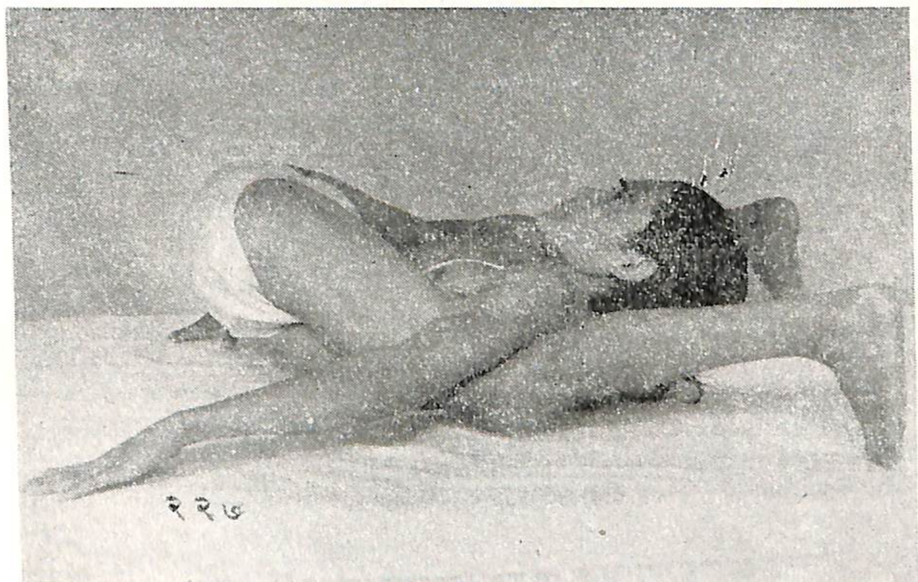
लाभ--इस आसन से केवल पैर के अँगूठों और अँगुलियों की सहनशक्ति बढ़ती है। और ये बलिष्ठ बनते हैं।

(२२७) **हस्तपाद मेरुदण्ड-आसन**—पीठ के सहारे भूमि पर लेटकर 'हलासन' के समान दोनों पैरों को शिर की ओर ले जाकर दोनों ओर फैला दें। अब दोनों हाथ जंघाओं के ऊपर से पीछे लेजाकर कटि के दोनों पार्श्वों में फैलाकर इसी स्थिति में यथाशक्ति रहें।

लाभ—यह आसन उदर की वृद्धि को रोकता और हस्तपाद की सन्धियों को निर्दोष बनाता है।



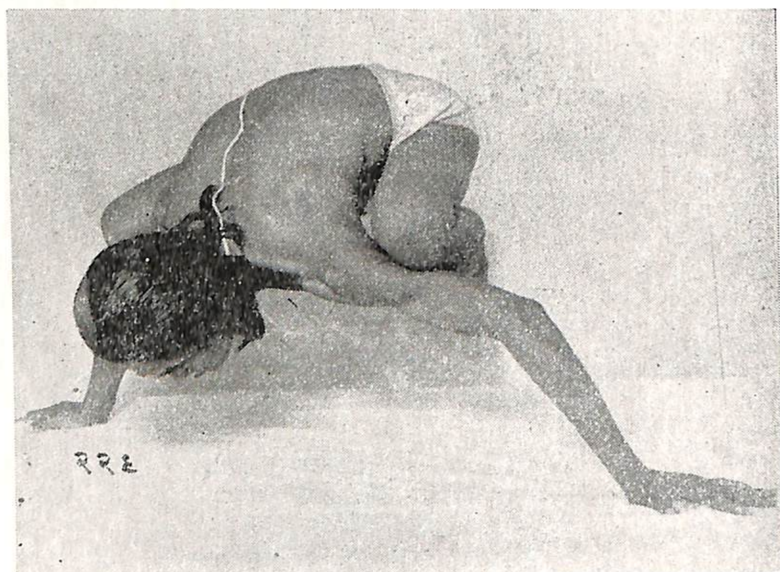
२२६
द्विपादांगुष्ठस्थित-
आसन



२२७
हस्तपाद-मेरुदण्ड-
आसन



२२८
हस्तस्थित तिर्यक् ऊर्ध्वाङ्ग-ग्रासन



२२६
क्रौंच-उड्डियान-ग्रासन

(२२८) हस्तस्थित तिर्यक् ऊर्ध्वाङ्ग-आसन—पंजों के बल बैठकर, दोनों हथेलियाँ सामने कुछ दूरी पर दृढ़ता से टेककर, हाथों के सहारे शरीर को दण्ड के समान सीधा उठाकर, कुछ तिरछा कर लें—भूमि से लगभग तीन हाथ ऊपर पैर उठे रहें।

लाभ—इससे भुजाएँ, कन्धे और टाँगें विशेष रूप से दृढ़ बनती हैं, मुख की कान्ति बढ़ती है।

(२२९) क्रौंच-उड्डियान-आसन—पैर के पंजों पर बैठकर दोनों हथेलियाँ सामने तीन हाथ की दूरी पर भूमि पर दृढ़ता से जमा लें। अब दोनों घुटने भुजा-मूलों पर रखकर, हाथों के सहारे समूचे शरीर को जितना भी सम्भव हो सके ऊँचा उठाए रहें।

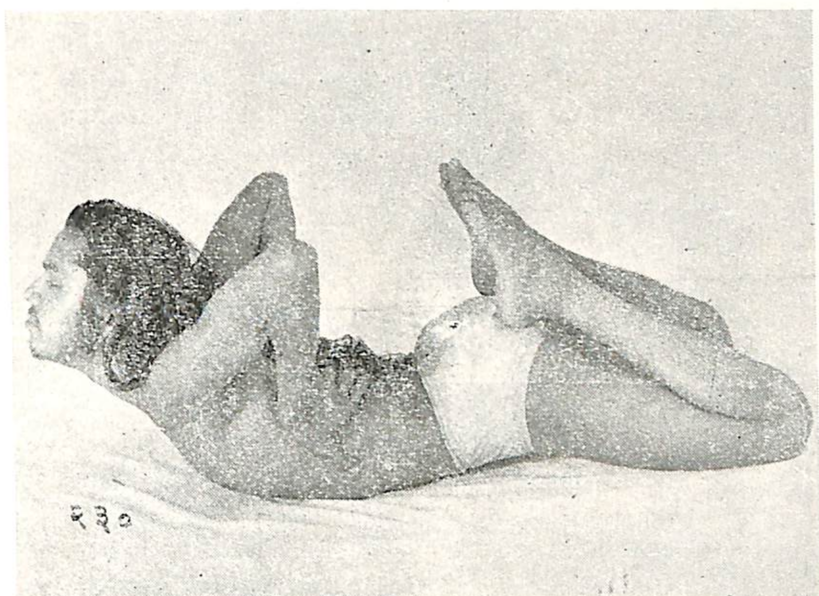
लाभ—समस्त शरीर ही इससे दृढ़ बनता है।

(२३०) **टिट्टिभ-आसन**—छाती और उदर के बल लेटकर दोनों घुटनों को मोड़कर दोनों एड़ियाँ नितम्बों पर रख लें। अब श्वास पूरक करके दोनों हाथों को पृष्ठ की ओर ले जाकर विपरीत क्रम से जोड़ लें। फिर कटि से ऊपर के भाग को सर्प-फन जैसी आकृति देकर ऊपर उठा लें। रेचक करते समय पूर्व स्थिति में आ जाएँ।

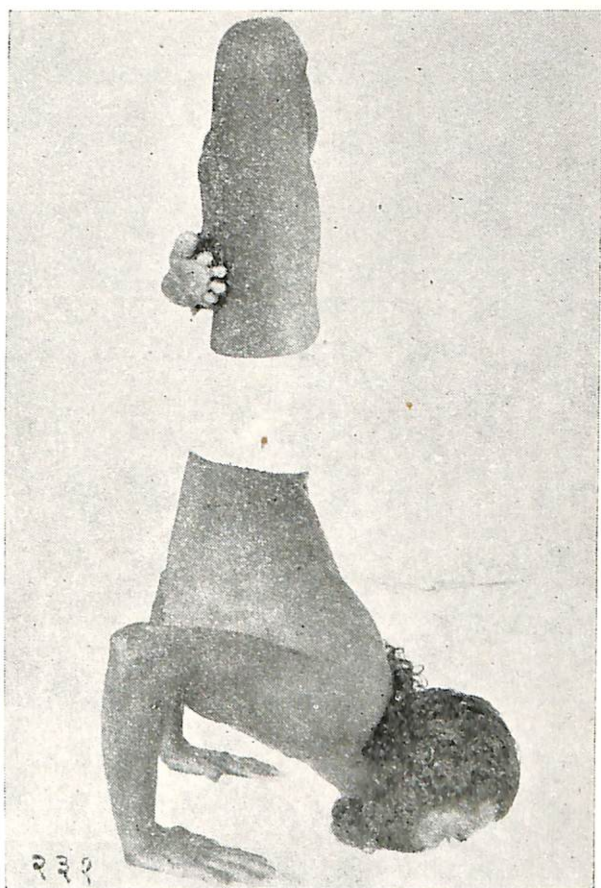
लाभ—मेरुदण्ड सहित छाती, कटि, उदर तथा ग्रीवा को यह आसन शक्तिशाली बनाता है।

(२३१) **ऊर्ध्व पद्ममुख भूस्पर्श-आसन**—पद्मासन लगाकर दोनों हथेलियाँ एक हाथ की दूरी पर सामने भूमि पर जमा लें और दोनों हाथों के सहारे पद्मासन को ऊपर की ओर इस प्रकार उठाएँ कि पद्मासन, घुटनों से ऊपर को सीधा रहे; ठोड़ी सामने भूमि का स्पर्श करे।

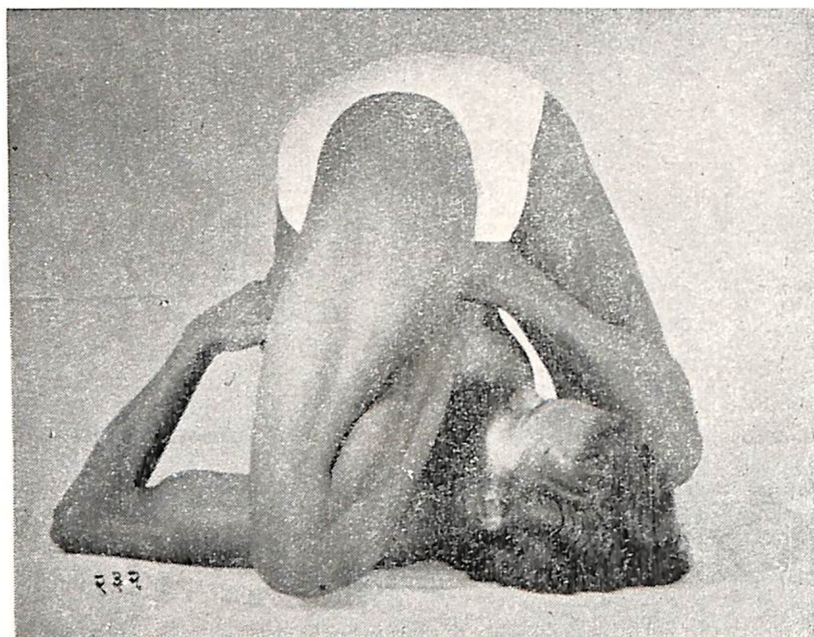
लाभ—इससे कण्ठ और मुख की नस-नाड़ियाँ सबल बनती हैं, वक्षस्थल की निर्बलता दूर होती है। शरीर के अधिकाँश भाग दृढ़ बनते हैं।



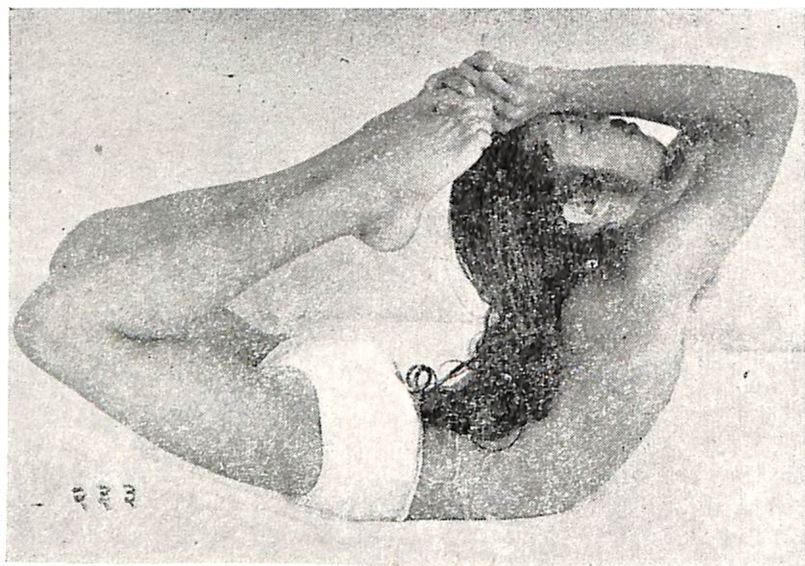
२३०
टिट्टिभ-आसन



२३१
ऊर्ध्वपद्ममुख भू-स्पर्श-आसन



२३२
शिर-पृष्ठ-पद्म-आसन



२३३
विपरीत-पादांगुष्ठ–
शीर्षस्पर्श-आसन

(२३२) **शिर-पृष्ठ पद्मासन**—पद्मासन लगाकर पीठ के सहारे लेट जाएँ और दोनों हाथों का सहारा देकर पद्मासन को ऊपर उठा लें। शिर की ओर झुकाकर यत्न करें कि दोनों घुटने भूमि पर अथवा शिर के साथ लग जाएँ। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहें।

लाभ—यह कटि को लचकीला, उदर को नरम, आँतों को पुष्ट और कण्ठ को सबल बनाता है।

(२३३) **विपरीत पादांगुष्ठ शीर्षस्पर्श-आसन**—छाती और उदर के बल लेटकर दोनों हाथों से पैरों के अँगूठे पकड़ लें और ग्रीवा, छाती तथा जानुओं को ऊपर उठाकर, पैरों के अँगूठे शिर की ओर इस प्रकार खींचकर ले जाएँ कि दोनों अँगूठों से मस्तक लग जाए और समूचे शरीर का भार नाभि पर तुल जाए। यह कठिन आसनों में से है।

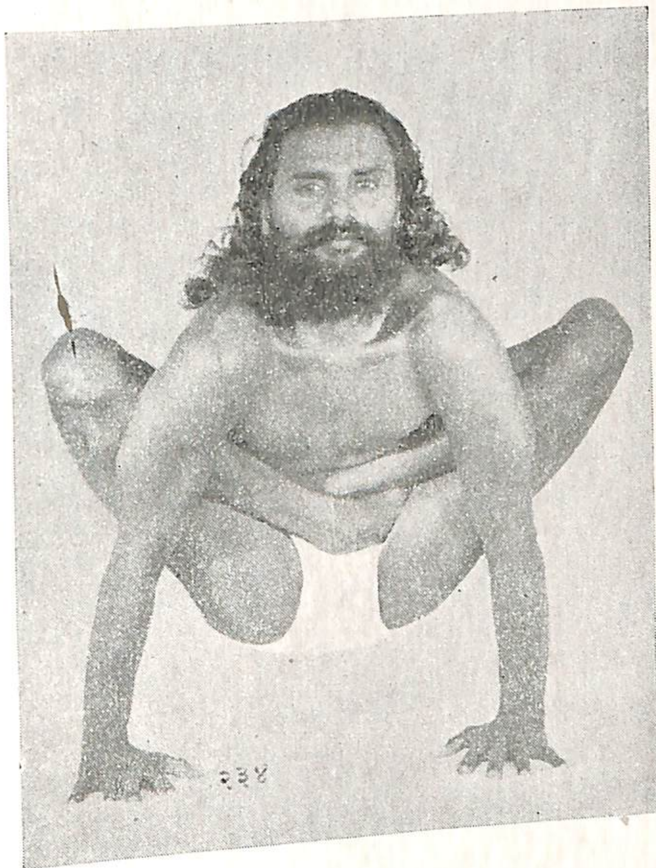
लाभ—इससे समस्त शरीर का व्यायाम हो जाता है; शरीर नरम, सुडौल, लचीला, किन्तु दृढ़ और लावण्ययुक्त बन जाता है।

(२३४) **पद्मजानुबद्ध उत्थित-ग्रासन**—पद्मासन से बैठकर दोनों घुटनों को ऊपर उठाकर, भुजाओं से घुटनों को दबाकर, हथेलियों को नीचे भूमि पर टिका-कर, दोनों हाथों का सहारा लेकर नितम्बों सहित समूचे शरीर को ऊपर उठा लें ग्रौर यथाशक्ति हथेलियों पर स्थित रहें ।

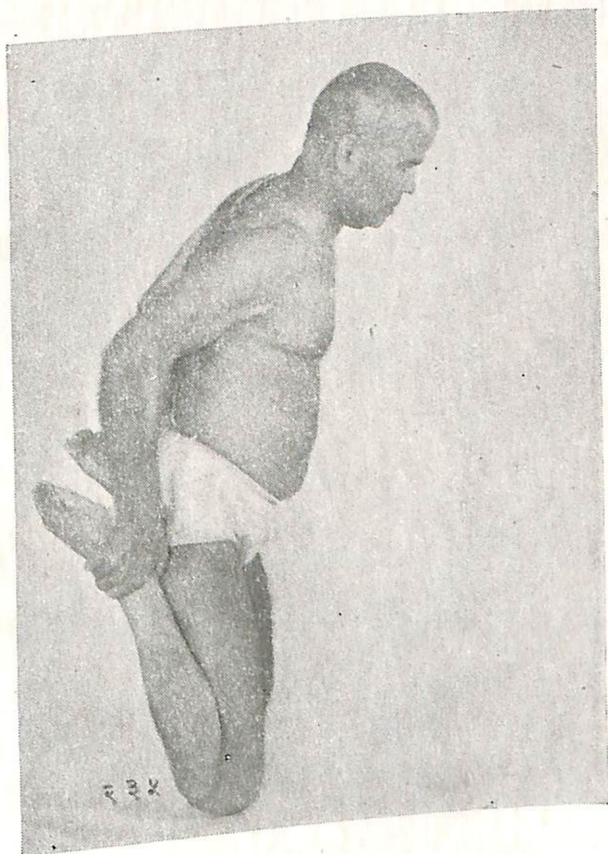
लाभ—इस ग्रासन से उदर-सम्बन्धी रोग नहीं होने पाते । हस्त ग्रौर पाद सबल बनते हैं ।

(२३५) **वामन-ग्रासन**--दोनों घुटनों पर सीधे खड़े होकर दोनों पैरों के पञ्जे उठाकर, नितम्बों के साथ लगाकर, दोनों हाथों से दोनों पैरों के गिट्टे पकड़ लें । ग्रब दोनों जानुग्रों से इतस्ततः (इधर-उधर) गमन करें ।

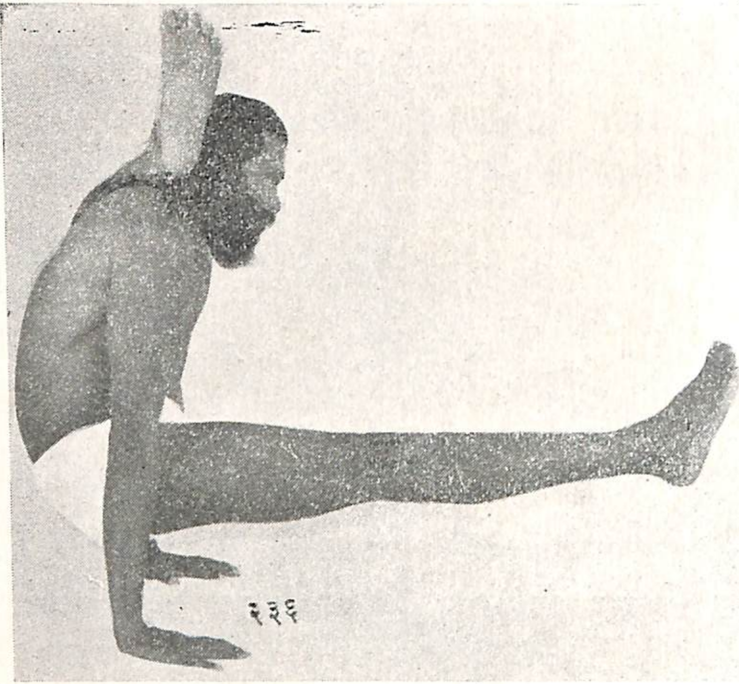
लाभ—इस ग्रासन के ग्रभ्यास से घुटनों में होने वाली वात, गठिया, ग्रथवा ग्रामवात से उत्पन्न पीड़ा नहीं होती । यदि इनमें पीड़ा हो तो इस ग्रासन के निरन्तर ग्रभ्यास से नष्ट हो जाती है ग्रौर घुटने पुष्ट बन जाते हैं। चढ़ाई-उतराई में थकावट तथा कष्ट नहीं होता ।



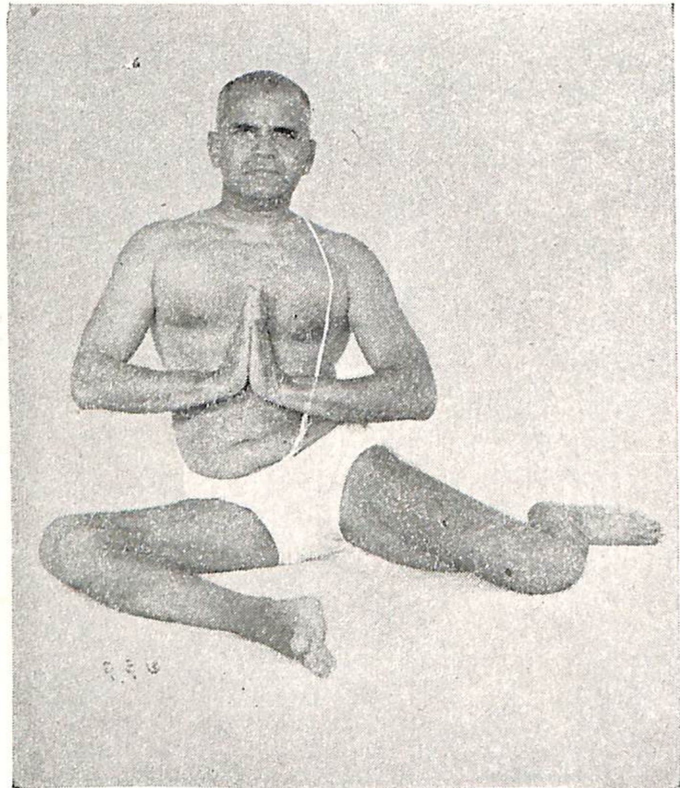
२३४
पद्म-जानुबद्ध-उत्थित-आसन



२३५
वामन-आसन



२३६
उत्थित-एकपाद-ग्रीवा-
आसन



२३७
पाद-अकुञ्चन-आसन

(२३६) **उत्थित एकपादग्रीवा-आसन**—दोनों पैरों को सामने लम्बा फैला कर बैठें। अब वाम पैंर को ऊँचा उठाकर शिर के पीछे ग्रीवा पर दृढ़ता से स्थापित कर दें। और दक्षिण पैंर भूमि पर सीधा फैलाए रहें। अब दोनों हथेलियाँ नितम्बों के पार्श्वों में भूमि पर स्थापित करके हाथों के सहारे सम्पूर्ण शरीर को भूमि से ऊपर तौल लें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर दक्षिण टाँग से भी इसी प्रकार करें।

लाभ—इस आसन को करते रहने से जंघामूल एवं कटि-प्रदेश का शूल शीघ्र जाता रहता है। और ग्रीवा, वक्षस्थल, स्कन्ध भी बलिष्ठ बनते हैं।

(२३७) **पाद-अकुञ्चन-आसन**—दोनों टाँगों को दोनों पार्श्वों में इस प्रकार फैलाएँ कि दायाँ घुटना मुड़कर दाईं एड़ी सामने आ जाए। इसी प्रकार बायाँ घुटना भी मुड़कर बाईं एड़ी पीठ की ओर हो जाए। रीढ़ तथा ग्रीवा को समरेखा में करके हाथों को परस्पर जोड़ लें। अब कुम्भक करके जब तक सम्भव हो सके, स्थिरता से बैठें।

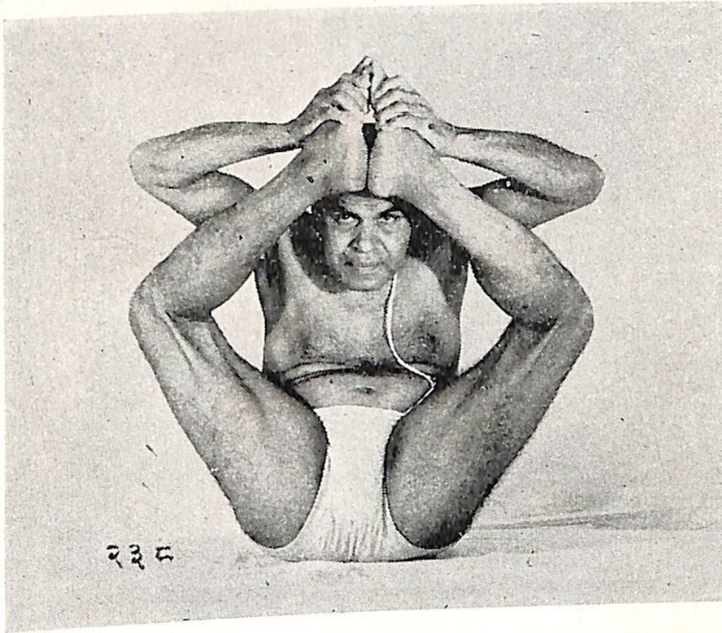
लाभ—इसका विशेष प्रभाव सम्पूर्ण टाँगों पर पड़ता है, जिससे वे पुष्ट हो जाती हैं।

(२३८) **पादतल संयुक्त मूर्द्धास्पर्श-आसन**—नितम्बों के सहारे बैठकर पादतलों को परस्पर संयुक्त कर लें। अब दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर फाँसकर संयुक्त पादतलों के नीचे ले जाकर पाद-पृष्ठों को बाँधकर इतना ऊपर उठाएँ कि एड़ियाँ और मूर्द्धा परस्पर स्पर्श कर लें। समस्त देह का भार नितम्बों पर ही रहना चाहिए।

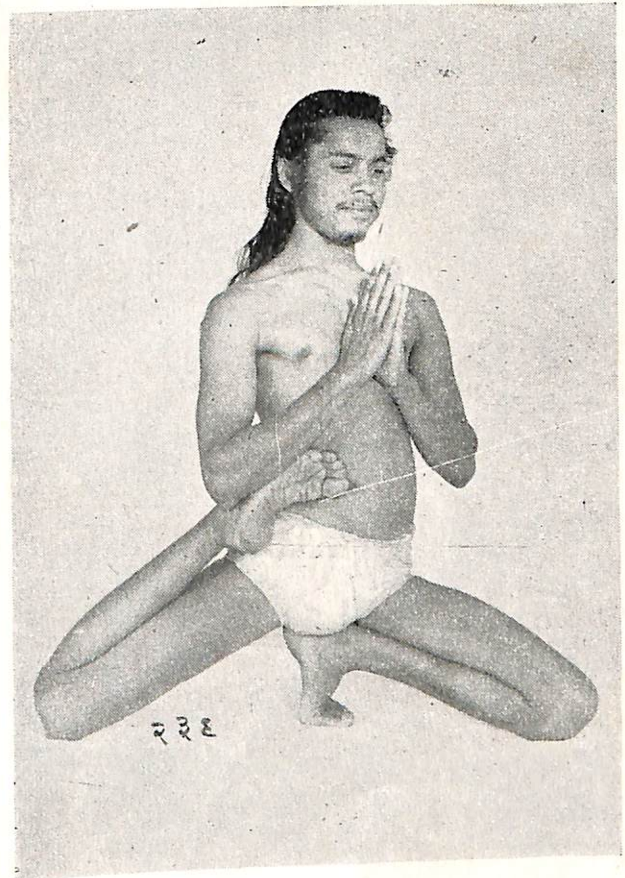
लाभ—इससे उदर कटि, और जंघा की सन्धियाँ आरोग्य रहती हैं।

(२३९) **मूलबन्धनाभिताड़न-आसन**—बाईं एड़ी को सीवन प्रदेश में लगा कर, बाएँ घुटने और जाँघ के सहारे बैठकर, दक्षिण घुटने को विपरीत क्रम से मोड़ कर, दक्षिणपाद के पञ्जे को नाभि के नीचे दक्षिण पार्श्व में दृढ़ता से जमाकर दोनों घुटनों और वाम पैर के सहारे स्थित होकर छाती के सामने दोनों हथेलियाँ जोड़ लें।

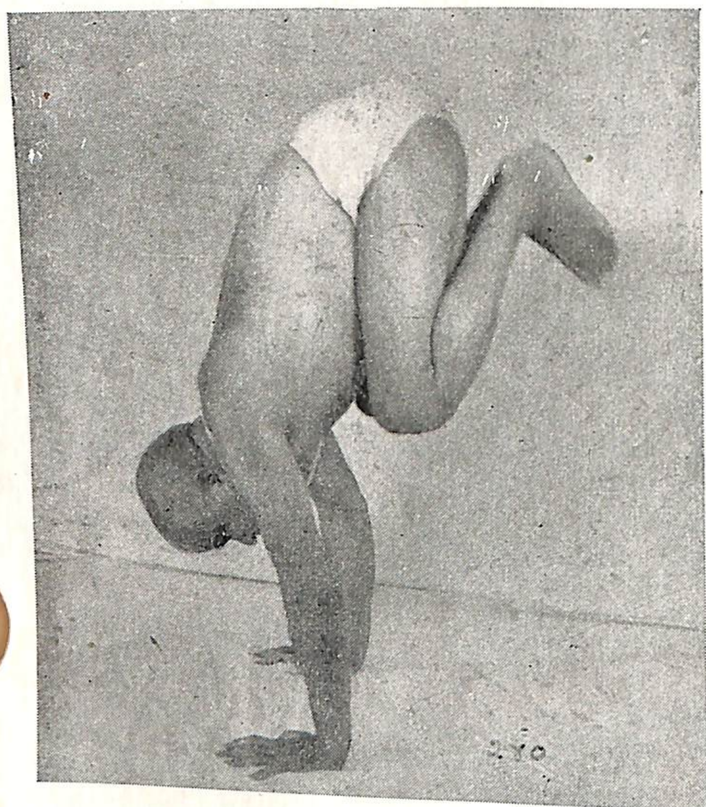
लाभ—इसके निरन्तर अभ्यास से टाँगों की समस्त सन्धियाँ दृढ़ बनती हैं। नाभि तथा उदर में कोई विकार नहीं होने पाता। मूलबन्ध लगने से प्राणोत्थान और कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है।



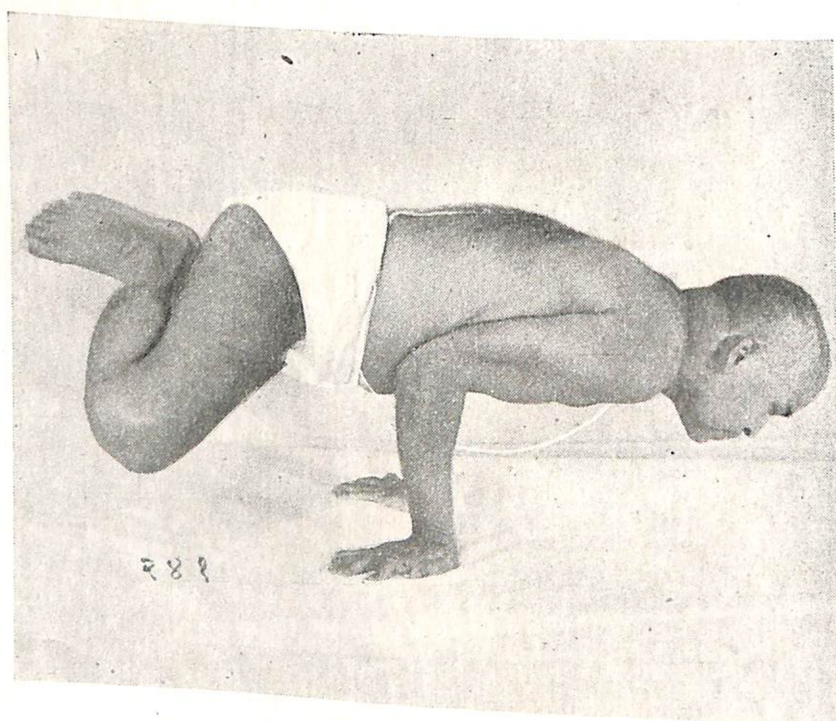
२३८
पादतल-संयक्त-मूर्द्धास्पर्श-
आसन



२३९
मूलबन्धनाभिताड़न-आसन



२४०
ऊर्ध्व-वज्र -आसन



२४१
चकोरी-आसन

(२४०) **ऊर्ध्ववज्रासन**—दोनों हथेलियाँ सामने कुछ दूरी पर भूमि पर जमा-कर, हाथों के सहारे शरीर को ऊपर उठाकर, टाँगे और घुटने मोड़कर एड़ियाँ नितम्बों पर रख लें; अब कुम्भक करके इसी स्थिति में यथाशक्ति ठहरने के पश्चात् रेचक करें। इसे कई बार दोहरा लें।

लाभ—इससे छाती विकसित तथा हृदय, कटि, भुजाएँ दृढ़ होती हैं।

(२४१) **चकोरी-आसन**—कुछ दूरी पर सामने हथेलियाँ भूमि पर दृढ़ता से जमा कर, कोहनियों को नाभि के दाएँ-बाएँ मयूरासन की भाँति लगाकर प्रश्वास-रेचक कर दें। अब दोनों हाथों के बल समूचे शरीर को सीधा करके ऊपर उठा लें और घुटनों को इस प्रकार मोड़ें कि पादतल आपस में मिल जाएँ, फिर इन एड़ियों को नितम्बों के साथ लगा लें। कुछ देर इसी स्थिति में रहकर पूरक करते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएँ।

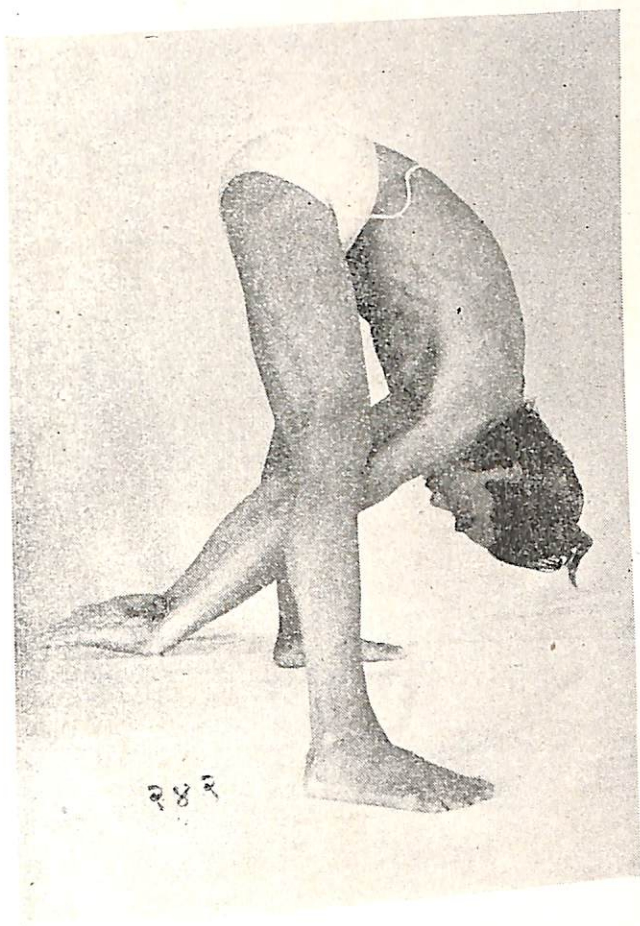
लाभ—इस आसन के अभ्यास से मयूरी तथा मयूर-आसन के समान लाभ होते हैं।

(२४२) **विवृतकरण-आसन**--पैरों को दो हाथ की दूरी पर रखते हुए सीधा खड़े होकर, श्वास अन्दर भर लें, और दोनों हाथों को ऊपर की ओर उठाकर फैला लें; अब एक बार पृष्ठ की ओर झुकें और पुन: एक बार आगे को झुकते हुए हाथों को टाँगों के मध्य में से शीघ्रता से पीछे को ले जायें, फिर बाहर निकालकर शीघ्रता से ही आगे को झुकें। इसी प्रकार रेचक-पूरक करते हुए कई बार आगे-पीछे को झुकें।

लाभ—इससे फुप्फुस, छाती, और प्राण सबल बनते हैं। उदर तथा कटि पीड़ा दूर हो जाती है, पाचन शक्ति बढ़ती है, उदर पतला पड़ जाता है।

(२४३) **पृष्ठाबद्ध एकपाद जानुस्पर्श-आसन**--दोनों पैर मिलाकर खड़े हों, और दोनों भुजाओं को पीछे की ओर ले जाकर दक्षिण हस्त से बाईं कोहनी तथा वामहस्त से दक्षिण कोहनी पकड़ लें। अब श्वास अन्दर भरकर, कमर से आगे को इतना झुकें कि नासिका से दक्षिण जानु को स्पर्श हो जाय, इसी अवसर पर बाईं टांग पीछे की ओर सीधी कटि के बराबर ऊँची उठाकर यथाशक्ति ठहरें। पैर बदल कर भी इसे करें।

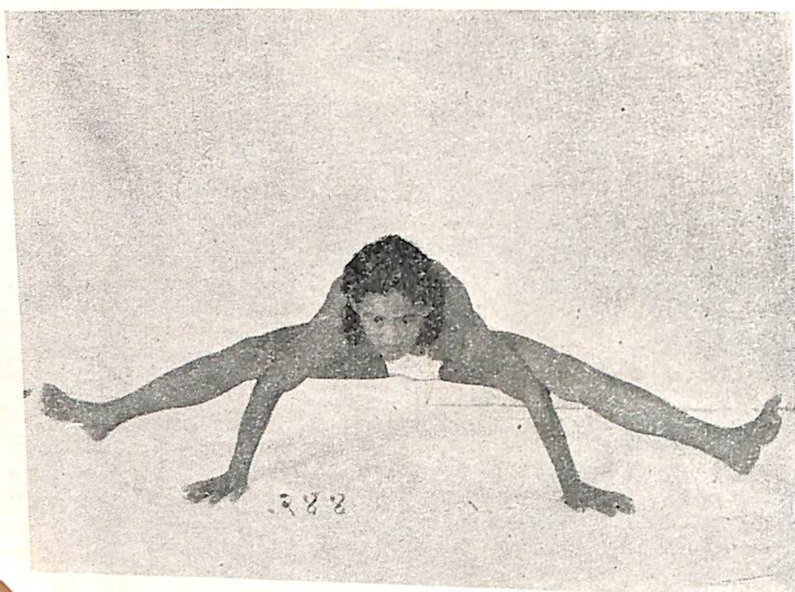
लाभ—पृष्ठवंश तथा कटि में रहने वाली वातिक पीड़ा इस से चली जाती है, और शिरपीड़ा को शान्त करने के लिए भी उपयोगी है।



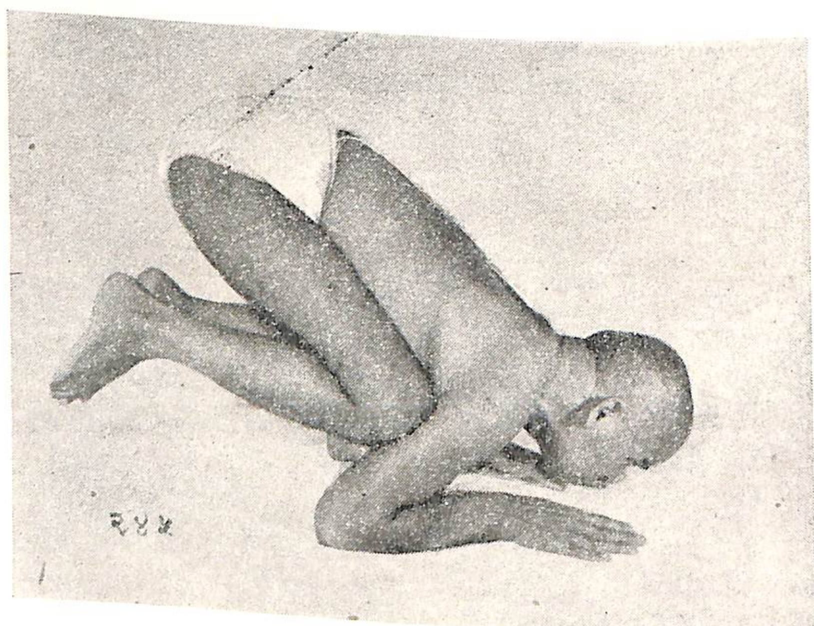
२४२
विवृतकरण-आसन



२४३
पृष्ठाबद्धएकपाद-
जानुस्पर्श-आसन



२४४
द्विपाद-भुजोत्तान-आसन



२४५
चक्रवाक-आसन

(२४४) **द्विपाद भुजोत्तान-आसन**—दोनों पैर सामने फैलाकर बैठें और दक्षिण घुटने को मोड़कर पैर दक्षिण कंधे पर रख लें, इसी प्रकार वाम घुटने को मोड़कर पैर को बाएँ-स्कन्ध पर रक्खें; अब दोनों हथेलियाँ भूमि पर जमाकर दोनों हाथों पर सम्पूर्ण शरीर ऊपर तोल दें और दोनों पैरों को यथाशक्ति सामने ताने रक्खें।

लाभ—इससे उदर की स्थूलता तथा मन्दाग्नि दूर होती है, भुजाओं का बल बढ़ता है।

(२४५) **चक्रवाक-आसन**—पैरों के पंजों पर बैठकर, कोहनियों सहित दोनों हथेलियाँ भूमि पर दृढ़ता से जमा लें। अब दोनों भुजाओं के मूल (बगलों) के पास दोनों घुटने स्थापित करके, हाथों के सहारे शरीर को भूमि से ऊपर उठा लें और घुटनों को इस प्रकार मोड़ें कि एड़ियाँ नितम्बों से स्पर्श करें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहें।

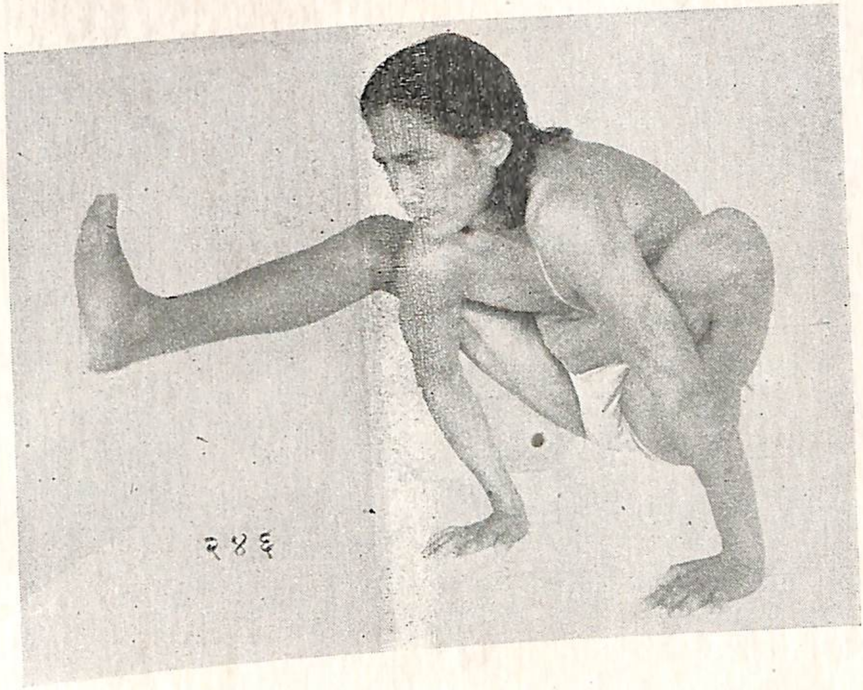
लाभ—इसके निरन्तर अभ्यास से उदरगत वायुगोला तथा कब्ज़ दूर हो जाता है, स्कन्ध और भुजाएँ दृढ़ बनती हैं।

(२४६) **द्विहस्त एकपादोत्थित-ग्रासन**—बैठकर दोनों लातें सामने फैला लें ग्रौर बायाँ पैर दक्षिण जंघामूल पर रखें, ग्रब दायाँ घुटना मोड़कर पैर दक्षिण कन्धे पर रखकर, दोनों हाथों को भूमि पर इस प्रकार स्थापित करें कि बाएँ गिट्टे से उदर पर दबाव पड़े। इस के पश्चात् हाथों के सहारे शरीर को भूमि से उठा कर यथाशक्ति ठहरें; ग्रौर इसी प्रकार दूसरी ग्रोर से भी करें।

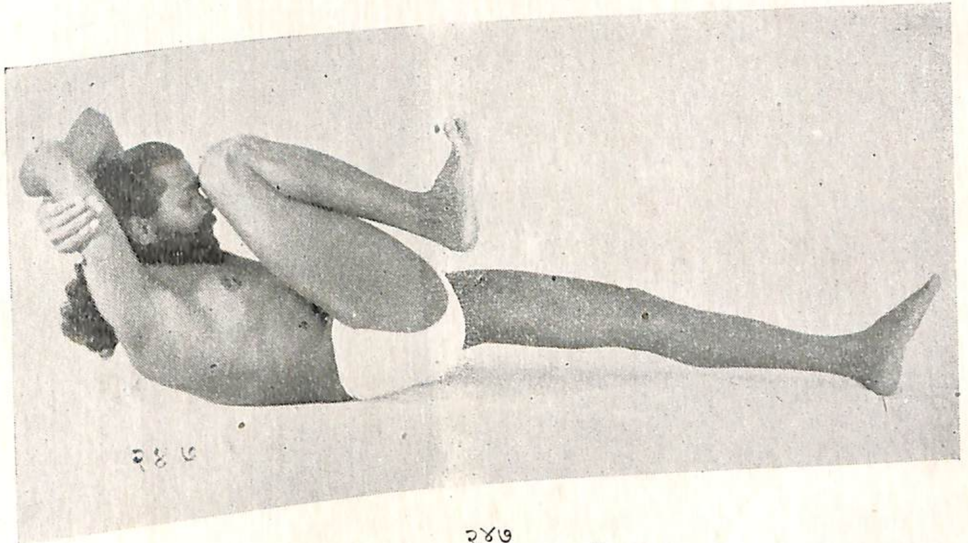
लाभ--मेद-चर्बी की ग्रधिकता से ग्रागे को बढ़ा तथा कठोर बना उदर, इस ग्रासन के निरन्तर ग्रभ्यास से पतला, हलका, कोमल बनकर स्वस्थ रहता है।

(२४७) **द्विहस्तबद्ध सुप्त एकपाद जानुस्पर्श-ग्रासन**—भूमि पर चित्त हो कर लेटें ग्रौर प्राण को पूरक करें; दोनों कोहनियाँ हाथों से परस्पर बाँधकर शिर के नीचे रख लें; ग्रब दक्षिण टाँग मोड़कर घुटना वक्षस्थल पर रख दें, ग्रौर शिर उठाकर नासिका को घुटने से छुग्राएँ। बायाँ पैर सीधा भूमि से सटा रहे; रेचक करते समय पूर्व स्थिति में हो जाएँ। इसी प्रकार पैर बदलकर भी करें।

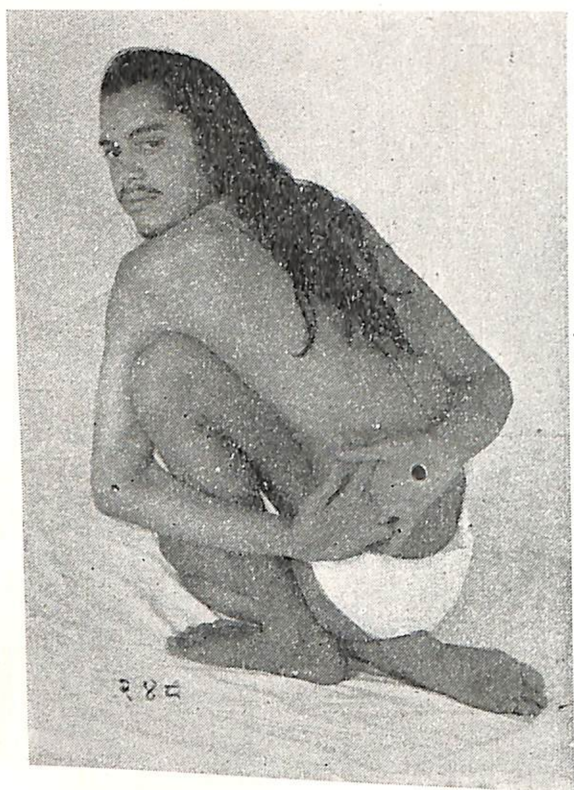
लाभ—इसके ग्रभ्यास से जिगर, तिल्ली, कमर, रीढ़ तथा ग्रीवा, फ़ुफ्फुस, वक्षस्थल सदा नीरोग रहते हैं।



२४६
द्विहस्त एकपादोत्थित-आसन

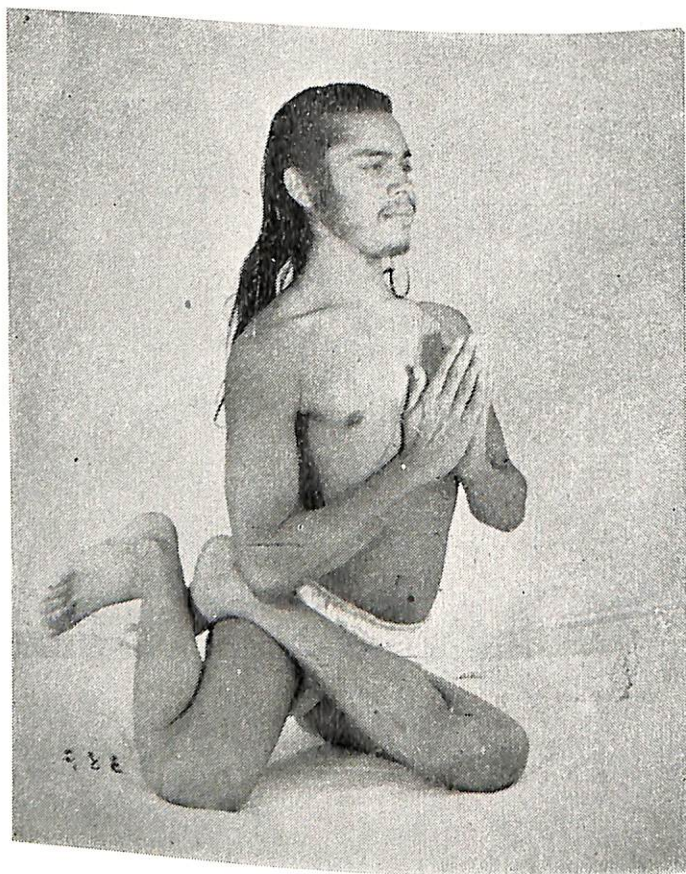


२४७
द्विहस्तबद्ध सुप्त एकपाद जानुस्पर्श-आसन



२४८
पृष्ठबद्ध-आसन

२४९
पादविकलाङ्ग-आसन



(२४८) **पृष्ठबद्ध-आसन**—बायाँ घुटना मोड़कर बैठें, और बाएँ नितम्ब के पार्श्व में तलवे को ऊपर रखते हुए पैर को रख दें, अब दायाँ पादतल वामपार्श्व में इस प्रकार स्थापित करें कि एड़ियाँ परस्पर मिल जाएँ; इसके पश्चात् वामहस्त को दाएँ जानु के बाहर से पृष्ठ की ओर लाकर दक्षिणहस्त को भी पीठ की ओर ले जा कर हाथों की अंगुलियाँ परस्पर फँसाकर, ग्रीवा सीधी करके यथासम्भव बैठे रहें। यह आसन भी कठिन है शनैः शनैः अभ्यास करें।

लाभ—इससे देह के सभी अङ्ग पुष्ट-दृढ़ होते हैं, विशेषकर स्कन्ध, भुजाएँ, अँतड़ियाँ बलिष्ठ बनती हैं।

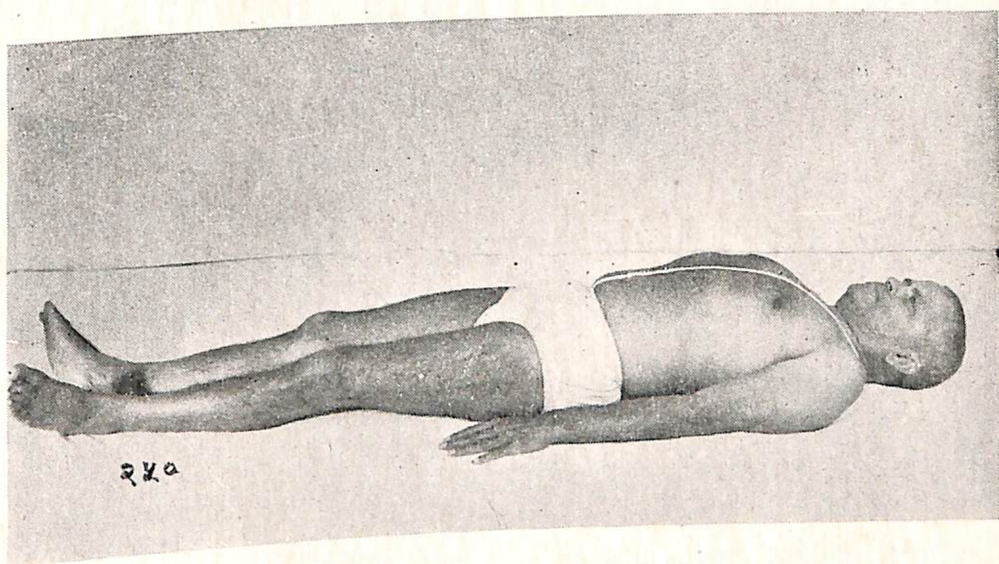
(२४९) **पादविकलाङ्ग-आसन**—टाँगें सामने पसार कर बैठें और दक्षिण घुटना मोड़कर एड़ी दक्षिण नितम्ब के पार्श्व में रख दें; अब बायाँ पैर दाईं जंघामूल पर, और दक्षिण पैर को बाएँ पैर की अंगुलियों और टखने के मध्यवर्ती स्थान पर रखकर, घुटनों को भूमि पर टेक दें, हाथों को सामने जोड़कर रखें। इसी प्रकार दूसरे पैर से भी करें।

लाभ—यदा-कदा वायु प्रकुपित हो जाने से टाँगों में यत्र-तत्र उत्पन्न हो जानेवाले विकार-पीड़ा आदि का शमन इस आसन के करते रहने से हो जाता है; नसें विकृत हो जाने से टाँगों में उत्पन्न कम्प आदि रोग-दोष शान्त पड़ जाते हैं।

(२५०) **पूर्णविश्राम-आसन**—यथेष्ट आसन कर लेने के पश्चात् भूमि पर चित्त लेटकर, शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को सर्वथा शिथिल करके, १५-२० मिनिट तक निश्चेष्ट होकर पड़े रहें; श्वास-प्रश्वास की गति भी सूक्ष्म रहे, निद्रा जैसी स्थिति हो जाए। शान्तभाव से पड़े रहकर पूर्ण विश्राम लें।

लाभ—सब प्रकार के व्यायाम, आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदिक श्रान्त बना देने वाली क्रियाओं के, तथा समाधि में दीर्घकाल तक बैठने से उत्पन्न थकावट के दूर करने के लिए यह आसन अत्युपयोगी है; श्रान्ति को दूर करके यह देह-प्राण-मन-इन्द्रियों में नवशक्ति-स्फूर्ति का संचार कर देता है।

नोट—षट्कर्म मुद्रायें तथा क्रियायें जो आसन एवं प्राणायाम सिद्धि में सहायक हैं पृष्ठ २२६ से २४५ तक पढ़ें।



२५०
पूर्णविश्राम-आसन

ॐ

बहिरङ्ग-योग

चौथा अङ्ग—प्राणायाम

मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के साथ शारीरिक उन्नति के लिए भी अष्टाङ्ग-योग का चतुर्थ-अङ्ग यह प्राणायाम एक विशेष महत्त्व रखता है। अन्नादि के समान ये ओषधियाँ भी प्रकृति की देन हैं। अन्न जहाँ देह-पुष्टि के लिए उपयुक्त होता है, ओषधियाँ शरीर के दोष और रोगों की निवृत्ति के लिए प्रयुक्त होती हैं; परन्तु इन प्रचलित ओषधियों से रोग सर्वथा निर्मूल नहीं होते, विशेषत: इन पाश्चात्य ओषधियों के सेवन से ये रोग कुछ काल के लिए दब जाते हैं। अत: तत्त्वदर्शी महर्षियों द्वारा स्वानुभूति के आधार पर आविष्कृत, रोगों को निर्मूल करके स्वास्थ्य को स्थिर रखने वाले सफल-साधन 'प्राणायाम' को अपनाने की आवश्यकता है। मानव जीवन-यात्रा के अन्यान्य साधनों में अथवा सामग्री में प्राणवायु का महत्त्व मुख्य है; क्योंकि अन्न-जलादि के बिना भी कुछ काल तक जीवन चल सकता है परन्तु वायु के बिना तो कुछ मिनिट भी नहीं बीत सकते।

प्राणायाम का सामान्य स्वरूप है—श्वास-प्रश्वास का एक क्रमिक गति में प्रवाहित रहना—बहते चलना; स्वाभाविक गति में नियमित रूप से विरामपूर्वक आना-जाना। परन्तु इस साधारण गति को, नियमन और विस्तार के द्वारा असाधारण बनाकर, स्वस्थतापूर्वक आयु को बढ़ाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय प्राणायाम है। जिन तत्त्वदर्शियों ने इसका आविष्कार किया था उन्होंने ही इस महान्-साधना के विषय में कुछ-एक नियम भी निर्धारित किये थे। उन्हीं जैसे किसी महान् तत्त्वज्ञ का कथन है—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्;
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः।
हिक्का कासश्च श्वासश्च शिर:कर्णाक्षिवेदना:;
भवन्ति विविधा दोषा: पवनस्य व्यतिक्रमात्। (योगसिद्धि)

साररूप से इसी की यह कहावत बन गई है—"देखा देखी करे योग, छीजे

काया बढ़े रोग'। अतः विकृत-प्राणायामों से उत्पन्न रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को देखकर जनता में आतङ्क-सा छा गया है। पठित व्यक्ति भी प्राणायाम का नाम सुनकर भय का अनुभव करते हैं। इस भय को दूर करने का उपाय है, कि—देशकाल, बलाबल, तथा देह की प्रकृति के ज्ञाता किसी उत्तम शिक्षक-आचार्य से इन प्राणायामों की शिक्षा प्राप्त की जाये।

प्रसिद्ध शास्त्रीय प्राणायामों के साथ, वे अनेक प्राणायाम भी इस ग्रन्थ में दे दिए हैं जो परम्परा से गुरुजनों के द्वारा गुप्तरूप से चले आ रहे हैं; ये सब ५० प्राणायाम हैं।

पूर्व वर्णित आसनों के साथ अभ्यास करने से, इन प्राणायामों से होने वाला लाभ कई गुणा बढ़ जाता है। शरीर की शुद्धि, इन्द्रिय तथा मन की निर्मलता से प्राप्त एकाग्रता सम्पादनार्थ एवं अज्ञान-अन्धकार के नाशक ज्ञान अथवा प्रकाश की प्राप्ति के लिए इस बहिरङ्ग योग के साधनों का अभ्यास करना अनिवार्य है; जैसा कि योगसूत्र कह रहा है—प्रतिज्ञा कर रहा है—

'योगाङ्गानुष्ठानाद् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः आविवेकख्यातेः।'—२-२८।

साधकों के लिए प्राणायाम करने के नियम—१. शीतल काल में इन प्राणायामों का अभ्यास नहीं करना चाहिए—शीतकार, शीतली, सीत्कारी। चन्द्र-भेदी। किन्तु पित्त प्रधान प्रकृति वाले व्यक्ति इन प्राणायामों का अभ्यास शीत-काल में भी कर सकते हैं।

२. ग्रीष्म-काल में इन प्राणायामों का अभ्यास नहीं करना चाहिए—भस्त्रिका, ऊर्ध्व-भस्त्रिका, अग्नि-प्रदीप्त, मुख-प्रसारण-पूरक, हृदय-स्तम्भ, नाड़ी-अवरोध, सूर्य-भेदन, एकाङ्ग-स्तम्भ, सर्वाङ्ग-स्तम्भ। किन्तु कफ-प्रधान-प्रकृति वाले व्यक्ति इन प्राणायामों का अभ्यास हिमालय आदि पर्वतीय प्रदेशों में ग्रीष्म-काल में भी कर सकते हैं।

३. वात-प्रधान-प्रकृति वालों को इन प्राणायामों का अभ्यास करना उचित नहीं। शीतकार, शीतली, सीत्कारी, प्लावनी, कण्ठवायु-उदरपूरक। इनके अतिरिक्त अन्य प्राणायाम कर सकते हैं।

४. दुर्बल शरीर वाले व्यक्ति इन प्राणायामों को न करें—भस्त्रिका, मुख-प्रसारण-पूरक, अग्नि-प्रदीप्त, हृदय-स्तब्ध, नाड़ी-अवरोध, वायवीय-कुम्भक, एकाङ्ग-स्तम्भ, सर्वाङ्ग-स्तम्भ।

५. भोजन करने के ३-४ घन्टे पश्चात् प्राणायाम करना चाहिए। भोजन में दूध, घी, चावल, दलिया, रोटी, साग, भाजी, खिचड़ी, फल, सूखे-फल (मेवे)

आदि सात्त्विक, सुपच, खाद्य, पेय, लेह्य, चोष्य पदार्थों की प्रधानता रखें।

६. विक्षिप्त-बुद्धि,चंचल-मन वालों को एकाग्रता-प्राप्ति के लिए—भ्रामरी, सर्वद्वार-बद्ध, षण्मुखी-रेचक, सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास प्राणायाम करने उपयोगी होंगे।

७. ज्वर-पीड़ित रोगियों तथा गर्भवती नारियों को प्राणायाम करना सर्वथा वर्जित है। भूख से पीड़ित तथा उदर-भरी अवस्था में भी कभी प्राणायाम न करें।

८. स्वयं पुस्तकें पढ़ कर तथा देखा-देखी प्राणायामों का कदापि अभ्यास न करें। अनुभवी आचार्य के समीप रहकर उनकी देख-रेख में प्राणायामों की शिक्षा लें।

९. शारीरिक बल और पराक्रम को बढ़ाने वाले प्राणायाम—सहितकुम्भक, भस्त्रिका, हृदय-स्तम्भ, नाड़ी अवरोध, एकाङ्ग-स्तम्भ, सर्वाङ्ग-स्तम्भ, वायवीय-कुम्भक हैं।

१०. आयुवर्धक प्राणायाम—सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास, दीर्घ श्वास-प्रश्वास तथा बाह्य और आभ्यन्तरीय—सभी कुम्भक हैं।

११. विशेष भार उठाने में सहायक तथा गाड़ी, मोटर, वृषभ, अश्वादि को रोकने के लिए—पूरकसहित-कुम्भक, हृदय-स्तम्भ, नाड़ी-अवरोध, एकाङ्ग-स्तम्भ, सर्वाङ्ग-स्तम्भ आदि प्राणायामों का अभ्यास उत्तम रहता है। इनके अभ्यास-काल में आहार विशेष रूप से स्निग्ध और पौष्टिक तथा सुपच रखना चाहिए।

१२. प्राणायामों के अभ्यास के लिए—सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, सुखासन, वीर-आसन, योगासन, वज्रासन, कमलासन उपयोगी रहते हैं।

१३. प्राणायाम तथा आत्मचिन्तन के अभ्यास काल में सदा—ग्रीवा, मेरु-दण्ड, छाती, कटि को सीधा रखकर बैठा करें, तभी ये सब अभ्यास यथाविधि तथा फलप्रद होंगे।

१४. समस्त प्रकार के अभ्यास तथा साधनाओं से पूर्ण लाभ उठाने के लिए—**'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु, युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।'** यह श्लोक कण्ठस्थ करके स्मरण करते हुए व्यवहार में लाएँ।

१५. धूम्र, धूलि, दुर्गन्ध, सीलन युक्त वातावरण में आसन तथा प्राणा-यामों का अभ्यास करने से लाभ के स्थान में हानि की सम्भावना अधिक है।

प्राणायाम का लक्षण—

तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।—योग २-४९;

अर्थात् आसन की स्थिरता होने पर श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति का

नियमन करना—रोक कर सम कर देना 'प्राणायाम' है। प्राणायाम के योगदर्शन में उक्त भेद ये हैं—

'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' —योग २-५०;

देश, काल, संख्या के आधार पर श्वास-प्रश्वासों की स्वाभाविक गतियों को दीर्घ और सूक्ष्म गति से बाह्यवृति (रेचक), आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) और स्तम्भ-वृत्ति (कुम्भक) में नियमित करना, ये मुख्य तीन भेद हैं।

१. बाह्यवृत्ति (रेचक) प्राणायाम—भीतर से निकलने वाले स्वाभाविक कई प्रश्वासों को एक प्रश्वास बनाकर नासापुटों (नथुनों) से धीरे-धीरे बाहर निकालना (प्रत्येक मनुष्य एक मिनट में प्रायः ८ श्वास लेता और ८ प्रश्वास छोड़ता है—कुल १६-१७ बार प्राण लेता है); इन्हें कम करते जाना (जैसे ८ प्रश्वासों को घटाकर ४ में ले आना, फिर यथाक्रम दो में नियमित करते हुए एक में ले आना)। यह क्रिया बाह्य तथा आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार के प्राणों को नियमित करने के लिए की जाती है। सूत्र में कथित 'सूक्ष्म' का तात्पर्य है प्रश्वास को इतने धीरे मन्द गति से छोड़ना कि समीप बैठे व्यक्ति को इसके निकलने का शब्द न सुन पड़े। 'दीर्घ' का अभिप्राय है लम्बा-दूर तक; और 'सूक्ष्म' का, हल्का-छोटा अर्थ होता है।

२. आभ्यन्तर-वृत्ति (पूरक) प्राणायाम—बाहर से भीतर जाने वाले स्वा-भाविक कई श्वासों को एक प्रश्वास बनाकर नथुनों से धीरे-धीरे भीतर ले जाना नियमित रूप से; जैसे ऊपरले प्राणायाम में नियमित रूप से बाहर निकाला था उसी प्रकार इसमें भीतर ले जाना होता है।

३. स्तम्भ-वृत्ति (कुम्भक) प्राणायाम—स्वाभाविक रूप में चलते श्वास-प्रश्वास को सहसा जहाँ का तहाँ रोक देना।

ऊपर कथित प्राणायामों से विलक्षण यह चौथा प्राणायाम इस प्रकार है :—

४. **'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।'** —योग, २-५१। बाह्यवृत्ति (रेचक) और आभ्यन्तर वृत्ति(पूरक) प्राणायामों को देश, काल, और संख्या के आधार पर अर्थात् बाह्य तथा आभ्यन्तर को कुम्भक (स्तम्भवृत्ति) में नियमित करना।

बाह्याभ्यन्तराक्षेपी प्राणायाम—मूलाधार से नाभि तक की वायु को नथुनों से विशेष गति द्वारा बाहर निकाल दें, यथाशक्ति बाह्य-कुम्भक (स्तम्भवृत्ति) के द्वारा बाहर ही रोकें। इसके पश्चात् जब घबराहट हो तब पुनः नाभि से हृदय तक की वायु को बाहर निकाल दें और यथाशक्ति बाहर ही रोक रक्खें। तत्पश्चात् नः हृदय से कण्ठ तक स्थित वायु को बाहर निकाल दें और यथाशक्ति बाहर

ही रोके रहें।

क—अब बाहर की वायु को विशेष गति से इस प्रकार भीतर खींचे कि मूलाधार से नाभि तक का स्थान भर जाय, यथाशक्ति आभ्यन्तर कुम्भक (आभ्यन्तर स्तम्भवृति) के पश्चात्, पुनः बाहर से वायु को इस प्रकार विशेष गति से खींचे कि नाभि से हृदय तक का रिक्त स्थान भर जाये; यहाँ पर यथाशक्ति रोके रहें। तत्पश्चात् पुनः बाहर से वायु को खींचते हुए हृदय से कण्ठ तक के खाली स्थान को पूर्ण कर लें और यथाशक्ति रोके रहें। ऊपर सूत्र में देश, काल, संख्या, दीर्घ और सूक्ष्म शब्द आए हैं इनका अभिप्राय यह है—देश, काल, संख्या के साथ 'परिदृष्ट' पद है; यह परिदृष्ट सब के साथ जुड़ता है। जैसे—

'देश परिदृष्टः'—देश से मापा हुआ, यथा—रेचक में नासिका तक प्राण का निकलना; पूरक में मूलाधार तक श्वास को लेजाना; कुम्भक में एकदम नाभि-देश में रोक देना। इसी प्रकार **'काल-परिदृष्टः'**—जैसे ४ सेकिण्ड तक रेचक, दो सेकिण्ड तक पूरक, और ८ सेकिण्ड तक कुम्भक करना—यह समय से देखा हुआ है। आगे **'संख्या-परिदृष्टः'** जैसे इतनी संख्या (गिनती-गणना) तक प्रथम, इतनी संख्या तक दूसरा, इतनी संख्या तक तीसरा प्राणायाम हुआ। अर्थात् देश से तात्पर्य है कण्ठ, हृदय, नाभि, मूलाधार; काल से सेकिण्ड-मिनिट, तथा संख्या से तात्पर्य है कई श्वासों का एक श्वास बनाकर करना।

'दीर्घ-सूक्ष्मः'—नासिका के सामने थोड़ी-सी रुई कुछ दूरी पर रख दें। रेचक प्राणायाम से जब वह हिले तब अगले दिन इस दूरी को कुछ बढ़ा दें; नित्यप्रति इस दूरी को थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते हुए—रेचक की गति को भी तीव्र करते जायँ; इस प्रकार के अभ्यास से प्रश्वास दीर्घ होता जायेगा, इसी का नाम दीर्घ-सूक्ष्म है। जिस प्रकार रेचक प्राणायाम से प्रश्वास की लम्बाई बाहर को बढ़ती जाती है, इसी प्रकार पूरक द्वारा अन्दर खींचने से कण्ठ, हृदय, नाभि, मूलाधार एवं अन्त में पादतल तक इस पूरक की स्पर्शानुभूति होती चली जायेगी; इसको पूरक का दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिए। जब १२ श्वास-प्रश्वास एक ही श्वास बनने लगें तब समझना चाहिए कि 'दीर्घ-सूक्ष्म' हुआ है।

प्राणायाम के लाभ

प्राणायाम के इतने लाभ योग-दर्शनकार ने कथन किये हैं—**१. 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'—योग, २-५२**। अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश पर पड़ा आवरण दूर हो जाता है; विवेक-ज्ञान पर आ पड़ा अज्ञान-रूप पर्दा दूर हो जाता है।

२. **'धारणासु च योग्यता मनसः'** २-५३। अपनी रुचि के अनुसार मन को जहाँ-तहाँ, अन्दर-बाहर किसी भी स्थान-विशेष पर ठहराने की शक्ति आ जाती है। इससे 'प्रत्याहार-सिद्धि' में भी सहायता मिलती है। स्मृतियों में भी प्राणायाम की महिमा को महान् माना है। जैसे—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥—मनुः

जैसे—अग्नि से तपाये हुए स्वर्ण-रजत आदि धातुओं के मल जल जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम के अनुष्ठान से इन्द्रियों में आ गए दोष, विकार आदि नष्ट हो जाते हैं। केवल इन्द्रियों के दोष ही दूर नहीं होते, प्रत्युत देह, प्राण, मन के विकार भी दूर होकर, इन पर वशित्व प्राप्त हो जाता है। प्राणायाम से हाथी के समान बल तथा सिंह के समान पराक्रम उत्पन्न हो जाता है। दिवंगत महाबली 'राममूर्ति' को मैंने स्वयं दो मोटरों को रोकते, तथा ८० मन के हाथी को छाती पर से गुज़ारते देखा है। पूछने पर उन्होंने 'प्राणायाम' को ही ऐसा अपूर्व-बल उत्पादक कहा। प्राणायाम, जो बलाबल, ऋतु आदि को देखकर किया जाता है, वात-पित्त-कफ़ के प्रकोप को शान्त करने वाला, शरीर को आरोग्यता, आयु को दीर्घता देने वाला, तथा तेज और ओज वर्धक होता है। यह प्राण ही जीवन का मुख्य आधार, देह को क्रियाशील बनाने वाला. रक्त-शोधक, जाठराग्नि-वर्धक है; देह में स्फूर्ति, लचक, कोमलता, कान्ति, सुदृढ़ता दायक है। अतः योग में सफलता चाहने वाले मुमुक्षुजनों को श्रद्धा से निरन्तर इसका अभ्यास करना चाहिए, ऐसी मान्यता सभी आर्षजन-आचार्यों की है।

प्राणायामों के नाम

अब हठयोग के आचार्यों के कहे प्राणायामों के नाम तथा व्याख्या करते हैं।

सहितः, सूर्यभेदश्च, उज्जायी, शीतली तथा।
भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, केवली चाष्ट कुम्भकाः॥

—घेरण्ड सं०, ५-४५

(१) सहित-कुम्भक, (२) सूर्यभेदी, (३) उज्जायी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्च्छा, (८) केवली, ये आठ कुम्भक प्राणायाम हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

(५) **सहित कुम्भक** दो प्रकार का होता है :—

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्य, निर्गर्भो बीजवर्जितः॥—घेरण्ड सं०, ५-४६

सहित-कुम्भक प्राणायाम 'सगर्भ' और 'निर्गर्भ' दो प्रकार का है—(१) सगर्भ वह है जो ॐ आदि की मन्त्र के साथ, संख्या, परिमाण के साथ किया जाता है।(२) निर्गर्भ है—जो बिना किसी मन्त्र को जपे किया जाता है। यह प्राणायाम भी कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम भेद से तीन प्रकार का होता है। जैसे—(क) कनिष्ठ—प्रथम कथित नियम के अनुसार कटि और गर्दन आदि को सीधा रखते हुए अभ्यस्त आसन से बैठकर पहले दाएँ हाथ के अँगूठे से नासिका के दाएँ छिद्र को बन्द करके ॐ का आठ बार मानसिक जप करते हुए (जप की गिनती माला या अँगुलियों से करें) बाएँ नथुने से श्वास को भरें—पूरक करें। फिर ॐ का मानसिक जप ३२ बार करें—कुम्भक इतनी देर तक रहे। पश्चात् ॐ का १६ बार जप करते हुए, अनामिका (अँगूठे से चौथी) और मध्यमा (अँगूठें से तीसरी अँगुलि) को मिलाकर वाम नथुने को दबाकर दाएँ नासिका-पुट से रेचन करें। इसी प्रकार से दूसरे नथुने से भी करें। नित्य के अभ्यास से दृढ़ हो जायगा। (ख) मध्यम—इसमें भी दाएँ नथुने को दाएँ हाथ के अँगूठे से बन्द करके बाएँ से पूरक करते हुए ॐ का १६ बार जप करें, फिर ६४ बार जप होने तक कुम्भक किये रहें। फिर रेचन करने में इतना समय लगाएँ जितने में ॐ का ३२ बार जप पूरा हो—रेचक बाएँ नासा-छिद्र से करें। इसी को इसी भाँति फिर नासिका के वाम-छिद्र से करें। (ग) उत्तम—इसमें सब विधि पहले कहे के अनुसार है, केवल संख्या-भेद है। पूरक ३२ से, कुम्भक १२८ से और रेचक ६४ से करना है, अर्थात् ॐ का जप ३२, १२८, ६४ बार करते हुए प्राणायाम करें। यह सब कार्य १-२-१० दिन का नहीं है—धीरे-धीरे इस क्रम में वृद्धि करें।

इसके लाभ ये हैं—पूर्वकथित प्राणायामों के अभ्यास से देह में विशेष स्फूर्ति, सामर्थ्य, हल्कापन, मुख पर कान्ति आने लगती है; मन और इन्द्रियाँ शान्त होने लगती हैं, भूख-प्यास पर अधिकार होने लगता है, ध्यान काल में—ध्यान-बल से ॐ अक्षर चमकने लगता है, प्राण पर वशीकार बढ़ने लगता है।

(६) **सूर्यभेदी प्राणायाम**—अपने अभ्यस्त आसन से पूर्ववत् बैठकर सूर्य-नाड़ी (दायें नथुने) से शनैः-शनैः शब्द करते हुए प्राण का पूरक करें (प्राण वायु को कण्ठ, हृदय और उदर में भले प्रकार भरकर) यथाशक्ति कुम्भक करें—इसमें ऐसी प्रतीति होनी चाहिए कि शिखा से लेकर पाद-नख पर्यन्त प्राणवायु देह में भर गया है। जब कुछ घबराहट-सी प्रतीत होने लगे तब दाएँ नासाछिद्र को दबाकर चन्द्र-नाड़ी (बाएँ नथुने) से शब्द करते हुए वेगपूर्वक रेचन कर दें। इस प्राणायाम में पुनः-पुनः सूर्यनाड़ी से पूरक और चन्द्रनाड़ी से रेचक किया जाता है। प्रथम

दिन तीन प्राणायाम करें। फिर १-२ दिन के पीछे एक-एक बढ़ाते चलें; और २१ वा ३१ तक इन्हें बढ़ाया जा सकता है—बलाबल के अनुसार ही। इस प्राणायाम को प्रायः शीतकाल में करना चाहिए। कफ़ और वात प्रकृति वाले इसे ग्रीष्मऋतु में पर्वतीय प्रदेशों में कर सकते हैं।

यह प्राणायाम पित्त को बढ़ाता, कफ़ और वात (बादी) को नष्ट करता है। पाचनशक्ति को तीव्र करता तथा देह में स्वेद लाकर अनेक प्रकार के मलों को निकाल कर स्वस्थता प्रदान करता है। घेरण्ड-संहिता में आया है—

कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः।
बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानलविवर्धनः।
इति तं कथितं चण्डं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ——५-६७

यह प्राणायाम बुढ़ापे और मृत्यु को देह में शीघ्र नहीं आने देता, यह कुण्डलिनी को जगाता और जठराग्नि को प्रदीप्त करता है।

(७) **उज्जायी-प्राणायाम**——अभ्यस्त आसन पर बैठ कर, दोनों नासा-पुटों से शनैः-शनैः प्राणवायु का पूरक करें, यह वायु केवल कण्ठ से हृदय तक ही भरें। साथ में जालन्धर बन्ध लगाएँ, और यथाशक्ति कुम्भक करके वाम-नथुने से रेचन कर दें। कुम्भक में हृदय से नीचे प्राण नहीं जाना चाहिए; और क्रमशः हृदय से कण्ठ में, कण्ठ से मुख में लाते हुए नासिका से धीरे-धीरे प्रश्वास को बाहर निकालें। दैनिक ३-३ प्राणायामों से प्रारम्भ करके सुविधा के अनुसार इनकी संख्या बढ़ा लें। हठयोग-प्रदीपिका में इसके इतने लाभ कहे हैं—

श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम्। —२-५२
नाड़ी-जलोदराधातुगतदोष-विनाशनम्। —२-५३

यह कण्ठ की बलगम, नाड़ियों का मल, वीर्य के दोष, आमवात, खाँसी, प्लीहा के रोग दूर करता है; जठराग्नि वर्धक तथा जलोदर रोग नाशक है।

साधकों के ज्ञान के लिए यहाँ पर इतना लिखना आवश्यक है कि हठयोग के ग्रन्थों में आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि की संख्या प्रायः एक समान है। पाठभेद से क्रम का भेद मात्र हो गया है। इन प्राणायामों के विषय में भी घेरण्ड संहिता तथा हठयोग-प्रदीपिका में क्रमभेद है। हम भी इसी प्रकार कुछ क्रमभेद कर रहे हैं, क्योंकि कुछ प्राणायामों का स्पष्टीकरण चित्रों के द्वारा करना अभीष्ट है, इसीलिए आवश्यक भी है।

(८) **भ्रामरी-प्राणायाम**—वीरासन में यथाविधि बैठकर दाएँ हाथ के अँगूठे से दाएँ नथुने को दबाकर पूरक करें। जब मूलाधार तक प्राणवायु भले प्रकार

भर जाय तब कुछ देर तक कुम्भक करके, कण्ठ में भ्रमर (भौंरे) जैसी मधुर सुरीली गुंजार उत्पन्न करके दक्षिण नासाछिद्र से धीरे-धीरे रेचक करते रहें, यथाशक्ति रेचन को लम्बा करते हुए इस गुंजार में मन-बुद्धि को निमग्न कर दें। अभ्यास करते-करते इस गूँज में अन्य कई प्रकार के शब्द प्रकट होने लगते हैं। इसे यथाशक्ति अधिकाधिक बढ़ा लें। विक्षेप तथा चपलता के कारण जिनका ध्यान एकाग्र न होता हो, जप में बुद्धि न प्रवृत्त होती हो, तो इसके अभ्यास से दोनों ही विघ्न दूर होकर एकाग्रता तथा शान्ति की प्राप्ति होने लगती है। रामानन्द नाम के एक योगी इस प्राणायाम को एकान्त-शान्त स्थान में लगातार ५-६ घण्टे तक किया करते थे। इसी साधना से उनकी समाधि लग जाती देखी थी। ये कनखल में रहा करते थे।

इसके इतने लाभ हैं—वाणी तथा स्वर में मधुरता आ जाती है। प्राण बहुत दीर्घ तथा सूक्ष्म हो जाता है। ॐकार की मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है। मन-बुद्धि की शान्ति तथा तन्मयता बढ़ती जाती है। समाधि-प्राप्ति भी होती है।

(९) **मूर्च्छा-प्राणायाम**—पद्मासन में बैठकर दाएँ हाथ के अँगूठे से दाएँ नथुने को दबाकर बायें नथुने से श्वास भरकर कुम्भक कर लें। जालन्धर बन्ध लगाकर, मानसिक व्यापारों का अभाव करते हुए मूर्च्छित-सा होने का प्रयत्न करें। दृष्टि को भ्रूमध्य में रखें। यथाशक्ति कुम्भक रखकर दोनों नासापुटों से शनैः-शनैः प्राण का रेचन कर दें। कुम्भक के समय मन को विलीन-सा करने का प्रयत्न करें, जिससे मन शान्त होकर मूर्च्छित-सा हो जाय। फिर इसी प्रकार दक्षिण-नथुने से भी करें। अभ्यास को बढ़ाते चलें। इसके अभ्यास से मन शान्त होकर मूर्च्छित-सा हो जाता है, इस लाभ के कारण इसका नाम 'मूर्च्छा' है।

(१०) **केवली-प्राणायाम**—स्वस्तिक आसन से बैठकर (रेचक-पूरक किये बिना ही) प्राण को जहाँ का तहाँ ही सहसा स्तब्ध कर देना 'केवली-कुम्भक प्राणायाम' होता है। हठयोग-प्रदीपिका में इसका लक्षण है—

रेचकं पूरकं कृत्वा सुखं यद् वायुधारणम्। —७२
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवल-कुम्भकः।—हठ०, उप०२, ७३

वास्तव में स्तम्भवृत्ति प्राणायाम और केवली-कुम्भक एक ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। जैसे—

कुम्भके केवले सिद्धे रेचक-पूरकवर्जिते।—७३
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते। —हठ०, उप०२, ७४

अर्थात् रेचक-पूरक न करके केवल कुम्भक के सिद्ध हो जाने पर सब कुछ सुलभ हो जाता है—दुर्लभ्य कुछ नहीं रहता। 'सहित-कुम्भक', जिसमें रेचक-

पूरक के साथ कुम्भक किया जाता है, इसके अभ्यस्त हो जाने पर 'केवली-कुम्भक' में शीघ्र सफलता मिल जाती है।

इसके इतने लाभ हैं—श्वास-प्रश्वास की गति को सम तथा न्यून करके आयु को बढ़ाता और द्वन्द्वों का नाश करता है। दिव्य-दृष्टि का उत्पादक तथा ध्यान की दृढ़ता करता है।

हठयोग-प्रदीपिकाकार ने 'अष्ट-कुम्भक' का उल्लेख किया है—

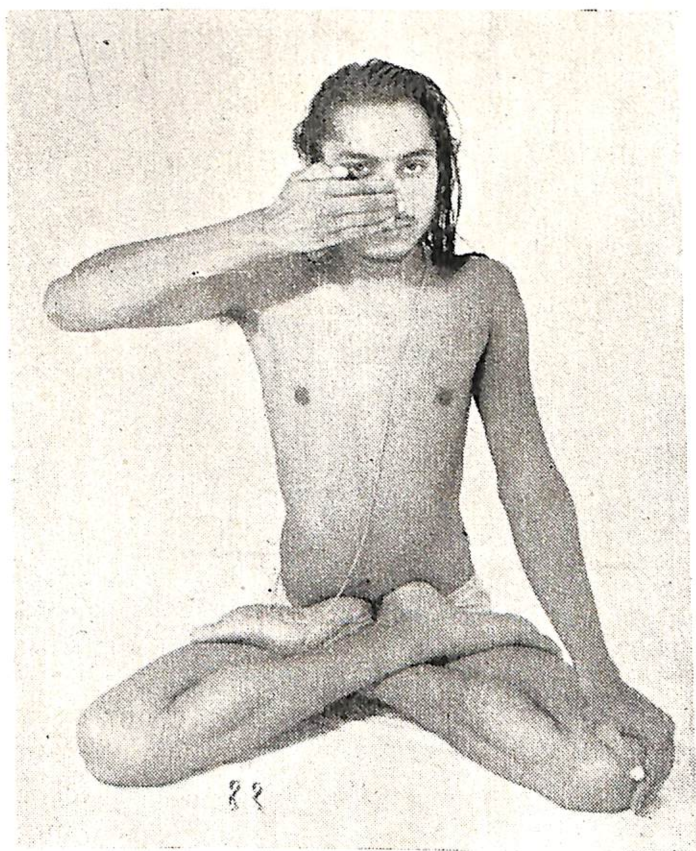
सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लावनीत्यष्टकुम्भकाः ॥

—उप० २, ४४ श्लोक

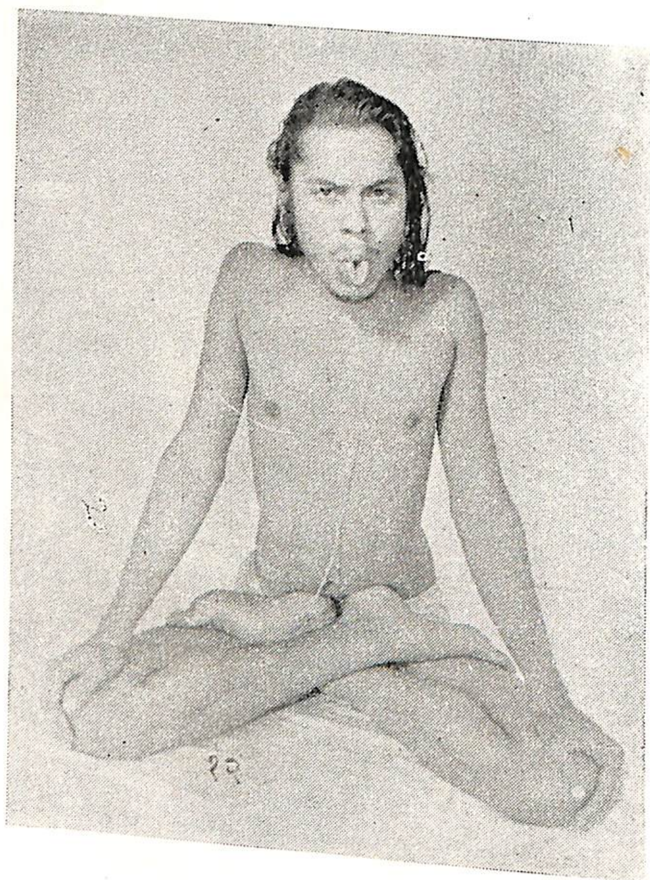
इन्होंने विकल्प में 'सीत्कारी' को 'सहित' के और 'प्लावनी' को 'केवली' के स्थान में रख दिया है।

(११) **भस्त्रिका-प्राणायाम**——अभ्यस्त आसन में बैठकर, दक्षिण हाथ की मध्यमा और अनामिका अँगुलियों को जोड़कर सीधा रक्खें, शेष को मोड़ लें। इन अँगुलियों से बायें नथुने को बन्द कर लें और कोहनी को मोड़कर कन्धे के समान ऊँचा उठा लें, वाम हस्त को वाम घुटने पर रख लें। अब बिना कुम्भक किए दायें नथुने से शब्द उत्पन्न करते हुए बलपूर्वक रेचक और पूरक को बिना रुके लम्बे-लम्बे श्वास-प्रश्वास द्वारा करें। श्वास-प्रश्वास की टक्कर अँगुलियों पर ज़ोर से बलात् लगे। इस प्रकार न्यून से न्यून ८-१० बार पूरक-रेचक करें। इसके अनन्तर पूरक करके आभ्यन्तर-कुम्भक करें, यथाशक्ति कुम्भक के पश्चात् वामनासा-रन्ध्र से रेचक करें, रेचन करते समय अँगूठे से दाएँ नथुने को दबा लें। इसी प्रकार पुनः दक्षिण-नथुने को बन्द करके दूसरी ओर से करें। दोनों ओर से तीन-तीन प्राणायाम करके नित्यप्रति क्रमशः बढ़ाते जायँ। दुर्बल साधक को यह प्राणायाम अधिक बल और वेगपूर्वक नहीं करना चाहिए, नहीं तो सिर में चक्कर आने का भय रहता है। किसी-किसी आचार्य का मत है कि कुम्भक के समय जालन्धर बन्ध अवश्य लगाना चाहिए। इस प्राणायाम के अभ्यासी को आवश्यकतानुसार दुग्ध-घृत का सेवन अवश्य करना चाहिए। अन्यथा छाती वा कण्ठ से थूक में रक्त आने लगता है, फुप्फुसों को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है, खाँसी और दमा हो जाने की आशंका भी रहती है। भस्त्रिका प्राणायाम कफ-मेद को सुखाता, बढ़े उदर तथा स्थूलतम देह को भी पतला कर देता है, इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए आहार और बलाबल का ध्यान रखते हुए अतिमात्रा में न करें।

हठयोग-प्रदीपिका में इसके इतने लाभ कथन किए हैं—



११––भस्त्रिका-प्राणायाम



१२——शीतली-कुम्भक-प्राणायाम

कुण्डली-बोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाड़ी-मुखे संस्थ-कफाद्यर्गल-नाशनम् ॥
सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥—२,६६-६७श्लोक

यह प्राणायाम कुण्डलिनी को शीघ्र जगाता, प्राण को सुखद बनाता और सुषुम्णा के द्वार को खोलता है। प्राण तथा कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन में होने वाली सुषुम्णागत रुकावट को हटाता है। सुषुम्णा में पड़ी ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि, रुद्र-ग्रन्थियों को खोल देने में अतिसहायक सिद्ध होता है। अतः विज्ञ योगी इसे उचित मात्रा में करे।

(१२) **शीतली-कुम्भक प्राणायाम**—सुखासन पर बैठकर, जीभ की आकृति को काक (कौए) की चोंच के समान बनाकर मुख से बाहर निकालें (जब जीभ को चोंच के समान बनाया जाता है तब जीभ के किनारों को मोड़कर गोल करने से पोली नलकी-सी बन जाती है)। अब इस छेद से प्राणवायु को शनैः-शनैः पूरक करके उदर को पूर्णरूप से भरकर, यथाशक्ति कुम्भक करें। घबराहट होने पर दोनों नासा-पुटों से रेचक करें। इसी प्रकार पुनः-पुनः इसका अभ्यास करें। शीतली-प्राणायाम गर्मी की ऋतु में किया जाता है; कफ़ प्रकृति वाले इसे न करें।

घेरण्ड-संहिता में इसके ये लाभ बताये हैं—

सर्वदा साधयेद् योगी शीतली-कुम्भकं शुभम् ।
अजीर्ण-कफ-पित्तं च न च तस्य प्रजायते ॥—५-७३

शीतली के अभ्यासी का अजीर्ण, कफ, पित्त नाशक है, तथा प्राण को शान्त करता, प्यास को बुझाता, पित्त-विकार से उत्पन्न रोगों को दूर करता है। शरीर में शान्ति, कान्ति उत्पादक तथा 'रक्तचाप' (हाइ ब्लड-प्रेशर) का शामक है।

(१३) **सीत्कारी-प्राणायाम**—सिद्धासन पर बैठकर 'शीतली' के समान प्राणवायु को चोंच के समान बनी जीभ को मुख से बाहर निकालकर सीत्कार-सा शब्द करते हुए पूरक करके, कुम्भक किये बिना, तत्काल दोनों नासा-पुटों से वेग-पूर्वक रेचन कर दें। इसी प्रकार पुनः-पुनः जीभ के द्वारा पूरक और नासिका द्वारा रेचक किया करें। हठयोग-प्रदीपिका में इसका लक्षण यह किया है—

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे प्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।
एवमभ्यास-योगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥—२-५४

मुख के द्वारा जीभ से 'सीत्कार' शब्द करते हुए पूरक तथा नासिका से रेचक करते रहने से सौन्दर्य-वृद्धि होती है। पित्त प्रकृति वाले सदा कर सकते हैं।

विशेष रूप से ग्रीष्मऋतु में अधिक लाभकारी होता है। शेष सब गुण शीतली के समान हैं।

(१४) **प्लावनी-कुम्भक**––स्थिरासन से बैठकर दोनों नासा-छिद्रों से पूरक करके इतना वायु पेट में भर लें जिससे कि उदर 'मशक' के समान फूल जाय—सर्वथा तन जाय; मानो समस्त शरीर का वायु उदर में ही आकर भर गया है। यथाशक्ति कुम्भक करके, पश्चात् दोनों नासा-पुटों से शनैः-शनैः रेचक करें। इसी क्रम को इच्छानुसार दोहराते रहें।

इसके लाभ हैं––जठराग्नि को प्रदीप्त करता, कब्ज को दूर करता है। समान तथा अपान प्राण को शुद्ध तथा इनकी गति को ठीक रखता है––ये कुपित नहीं होते। अधिक अभ्यस्त हो जाने पर बिना हाथ-पैर हिलाए अभ्यासी जल पर तैर सकता है।

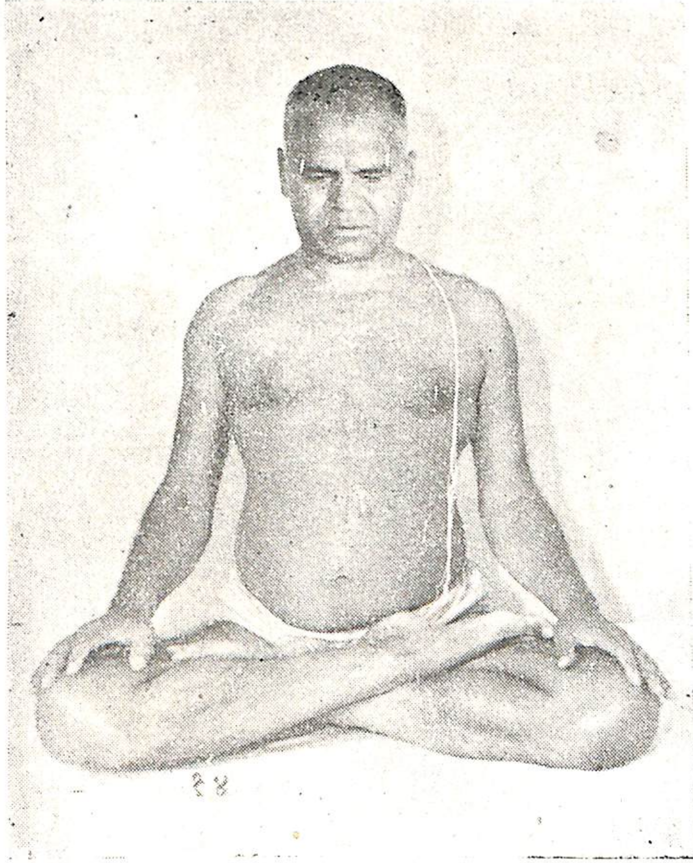
स्मरण रखिए––प्राणायामों का अभ्यास भी विशेषज्ञ आचार्य के बिना, पुस्तकें पढ़कर वा सुनकर ही नहीं प्रारम्भ कर देना चाहिए। जो प्राणायाम के गुण-दोष तथा मानव-प्रकृति के ज्ञाता हों, उन्हीं के समीप रहकर अभ्यास करें। अन्य बातों के ज्ञान के साथ देश-काल का ज्ञान होना भी आवश्यक है। अन्यथा इस कहावत के अनुसार, 'देखा-देखी साधे योग, छीजे काया बाढ़े रोग।' गति होती है। योग-सिद्धि ग्रन्थ का कथन है––

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यास-योगेन सर्वरोग-समुद्भवः॥
हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षि-वेदनाः।
भवन्ति विविधा दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात्॥—२

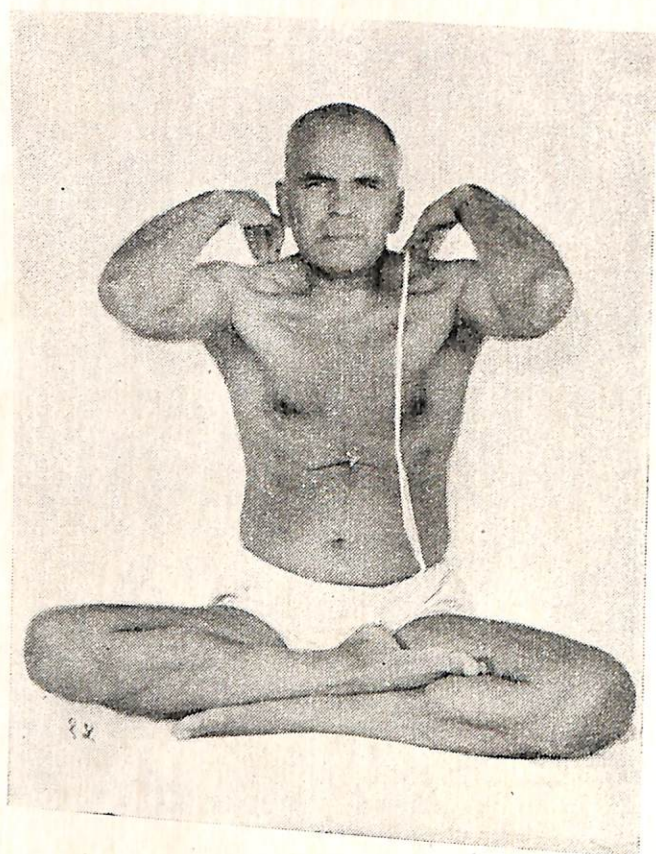
इसका अर्थ स्पष्ट है कि विधिवत् सीखकर किए गए प्राणायाम से जहाँ अनेक रोग-दोषों का शमन होता है वहाँ अयुक्ति-पूर्वक किए गए प्राणायाम से हिचकी, दमा, खाँसी, शिर, कान, आँखों में पीड़ा आदि रोग, प्राण विकार से हो जाते हैं।

परम्परागत प्राणायाम—

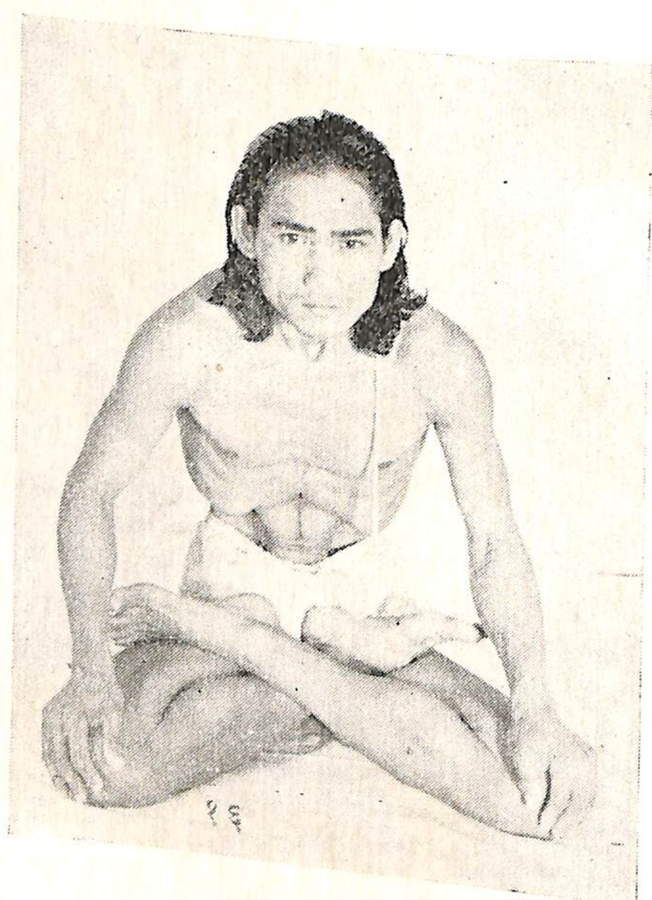
इसके आगे अब ऐसे प्राणायामों का वर्णन करते हैं जो गुरुजनों द्वारा परम्परागत चले आ रहे हैं। काश्मीर में मिले सर्वप्रथम गुरुजी ने मुझे ४० प्रकार के प्राणायामों की शिक्षा दी थी। आज से ४० वर्ष पूर्व आबू-पर्वत के निवासी एक योगी, उत्तरकाशी तेखला में मिले थे जो कई-सौ प्रकार के आसन-प्राणायाम जानते थे। उन्होंने अपने शरीर का भार, पैर ऊपर करके दायें हाथ के अँगूठे पर तोलकर



१४——प्लावनी-कुम्भक-प्राणायाम



१५
वक्षस्थल-रेचक-प्राणायाम



१६
मध्य रेचक-प्राणायाम

दिखाया था। तथा पद्मासनस्थ होकर प्राण-निरोध करके, बहते गंगा-जल पर ३०० गज़ के लगभग इधर-उधर घूमकर दिखाया था। उन दिनों ये आकाश-गमन की सिद्धि का अभ्यास कर रहे थे। प्राचीन मर्यादा कुछ ऐसी ही रही है कि अधिकारी-विशेष की योग्यता को देख-परखकर अध्यात्म-विद्या प्रदान की जाती थी। इसका विशेष लाभ यह होता था कि मुमुक्षु-जनों का कल्याण शीघ्र हो जाता था और धूर्त, दम्भी, व्यवसायी जनों के हाथ में पड़कर इसका अपमान नहीं होता था—दुर्गति नहीं होती थी। यदि अध्यात्म-विद्या योग को सार्थक और वीर्यवान् बनाना है तो योगाचार्यों को योग्यायोग्य की परख करनी ही होगी। तभी यह अनधिकारियों के हाथों में न जाकर, गुणवानों के पास पहुँचकर फलवती हो सकेगी।

(१५) **वक्षस्थल-रेचक प्राणायाम**—सुखासन में बैठकर दोनों नथुनों से अन्दर भरी हुई वायु को शनैः-शनैः बाहर निकाल देने के पश्चात् बाह्य-कुम्भक करें, दोनों हाथों की अँगुलियाँ दोनों स्कन्धों पर स्थापित करके कोहनियाँ सामने ऊँची उठा लें। अब वक्षस्थल की नसों-पेशियों और अस्थियों को ढीली वा शिथिल-सी करके अन्दर को सिकोड़ लें या पिचका दें, तथा कन्धों को कुछ आगे को उभारें जिससे कि वक्षस्थल की अस्थियाँ स्पष्ट उभरी हुई दीखने लगें—फेफड़े संकुचित हो जायँ। यथाशक्ति कुम्भक करके छोड़ दें। इस प्राणायाम को, हथेलियों को घुटनों पर टिकाकर भी कर सकते हैं। इस प्रकार यथारुचि सुखपूर्वक करते हुए बढ़ा लें।

इसके लाभ ये हैं—इससे हृदय की धड़कन कम हो जाती है, फुफ्फुस ठीक कार्य करने लगते हैं, क्षयरोग-ग्रस्त व्यक्तियों को स्वस्थता प्रतीत होने लगती है; रक्त का संचार ठीक होने लगता है।

(१६) **मध्यरेचक-प्राणायाम**—स्वस्तिक अथवा अपने अभ्यस्त आसन से समकाय होकर बैठें। पश्चात् उदर की समस्त वायु को रेचक करके बाहर निकाल दें और उड्डियान बन्ध करके इस प्रकार अँतड़ियों को उठाएँ कि पेट में सामने—मध्य में, नाभि से लेकर कौड़ी तक बेलनाकार वा दण्डाकार खड़ी हो जायँ। पेट के दोनों पार्श्वों को दबाकर, नौलि के आकार में खड़ी करके, यथाशक्ति बाह्यकुम्भक करके प्राण को छोड़ दें। इसे यथाशक्ति दोहराते रहें। उत्कट आसन से भी यह प्राणायाम किया जा सकता है।

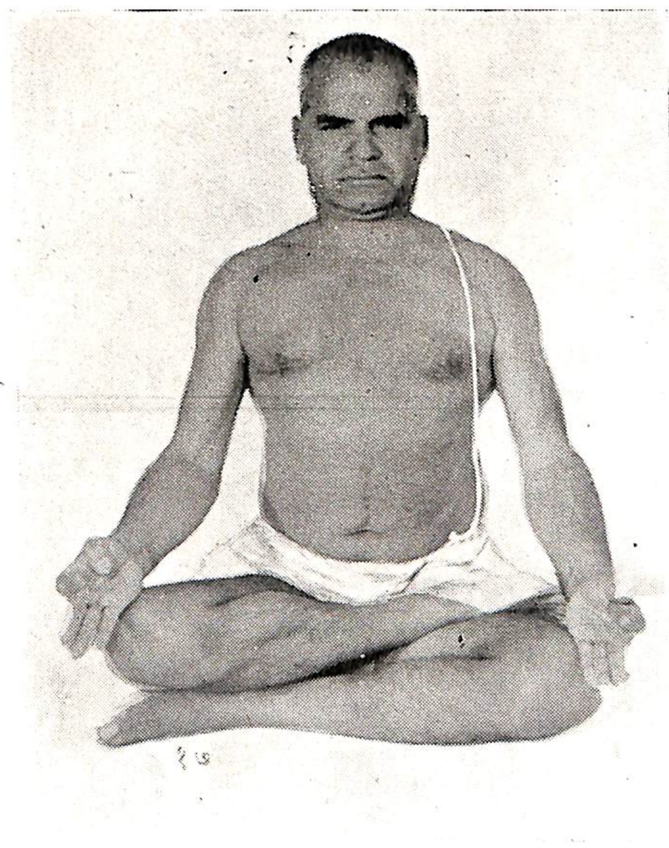
इसके इतने लाभ हैं—इसके अभ्यास से अँतड़ियों के अनेक विकार, तिल्ली तथा जिगर के कुछ रोग दूर हो जाते हैं। आँतें मल को छोड़ने लगती हैं इसलिए कब्ज़ दूर होने लगता है। प्राण पर वशित्व और मन पर अधिकार हो जाता है, समस्त उदर पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(१७) **अग्निप्रदीप्त-प्राणायाम**—पद्मासन से बैठकर, दक्षिण-नथुने को बन्द करके, बायें नथुने से शनैः-शनैः प्राण को पूरक द्वारा मूलाधार तक इतना भर दें कि कण्ठ से लेकर मूलाधार तक कहीं भी रिक्त स्थान न रहे। बलपूर्वक इतना कुम्भक करें कि छाती और मुख-मण्डल रक्त-वर्ण हो उठे। ध्यान रहे कि, पहले-पहल अत्यधिक कुम्भक न करें; कुम्भक के काल को धीरे-धीरे बढ़ायें। नहीं तो सिर चकराने लगता है और मूर्च्छा-सी आ जाती है। यदि घबराहट हो तो प्राण को दूसरे नथुने से रेचक द्वारा शनैः-शनैः निकाल दें। कण्ठ से ऊपर प्राण अधिक भर जाने से मूर्च्छा आया करती है, अतः ऊपर अधिक नहीं भरना चाहिये।

लाभ—इसके अभ्यास से देह में अतिशीघ्र स्वेद आ जाता है। अत्यधिक शीत में भी स्वेद आकर बहने लगता है, फलतः शीत दूर करने के लिए वनवासी योगी-तपस्वी इसका प्रयोग किया करते हैं। चिरकाल पूर्व की घटना है, मुझे काश्मीर में अमरनाथ की गुफा में शीतकाल में रहना पड़ा, हिम का कुछ ठिकाना न था। वस्त्र थे भी थोड़े और शीत निवारण में सर्वथा असमर्थ। उन दिनों इसी प्राणायाम के द्वारा शीत दूर करके प्राण रक्षा की थी। वहाँ भी स्वेद आ जाता था। 'अग्निप्रदीप्त' से शरीर में अतिबल तथा तेजस्विता आ जाती है। अमृतसर निवासी चौधरी जय-किशन जी ने स्वामी दयानन्द जी का सत्सङ्ग किया था। वे सुनाते थे कि—महाराज इस प्राणायाम को प्रायः किया करते थे। जब वे करते थे तब प्रथम-प्राणायाम से ही स्वेद बहने लगता था और प्रतीत होता था कि रक्त मानो देह को फोड़कर निकलना चाहता है। उस समय उनके समस्त देह से निकलते तेज के कारण किसी की दृष्टि देह पर न जमती थी। स्वामी जी महाराज ने इस प्राणायाम का नाम 'अग्निप्रदीप्त' ही बताया था। परन्तु वे नथुनों को बिना दबाए ही इस प्राणायाम को करते थे। हमने जहाँ-तहाँ नासिका-पुट को दबा कर प्राणायाम करने का विधान इसलिए किया है कि एक नथुने को दबाकर दूसरे से रेचक-पूरक करने से प्राणवायु धीरे-धीरे निकलता और भीतर जाता है, अतः शीघ्र थकावट नहीं होती। जब तक प्राण पर वशीकार प्राप्त न हो, दोनों नथुनों से प्राण शीघ्र अन्दर प्रविष्ट हो जाता है और बाहर भी शीघ्रता से निकल जाता है। जो चाहें, इस प्राणायाम को नासा-पुटों को खुले रखकर भी कर सकते हैं।

ग्रन्थान्तरों में इसके इतने लाभ लिखे हैं—

विण्-मूत्र-श्लेष्मणां तावदल्पभावः प्रजायते।
बहुभोजनसामर्थ्यं चिरादुच्छ्वासनं तथा॥ १॥
लघुत्वं शीघ्रगामित्वमुत्साहः स्वरसौष्ठवम्।



१७—अग्निप्रदीप्त-प्राणायाम

सर्वरोगक्षयश्चैव बलं तेजः स्वरूपता ॥ २ ॥
तपांसि पापक्षयता महादान-व्रतादयः ॥ ३ ॥
प्राणायामस्यैते कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ४ ॥

मल, मूत्र, श्लेष्मा की अल्पता होती है, अधिक खाये भोजन को पचाने की शक्ति हो जाती है, श्वास-प्रश्वास देर से आता-जाता है, देह में हल्कापन, शीघ्र-गामिता, उत्साह, स्वर-माधुर्य, बल, तेज, एवं सौन्दर्य की वृद्धि होकर—सम्पूर्ण रोगों का नाश हो जाता है। धैर्य, बुद्धि, तरुणाई स्थिरता की उत्पत्ति होकर प्रसन्नता छा जाती है, पापक्षय होकर तप की अभिवृद्धि होती है। बड़े-बड़े दान-व्रत आदि पुण्य कर्म, प्राणायाम के १६वें अंश के समान भी नहीं हैं।

(१८) **अनुलोम-विलोम-प्राणायाम**—अपने अभ्यस्त आसन से बैठकर दाएँ नथुने को दबाकर वाम नथुने से वेगपूर्वक शीघ्रता से प्रश्वास को रेचन कर दें। पश्चात् शीघ्रता से श्वास को अन्दर भरें, पूरक करें और मध्यमा-अनामिका अँगु-लियों को मिलाकर वाम नथुने को दबाकर दाएँ नथुने से वेगपूर्वक रेचक करें और शीघ्रता से इसी ओर से पूरक कर लें। इसी प्रकार दाएँ-बाएँ नासा-छिद्रों से शीघ्रता से वेगपूर्वक रेचक-पूरक क्रम से २०-२५ बार अवश्य करें।

लाभ—इसके अभ्यास से नासिका तथा फुफ्फुस के मल वा कफ की निवृत्ति होती है। नासिका के अन्दर बढ़ जाने वाले मांस वा झिल्ली, जिसके कारण प्रायः जुकाम रहता है, ठीक हो जाते हैं। श्वास-प्रश्वास की गति सम-सुगम होकर, मन शान्त और शरीर स्वस्थ रहता है, मस्तिष्क और वक्षस्थल हल्के रहते हैं।

(१९) **नाड़ी-शोधन अथवा नाड़ी-शुद्धि प्राणायाम**- —पद्मासन पर बैठकर, दाएँ नथुने को दाएँ हाथ के अँगूठे से दबाकर प्राणवायु को धीरे-धीरे मूलाधार तक भर दें। बिना कुम्भक किये ही दाएँ-नथुने से शनैःशनैः रेचक करें। इसी प्रकार नासिका के बायें छिद्र से पूर्ववत् प्राण का पूरक करके बिना कुम्भक किये रेचन कर दें। इसी प्रकार करते रहें और इनकी संख्या बढ़ाते रहें।

लाभ—इसके करने से छोटी-मोटी, नाड़ी तथा शिराओं की शुद्धि होकर, देह में सर्वत्र रक्त, प्राण, ज्ञान, क्रिया का यथावत् संचार होने लगता है। ध्यान की स्थिरता, तथा प्राण की सूक्ष्मता और दीर्घता हो जाती है। अंगों में स्फूर्ति, नासिका में सुगन्ध अनुभव होने लगती है। सूर्य और चन्द्र स्वरों के परिवर्तन की योग्यता हो जाती है—अभ्यासी इच्छानुसार स्वर बदल सकता है।

(२०) **सीत्कार-प्राणायाम**—योग-आसन से बैठकर, ऊपर-नीचे के दाँतों को जोड़कर, ओष्ठों को खोलकर गोल-सा करके, जीभ को भिंचे दाँतों के पृष्ठ-

भाग में सिकोड़कर रखें। पश्चात् संयुक्त दाँतों के छिद्रों में से प्राण वायु को खींच-कर पूरक करें और शीघ्र ही दोनों नासा-पुटों से रेचक कर दें। बारम्बार ऐसा करते रहें।

इसके लाभ—शीतली और सीत्कारी प्राणायामों के समान हैं। पित्त-प्रकृति वालों के लिए ग्रीष्मकाल में यह विशेष उपयोगी रहता है।

(२१) **दीर्घ श्वास-प्रश्वास-प्राणायाम**—अभ्यस्त आसन से बैठकर दोनों हाथों की हथेलियों को घुटनों पर रख कर, दोनों नथुनों से वेगपूर्वक लम्बा करके पूरक करें। बिना कुम्भक किये ही शीघ्रता से बलपूर्वक प्रश्वास को लम्बा करके रेचक कर दें। इसी प्रकार दोनों नथुनों से वेगपूर्वक शब्द करते हुए श्वास-प्रश्वास को लम्बे और ज़ोर से रेचक-पूरक करें और संख्या बढ़ाते जाएँ।

लाभ—इसकी आवृत्ति से नासिका, छाती, फेफड़े स्वच्छ होकर, आमाशय-पक्वाशय शुद्ध-बलिष्ठ होते हैं। पाचन-शक्ति, स्वास्थ्य, आयु में वृद्धि होती है। शरीर में बल और स्फूर्ति स्थिर रहती है। बाल, वृद्ध, युवक सबके लिए, सब ऋतुओं में अनुकूल रहता है।

(२२) **लघु श्वास-प्रश्वास-प्राणायाम**—सुखासन पर बैठकर दोनों हथेलियों को बद्धांजलि के रूप में सामने मिले पैरों (घुटनों) पर रखकर, श्वास को पहले स्तब्ध सा करें। पश्चात् दोनों नथुनों से प्राण को शनैः-शनैः, नासिका से १०-१२ अंगुल की दूरी तक रेचक करें। फिर बिना कुम्भक किए ही केवल हृदय तक ही पूरक करें। श्वास-प्रश्वास में शब्द मन्द-मन्द हो, एक श्वास-प्रश्वास में १४-१५ बार गति हो।

लाभ—शेष प्राणायामों के समान रक्त-फुफ्फुस शुद्धि तथा पुष्टि और प्राणवशित्व है।

(२३) **प्रच्छर्दन-प्राणायाम**—पद्मासन से बैठकर, समकाय होकर कोष्ठ (पेट वा उदर) में स्थित प्राणवायु को विशेष प्रयत्न से बलपूर्वक दोनों नासा-पुटों द्वारा वमन करने के समान एकदम बाहर फेंक दें। उस वमन-सदृश फेंकी वायु को वहीं रोक दें अर्थात् बाह्य-कुम्भक करें। योगसूत्रकार ने मन अथवा बुद्धि की स्थिति-सम्पादन करने के लिए इस प्राणायाम का लक्षण ऐसा किया है—

प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।—योग, १-३४

इस पर व्यास भाष्य है—**कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं प्राणायामः, ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्** । पेट में रहने वाली वायु को नासिका-पुटों के द्वारा प्रयत्न-विशेष से बाहर वमन करने के

समान फेंक दें और उसे बाहर ही रोक दें। प्रच्छर्दन का अर्थ है—वमन करना, और विधारण का अर्थ है—धारण करना। बाहर वा अन्दर ले जाकर रोकने को विधारण करते हैं। तब इसकी विधि इस प्रकार होती है कि—अन्दर की वायु को वेगपूर्वक वमन के समान बाहर फेंक दें और फिर पूरक करके विधारण करें, विधारण के पीछे कुम्भक हो जाता है। इस प्रकार रेचक, पूरक, कुम्भक—तीनों प्राणायाम साथ ही हो जाते हैं।

इसके लाभ हैं—मन की एकाग्रता-सम्पादन के लिए इसे मुख्यता दी गई है; तथा अन्य प्राणायामों द्वारा होने वाले शारीरिक लाभ भी होते हैं।

(२४) **अग्निप्रसारण-प्राणायाम**—सिद्धासन से सम-काय-ग्रीव होकर बैठें, दोनों हथेलियों को घुटनों पर रखकर दोनों नथुनों से उदर की वायु को नाभि से धक्का देकर, पेट को पिचकाते हुए शीघ्रता से रेचक करें; इसी प्रकार तुरन्त पूरक कर लें। पुनः-पुनः शीघ्रता से पूरक-रेचक करते हुए, पेट को फुलाते और पिचकाते हुए दोनों नथुनों का प्रयोग करते हुए इस विधि को न्यून से न्यून ५०-६० बार करें।

इसका विशेष लाभ है—पाचन शक्ति की वृद्धि होकर मन्दाग्नि का दूर हो जाना। बढ़े हुए पेट की चर्बी घट जाने से नौलि उठने लगती है तब उदर स्वतः पिचक जाता है। पेट को घटाने और नौलि-उत्थान के लिए यह प्राणायाम सर्वश्रेष्ठ है।

(२५) **चतुर्मुखी-प्राणायाम**—कमलासन से बैठकर समकाय होकर वाम-स्कन्ध की ओर मुख मोड़कर दोनों नथुनों से शीघ्रता से पूरक और रेचक करें, कुम्भक न करके रेचक करते समय प्रयत्न करें कि वाम-नथुने से ही बिना हाथ लगाये ही प्राण का रेचन हो। फिर दाएँ कन्धे की ओर मुख करके दोनों नथुनों से शीघ्रता से पूरक करें, पूर्वोक्त प्रकार से बिना हाथ लगाए ही दाएँ नथुने से रेचक करें। रेचक और पूरक करते हुए उच्च शब्द होना चाहिए। फिर मुख को नीचे कण्ठ-कूप की ओर करके दोनों नासा-पुटों से ज़ोर से पूरक करें और पुनः उसी अवस्था में दोनों नथुनों से रेचक करें। फिर मुख को ऊपर करके दृष्टि को आकाश की ओर रखते हुए पूरक-रेचक करें। इस प्रकार दक्षिण-वाम, ऊपर-नीचे को मुख करके रेचक-पूरक करते हुए १०-१५ बार इस प्राणायाम को करें। सुविधा अनुसार इसकी संख्या और समय बढ़ाते रहें।

इसके इतने लाभ हैं—कण्ठ की नाड़ियाँ पुष्ट तथा सबल, गर्दन स्वस्थ और दृढ़ होती है। प्राण बलवान् और मन शान्त होता है। इड़ा-पिंगला के स्वर शुद्ध हो जाते हैं।

(२६) **त्रिबन्धरेचक-प्राणायाम**—अभ्यस्त आसन से बैठें, तत्पश्चात् दाएँ हाथ के अँगूठे से दाएँ नथुने को दबाकर, नाभि से लेकर कण्ठ तक की समस्त वायु को शनैः-शनैः रेचक करें। अब मूलबन्ध, उड्डियान-बन्ध, और जालन्धर-बन्धों को दृढ़ता से लगाकर दोनों हथेलियों को घुटनों पर स्थापित करें, नेत्र-दृष्टि को नासाग्र पर रक्खें।

इसके लाभ हैं—यह प्राणायाम कुण्डलिनी-शक्ति को शीघ्र जाग्रत् करके सुषुम्णा-द्वार को भी खोल देता है। प्राणोत्थान के द्वारा होने वाले प्राण के—चींटियाँ रेंगने जैसे सुखद स्पर्श आदि की प्रतीति होने लगती है। प्राणोत्थान के द्वारा मेरुदण्ड में गमन करता हुआ प्राण, ब्रह्मरन्ध्र में जाकर ठोकर-सी लगाने लगता है। इस स्पर्श से साधक को अधिक आनन्द की अनुभूति होती है।

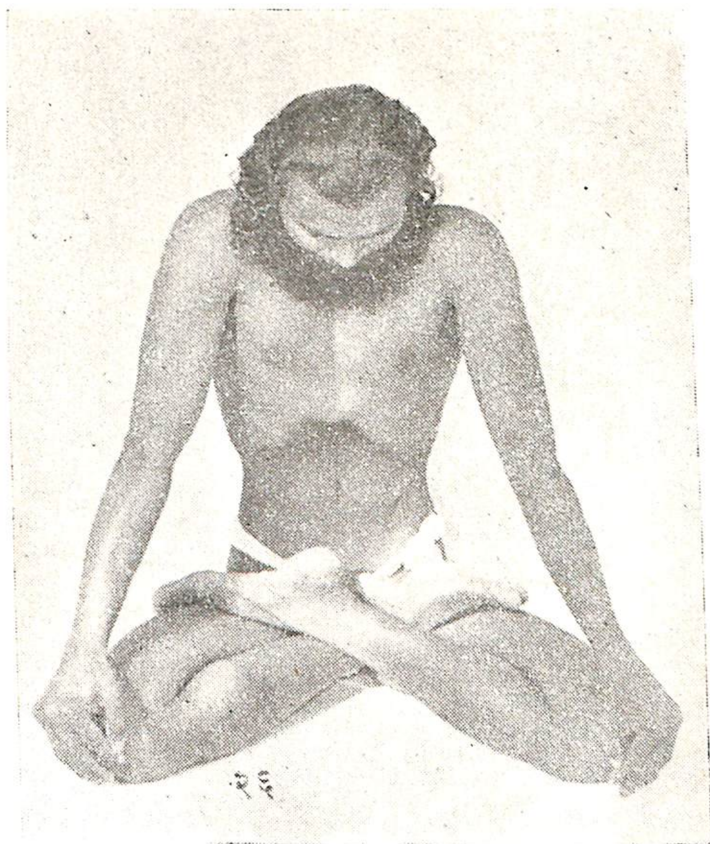
(२७) **त्रिबन्ध-कुम्भक प्राणायाम**—वज्रासन में सुखपूर्वक बैठकर, प्राण-वायु को जहाँ का तहाँ रोककर, तीनों बन्धों को लगाकर, दृढ़ता से कुम्भक कर लें। यथाशक्ति कुम्भक कर लेने के पश्चात् तीनों बन्ध खोलकर दोनों नथुनों से शनैः-शनैः पूरक कर दें। इसी को बार-बार दोहराएँ; और कुम्भक होने के स्थल में होने वाली गति पर ध्यान रक्खें।

इसके लाभ हैं—इसके अभ्यास से कुम्भक दीर्घ और सूक्ष्म होता है। प्राण की धारणा शक्ति, और ध्यान की स्थिरता बढ़ती है। प्राण के अवरोधित देश का ज्ञान होता है।

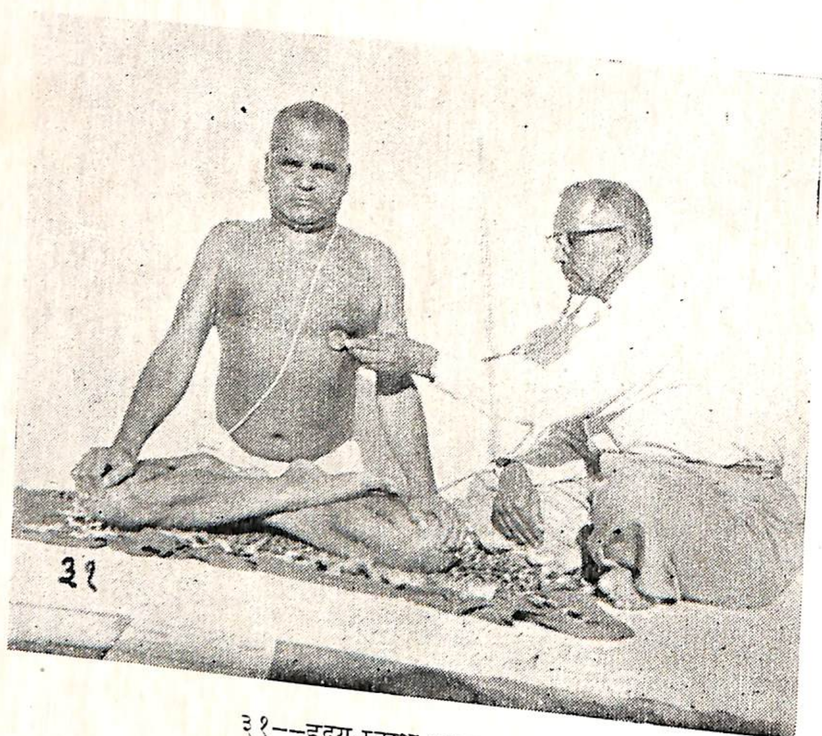
(२८) **चन्द्र-भेदन प्राणायाम**—मेरुदण्ड सीधा रखते हुए अभ्यस्त आसन से बैठकर, दाएँ हाथ के अँगूठे से दायाँ नथुना दबाकर, चन्द्र-नाड़ी (बाएँ नथुने) से शब्द करते हुए श्वास भरें—पूरक करें। कण्ठ, फुफ्फुस, उदर में भरे वायु का कुम्भक करें। यथा-साध्य कुम्भक के पश्चात् प्रश्वास को सूर्य-नाड़ी (वाम नथुने) से शनैः-शनैः रेचन करें। इसे यथेच्छ दोहराते रहें।

इसके लाभ ये हैं—इससे बढ़ा पित्त शान्त होकर देह की बढ़ी उष्णता का शमन होता है, खट्टे-उद्गारों (डकारों) तथा श्रम (थकावट) का उपशमन भी होता है। इस चन्द्र-भेदी प्राणायाम का, सूर्य-भेदी से सर्वथा उल्टा प्रभाव होता है; अतः पित्त-प्रधान प्रकृति वाले को ग्रीष्मकाल में इसका अभ्यास करने से पित्त शान्त रहता है। यदि वाम नासा-पुट जुकाम आदि के कारण बन्द हो तो दाईं करवट लेटकर चन्द्र-स्वर चला लें और इसे करें। चलते स्वर का ज्ञान सुगमता से होने लगता है।

(२९) **ऊर्ध्वमुख-भस्त्रिका प्राणायाम**—समकाय-ग्रीव होकर वज्रासन



२६—त्रिबन्धरेचक-प्राणायाम



३१—हृदय-स्तम्भ-प्राणायाम

से बैठकर दोनों हथेलियों को घुटनों पर जमा लें। मुख ऊपर को करके नेत्र-दृष्टि आकाश में स्थिर करके दोनों नथुनों से बलपूर्वक, वेग से क्रमशः रेचक-पूरक करें, ये श्वास-प्रश्वास दीर्घ लम्बे-लम्बे हों। इस प्रकार १०-१२ बार शीघ्रता से रेचक-पूरक करके कण्ठ से उदर तक प्राणवायु को पूर्ण करके कुम्भक करें और जालन्धर बन्ध लगा दें। यथा-सामर्थ्य कुम्भक कर लेने के पश्चात् जालन्धर बन्ध खोलकर दोनों नथुनों से शीघ्रतापूर्वक रेचक कर दें। पूर्वोक्त समस्त-विधि को यथाशक्ति दोहराते रहें।

इसके इतने लाभ हैं—पाचनशक्ति की प्रबलता से आरोग्यता बनी रहती है, प्राणबल की वृद्धि, प्राण शुद्धि, प्राण-मन की शान्ति, देह-ऊष्मा की वृद्धि होती है। शीत की निवृत्ति करने वाले गुण के कारण इसे शीतकाल में करना उपयुक्त रहता है। शेष गुण भस्त्रिका के समान हैं। आहार में स्निग्धता उतनी रक्खें जिससे शुष्कता न हो।

(३०) **षण्मुखी-रेचक प्राणायाम**—स्वस्तिकासन से बैठकर, दक्षिण नासा-पुट को दबाकर, देह में भरी, मूलाधार से लेकर कण्ठगत वायु को वाम नथुने से बाहर निकाल दें। पश्चात् हाथों के दोनों अँगूठों से दोनों कर्ण-छिद्र, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, मध्यमा अँगुलियों से दोनों नासा-छिद्रों को, और अनामिका तथा कनिष्ठा से दोनों ओष्ठों को बन्द करके, जालन्धर बन्ध लगाकर, यथा-सामर्थ्य प्राण को बाहर ही रोककर भ्रूमध्य में ध्यान स्थिर करें। यथा-साध्य बाह्य-कुम्भक कर-लेने के पीछे जब श्वास लेने की इच्छा हो तब वामहस्त की मध्यमा-अँगुलि कुछ उठाकर धीरे से पूरक कर लें। फिर बिना कुम्भक किए इसी ओर से शीघ्रता से रेचक करें और बाह्य-कुम्भक साधें। इस भाँति दाईं-बाईं ओर से यथेच्छ करते रहें।

इसका विशेष लाभ यह है कि—इसके अभ्यास से 'दिव्य-चक्षु' शीघ्र खुल जाता है। दिव्य-ज्योति प्रकट हो जाती है। फलतः मन शान्त होकर शीघ्र समाहित होने लगता है।

(३१) **हृदय-स्तम्भ प्राणायाम**—मेरुदण्ड, छाती, ग्रीवा को सीधा रखते हुए स्वस्तिक-आसन से बैठ जायँ, पश्चात् दक्षिण-नथुने को तर्जनी से दबाकर बाएँ नथुने से पूरक करके श्वास से फुफ्फुस को भर दें। अब कुम्भक करके अन्तर्गत प्राणवायु के दबाव से हृदय को स्तब्ध करने का प्रयत्न करें। ऐसा तभी हो सकेगा जब प्राण को इतना भर लिया जाय कि छाती, मशक के समान प्राणवायु से फूलकर, हृदय को स्तब्ध करने लगे; फिर संकल्प-बल से प्राण के दबाव को बढ़ाकर हृदय-स्तम्भन का अभ्यास करें। ध्यान रहे प्राणवायु कण्ठगत-महाछिद्र के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र की ओर

न जाने पाए अन्यथा तुरत मूर्च्छा आ जायगी। सावधान होकर प्राण को फुप्फुसों में ही रखने का प्रयत्न करें। इस प्रक्रिया के निरन्तर अभ्यास से हृदय की गति घटते-घटते रुकने-सी लगती है और अन्त में यत्न-पूर्वक देखने पर भी हृदय की गति प्रतीत नहीं होती। अभ्यास काल में यदि कभी चक्कर अथवा मूर्च्छा आने लगे तो तत्काल प्राण को रेचक द्वारा बाहर फेंक दें। यदि कभी किसी साधक को असावधानी से मूर्च्छा आ भी जाय तो निकट उपस्थित-शिक्षक आदि को उचित है कि वे साधक के कानों को मलकर हिलाएँ-डुलाएँ, मुख पर शीतल जल के छींटे दें। यदि फिर भी मूर्च्छा न खुले तो दो-एक चाँटे लगाकर कर्ण में कुछ उच्चस्वर से 'सावधान' होने का आदेश दें, मूर्च्छा दूर हो जायगी। मूर्च्छा से पूर्व नेत्र विकृत-से होकर पलटने लगते हैं, मुख से ऐं-ऐं का शब्द निकलने लगता है और अभ्यासी आसन से गिर जाता है अथवा आगे की ओर झुककर शिर भूमि पर टिक जाता है या बार-बार टकराने लगता है। अभ्यासी सदा सावधानी बरतें कि शीघ्रता से हृदयावरोध का प्रयत्न न करें तथा प्राण को कण्ठ से ऊपर भी गमन न करने दें। यदि प्राण कण्ठ से ऊपर की ओर बढ़ने लगे तो तुरन्त रेचक कर दें, नासिका वा मुख से। उतावला-पन वा शीघ्रकारिता से, हृदय पर अति दबाव पड़कर, हृदय के फट जाने तथा फुप्फुसों को हानि पहुँच जाने की सम्भावना भी हो सकती है। साधना की प्रथमा-वस्था में मैं इस प्राणायाम को करते समय टाइमपीस सामने रखकर, पाँच-पाँच सेकण्ड नित्यप्रति समय को बढ़ाया करता था। एक दिन मुझे सामने रखी घड़ी का ध्यान नहीं रहा और नेत्र मुँदने से लगे और प्राण ने अतिवेग से धक्का दिया। मुझे अनुभव हुआ कि मैं पृथिवी से ऊपर उठ गया हूँ। परन्तु मैं कितना ऊपर उठ गया हूँ इसका कुछ भान न हुआ और मैं उछलकर गिर पड़ा। दो ढाई घंटे तक मूर्च्छा में, अपनी कुटिया में अकेला पड़ा रहा, उठने पर बहते हुए रक्त को देखकर पता लगा कि शिर में पर्याप्त घाव हो गया है। इसलिए इस प्राणायाम का अभ्यास करते समय अभ्यासी के साथ दूसरा व्यक्ति अवश्य साथ में होना चाहिए जो ऐसे अवसर पर सम्भाल सके। एक दीर्घकाल के अभ्यास के पीछे मुझे हृदय स्तब्ध करने का अभ्यास हो गया था, परन्तु उसी काल में पुनः एक दिन ५ सेकण्ड को देखना भूल गया और प्राण अत्यधिक समय तक रुक जाने के कारण प्राण के प्रबल वेग ने मुझे गिरा दिया। जब मैं उठा तो ज्ञात हुआ कि साढ़े तीन घण्टे मैं इसी अज्ञात अवस्था (मूर्च्छा वा समाधि) में पड़ा रहा हूँ। मुझसे सीखने वाले साधक भी सीखते हुए जब मूर्च्छित होने लगते हैं, मैं सम्भाल लेता हूँ।

इसके लाभ हैं—इस प्राणायाम को सँभल कर करने से शून्य वा जड़ समाधि

का लाभ होता है; परन्तु ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है—ध्येय पदार्थ की भी स्मृति नहीं रहती। प्राण बलवान् तथा अधिकार में भी हो जाता है; प्राण के स्तब्ध-से हो जाने से रक्तवाहिनी-नाड़ियों के रक्त का संचार कुछ देर के लिए रुक जाता है, उस समय छाती अति कठोर और मुखमण्डल अति-रक्ताभ हो जाते हैं—मानो त्वचा को फाड़कर रक्त बाहर बहना चाहता है। इससे क्षुधा बढ़ती है, रक्त शुद्ध होता है, मन भी स्तब्ध-सा होने लगता है। पुनः स्मरण कराया जाता है, इस प्राणायाम के सिद्ध करने में कदापि शीघ्रता न बरत कर मन्द चाल से चलें। आहार स्वल्प और स्निग्ध ही करें। दो-चार दिन के पीछे दो-दो सेकण्ड कुम्भक को बढ़ाते रहें, तब यह दीर्घ और सूक्ष्म होकर 'यथेच्छ' रुकने लगेगा।

(३२) **यन्त्रगमन-प्राणायाम**—किसी अभ्यस्त आसन से बैठकर, दक्षिण-हाथ की शेष अँगुलियों को आधा मोड़कर, मध्यमा और अनामिका अँगुलियों से वाम-नथुने को दबाकर, कोहनी को कन्धे के बराबर उठा लें। अब दाएँ-नासापुट से शीघ्रता से इस प्रकार रेचक-पूरक करें जैसे धूम्रयान (रेलगाड़ी) का इंजिन पहले छक-छक शब्द करता है; शब्द उसी प्रकार होना चाहिए। रेचक के समय प्रश्वास को प्रथम लम्बा करके धकेलकर, फिर छोटा करते जायँ। किसी शिक्षक से सीख लेने पर यह सरलता से बुद्धिगत हो जायगा। इसे बाएँ-दाएँ नथुनों से बदलते हुए करें।

इसके लाभ हैं—छाती, फुफ्फुसों की दृढ़ता, जठराग्नि की वृद्धि, रक्त की शुद्धि, शरीर का स्वस्थ होना। प्राण पर वशित्व होने से इन्द्रिय तथा मन पर भी अधिकार हो जाता है। विशेष रूप से फुफ्फुसों में जमा हुआ कफ शीघ्रता से निकल जाता है।

(३३) **वामरेचक-प्राणायाम**—सुखासन से बैठकर वाम-नासाछिद्र से रेचक करें, फिर उदर को सिकोड़कर उड्डियान करके, वाम पार्श्व की अँतड़ियों को उठाकर नौलि करें जोकि उदर के वामभाग में बेलनाकार खड़ी हो जाय। यह हिलने-डुलने न पाये, ऐसी सावधानी से कुछ देर बाह्यकुम्भक करके छोड़ दें। इसी प्रकार इस का बार-बार अभ्यास करें। इसमें रेचक और बाह्यकुम्भक ही किया जाता है।

यह प्राणायाम उदर की स्थूलता को घटा कर पतला बनाता, अँतड़ियों को निर्विकार रखता है।

(३४) **दक्षिणरेचक-प्राणायाम**—यह ३३वें प्राणायाम से उल्टा है। सुखासन से बैठकर वाम-नासापुट को दबाकर, दक्षिण-नथुने से रेचक द्वारा अन्तः वायु को शीघ्रता से फेंककर (वमन करके), उड्डियान लगाकर दक्षिण पार्श्व की आँतों

को दण्डाकार में उठाकर खड़ा करें—बाह्यकुम्भक रखते हुए यथाशक्ति खड़ा रख-कर छोड़ दें और इसे दोहराते रहें।

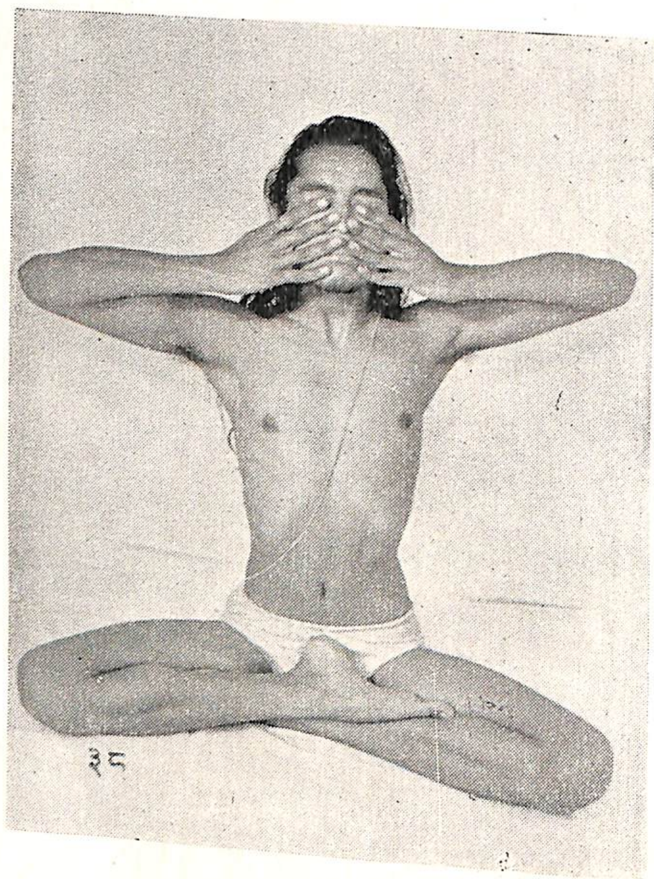
पूर्वोक्त लाभ के साथ यह मलबद्धता, कब्ज को दूर करता है।

(३५) **मुखप्रसारण पूरक-कुम्भक प्राणायाम**—अभ्यस्त आसन से सुख-पूर्वक बैठकर वाम-नथुने से, कई श्वास-प्रश्वास का एक दीर्घ-लम्बा पूरक करके मूलाधार से आकण्ठ इतना प्राणवायु भर दें कि कहीं पर भी शरीर में रिक्त स्थान न रहने पाये। फिर कुम्भक करके कण्ठ की नाड़ियों को इस प्रकार संकुचित कर दें कि अन्दर का प्राणवायु यत्किंचित् भी बाहर न निकल सके, और मुख को खोल दें। मुख खोल देने पर भी कुम्भक यथापूर्व रहे—ऐसा यत्न करते हुए यथाशक्ति कुम्भक रक्खें। घबराहट होने पर मुख बन्द करके दक्षिण-नासापथ से शनैः-शनैः रेचक कर दें। इस क्रम को पुनः-पुनः दोहराएँ।

विशेष लाभ इससे फुफ्फुसों, कण्ठ तथा मस्तिष्क को होता है। इन स्थानों में होने वाले कफ के विकार दूर होते हैं; श्वास-प्रश्वास लेने में अति सरलता रहती है।

(३६) **कण्ठवात-उदरपूरक प्राणायाम**—सिद्धासन से बैठकर दोनों हथे-लियों को दोनों घुटनों पर स्थापित करके, कण्ठ और बन्द हुए मुख में शब्द उत्पन्न करते हुए, वायु को भी उत्पन्न करें और इस वायु का पान कर लें।—वायु की घूँट भर-भरकर अन्दर उदर में धकेलते जायँ। नाक के खुले होने पर भी यह वायु बाहर की नहीं होती है, किन्तु कण्ठ और मुख में उत्पन्न करके बार-बार पान की जाती है। इसी क्रिया को पुनः-पुनः दोहराते हुए, प्रथम दिन १५-२० बार करें। आगे नित्य-प्रति इसकी संख्या में ४-५ की वृद्धि करते चलें। कुछ दिनों के अभ्यास से उदर, वायु से पूर्ण हो जाया करेगा। आधे घण्टे का अभ्यास हो जाने पर, वायु से भरकर उदर जलभरी मशक के समान फूलकर भारी हो जाता है; जैसे अफरने से उदर फूलकर भारी पड़ जाता है। इस स्थिति को दूर करने के लिए कई मिनट तक 'मयूरासन' करके 'शीर्षासन' करना होता है; अथवा 'मयूरासन' और 'सर्वाङ्ग आसन'। वह भी कई बार। फिर भी यह वायु, 'अपान वायु' के रूप में गुद-द्वार से निकला करता है और एक घण्टे के लगभग समय पूर्वावस्था आने में लग जाता है।

इसका मुख्य लाभ यह है कि—भूख-प्यास का अभाव होकर कई दिनों तक निराहार रहकर ध्यानाभ्यास-समाधि में बैठा जा सकता है। शेष लाभ अन्य आसनों के समान हैं। इसका अभ्यास मैंने युवावस्था में करके देखा था कि बिना समाधिस्थ रहे मैंने चार दिन निराहार रह कर बिता दिए थे। मुख में जब शुष्कता आती थी



३८—सर्वद्वारबद्ध-प्राणायाम

तब जल की कुल्लियाँ कर लेता था, भोजन की रुचि ही नहीं होती थी। जिसके आधार पर प्राचीन ऋषि-मुनि एक दीर्घकाल तक बिना आहार के जीवित एवं समाधिस्थ रहते थे, वह 'वायुपान' की यही क्रिया है। संकल्प-विकल्पों के अभाव के साथ यह प्राणायाम दीर्घायु भी बनाता है।

(३७) **प्रणव-ध्वन्यात्मक प्राणायाम**—यथाविधि बैठकर अथवा कमलासनस्थ होकर, पूरक द्वारा मूलाधार तक प्राणवायु को भर दें। तत्पश्चात् ओष्ठों को थोड़ा-सा खोलकर ॐ की गुँजायमान सुरीली मधुर झनकार युक्त लम्बे प्रश्वास को एकतानतापूर्वक शनैः-शनैः रेचन करें। मुख से होती हुई इस ध्वनि में निमग्न होकर नेत्र बन्द कर लें। नित्यप्रति इस ध्वनि को सुनते हुए प्राणायाम की संख्या में वृद्धि करते जायँ। ध्वनि-पूर्वक जप के साथ प्राणायाम में ऐसा नियम रहता है—४० सेकण्ड तक 'ओ' तथा २० सेकण्ड तक 'म्' की ध्वनि की जाती है। इसी काल-क्रम से प्राणायाम में वृद्धि करते जायँ।

लाभों में प्रथम लाभ है—घण्टों तक इस नाद में निमग्न रहकर संसार की विस्मृति हो जाती है। ऋषिकेश-निवासी स्वामी शान्तानन्द जी को, गङ्गा के तीर पर घण्टों ही इस आनन्दमयी अवस्था में मैंने देखा है। ध्वनि-साधना के समय एक ही कुम्भक में कई-कई मिनट तक होता हुआ यह निनाद सुनने में आया था। प्रणव में अगाध निष्ठा रखने वाले ये महात्मा वीरभद्र की ओर गङ्गातट पर प्रायः मौन अवस्था में विचरण किया करते थे। इस लाभ के साथ—श्वास-प्रश्वास का दीर्घ तथा सूक्ष्म होना, मन का शान्त, बुद्धि और चित्त का स्थिर होना; भगवान् के प्रति श्रद्धा-भक्ति की प्रबलता तथा विषयों से वैराग्य होना, प्रणव-जप में निमग्नता का होना, वाणी में मधुरता आना, ध्यान की स्थिरता तथा आयु का दीर्घ होना आदि लाभ भी होते हैं। इसके निरन्तर अभ्यास से 'प्रणव-ध्वनि' स्वतः होकर दिन-रात बनी रहती है। तथा चिणि, चिण-चिणि, घण्टा, शंख, तन्त्री, ताल, वेणु, मृदङ्ग, भेरी, मेघगर्जन के अनाहत-नाद भी सुनाई देने लगते हैं। इनमें निमग्न होकर, मन निश्चल होकर समाधि में सहायक बनता है।

(३८) **सर्वद्वारबद्ध प्राणायाम**—पद्मासन पर सीधे बैठकर, दोनों ही नथुनों से मूलाधार से लेकर आकण्ठ प्राणवायु को भर दें; और कुम्भक करके दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कान, तर्जनियों से दोनों नेत्र, मध्यमाओं से दोनों नथुनों को, और अनामिका तथा कनिष्ठिकाओं से ओष्ठों को बन्द कर लें। ध्यान को भ्रूमध्य में स्थिर करें। यथाशक्ति कुम्भक रखकर नासिका से अँगुलियों को हटाकर रेचक करें। इस अभ्यास को करते हुए नित्यप्रति बढ़ाते जायँ।

इसका मुख्य लाभ है—भृकुटि में ज्योति का शीघ्र उत्पन्न होना। कुम्भक के समय भ्रूमध्य में ध्यान करते समय कई रंगों की ज्योतियाँ प्रकट होने लगती हैं। यह दिव्य-ज्योति आन्तरिक ज्ञान-विज्ञान को कराने में परम सहायक होती है। इसकी उत्पत्ति से साधक की योग में श्रद्धा और निष्ठा दृढ़ हो जाती है, मन की चंचलता मिटती है, ब्रह्मरन्ध्र-प्रवेश का द्वार खुल जाता है।

(३९) **कपालभाति प्राणायाम**—इस प्राणायाम का उल्लेख षट्कर्म तथा मुद्राओं के प्रकरण में भी किया गया है। प्राणायाम की दृष्टि से इसकी दो विधियों का निरूपण यहाँ पर करते हैं :–

१—भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोष-विशोषिणी॥—हठयोग २-३५

सिद्धासन से बैठकर लोहार की धौंकनी के समान दोनों नासा-छिद्रों से शीघ्र-शीघ्र रेचक-पूरक करने से यह कपालभाति प्राणायाम बनता है। इससे सब प्रकार के कफदोष दूर हो जाते हैं। तथा

२—इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत् पिङ्गलां पुनः।
पूरयेद्वा पिङ्गलया पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्॥—घेरण्ड० उप०, १-५७

वाम नासा-छिद्र से शनैः-शनैः पूरक तथा दक्षिण से शनैः शनैः रेचक करें; अथवा दक्षिण नथुने से शनैः शनैः पूरक कर तथा वाम ओर से रेचन कर दें। इसे क्रमशः बढ़ाते रहें।

इसके लाभ हैं—फुफ्फुसों की शुद्धि, कफ की निवृत्ति, देह में आरोग्यता रखकर आयु-शक्ति की वृद्धि करना, प्राण को दीर्घ-सूक्ष्म बना देना।

(४०) **मुखपूरक-कुम्भक प्राणायाम**—कमलासन से बैठकर, केवल हृदय तक दाएँ नथुने से पूरक करें जिससे कपोल (गाल), कण्ठ और छाती पूर्णतया भर-कर फूल उठें। अब दोनों नासापुटों को दबाकर यथाशक्ति कुम्भक रखकर वाम-नासापुट से शनैः शनैः रेचक करें। इस प्रक्रिया को दोहराते हुए नित्यप्रति बढ़ाते चलें।

इसके लाभ ये हैं—इसके अभ्यास से नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय उपप्राण बलिष्ठ होते हैं; कण्ठ के दोष निवृत्त होकर कण्ठ-नाड़ियाँ बलिष्ठ होती हैं, कफ निवृत्ति से दाँत-दाढ़ें दृढ़ होती हैं, उष्णता की वृद्धि से शिर-छाती-गर्दन-नेत्रों के कफदोष शान्त रहते हैं, इन्द्रियाँ, मन, प्राण शान्त तथा शीघ्र निरुद्ध हो ज़ाते हैं।

(४१) **एकाङ्ग-स्तम्भ प्राणायाम**—खड़े होकर अथवा लेटकर किसी भी

नथुने से प्राणवायु को भरकर, ग्रीवा-हस्त-बाहु-ऊरु और पैरों तक ले जाने का प्रयत्न करें; और संकल्प करें कि मेरे ये समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग दृढ़-पुष्ट हो रहे हैं। शनैः शनैः पूरक तब तक करते रहें जब तक इच्छित अङ्ग इच्छानुसार इतना दृढ़ हो जाय कि किसी के मोड़ने से न मुड़े-तुड़े; एक-दो-तीन व्यक्ति भी मोड़ने में सफल न हो सकें तब तक इसका अभ्यास करते रहें। अनुभव ने बताया कि ऐसा हो सकता है कि कई व्यक्ति मिलकर भी बाहु, टाँगें आदि मोड़ नहीं सकते—यदि यह प्राणायाम सिद्ध हो जाय।

स्पष्ट है इसके अभ्यास से—अङ्ग-प्रत्यङ्ग सहित समस्त देह सुडौल, पुष्ट, सुन्दर हो उठ जाता है; प्राण पर अधिकार हो जाने से द्वन्द्वों का सहन, इन्द्रिय-मन पर भी वशित्व की प्राप्ति होती है; वृषभ, अश्व, मोटर आदि यानों को रोकने की सामर्थ्य हो जाती है; शरीर कान्तिमान्, सतेज और स्फूर्तिमय हो जाता है।

(४२) **सर्वाङ्ग-स्तम्भ प्राणायाम**—पद्मासन अथवा शवासन में स्थित हो कर श्वास में दीर्घता लाकर दोनों नथुनों से प्राणवायु को शिखा से लेकर पाद-नख पर्यन्त इस प्रकार भर दें कि देह में कहीं रिक्त स्थान न रहे; फिर कुम्भक कर लें। संकल्प-बल से सब अङ्गों को ऐसा स्तब्ध करने का प्रयत्न करें कि शरीर को कोई व्यक्ति उठाकर, मध्य में बिना टेक दिए, शिर-पैर-मात्र पर कहीं टिका दे तो शरीर से चिपटी बाहु और फैली टाँगें इसी के साथ जुड़ी रहें—मानों न मुड़ने-तुड़ने वाला काठ का बना शरीर है। पैरों को पकड़कर खड़ा करने पर, बिना कमर-ग्रीवा झुके खड़ा हो जाय, शिर की ओर से उठाने पर भी ग्रीवा-कटि-टाँगें मुड़ें नहीं और सीधा खड़ा हो जाय; सारांश यह कि किसी भी सन्धि से कोई अङ्ग स्वतः न मुड़े। इसकी सिद्धि में दीर्घ काल लगता है।

इसके लाभ हैं—प्राण-देह पर पूर्ण अधिकार हो जाने से, सरोवर-नदी-समुद्र पर घण्टों काष्ठवत् तैरा जा सकता है; डूबने का भय नहीं रहता। इन ४१-४२ वें प्राणायामों से अतिबल की प्राप्ति होती है, परन्तु इन्हें बलिष्ठ संकल्प वाला ही कर सकता है।

(४३) **वायवीय-कुम्भक प्राणायाम**—पद्मासन से बैठकर ग्रीवा-कटि को सीधा रखते हुए दोनों हथेलियाँ घुटनों पर रखकर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर कर दें; दोनों नथुनों से दीर्घता लिये हुए २५ बार रेचक-पूरक शीघ्रतापूर्वक करें। पश्चात् अन्तःप्राण का पूर्णतया रेचन करके मूल, उड्डियान, जालन्धर तीनों बन्ध लगाकर, यथाशक्ति बाह्य कुम्भक रक्खें; घबराहट होने पर वेगपूर्वक दोनों नथुनों से पूरक करके उड्डियान छोड़कर अन्तः कुम्भक कर लें, और घबराहट होने पर दोनों नथुनों

से वमनवत् रेचक कर दें। इस प्रकार यह एक प्राणायाम होता है; यथाशक्ति संख्या बढ़ा लें।

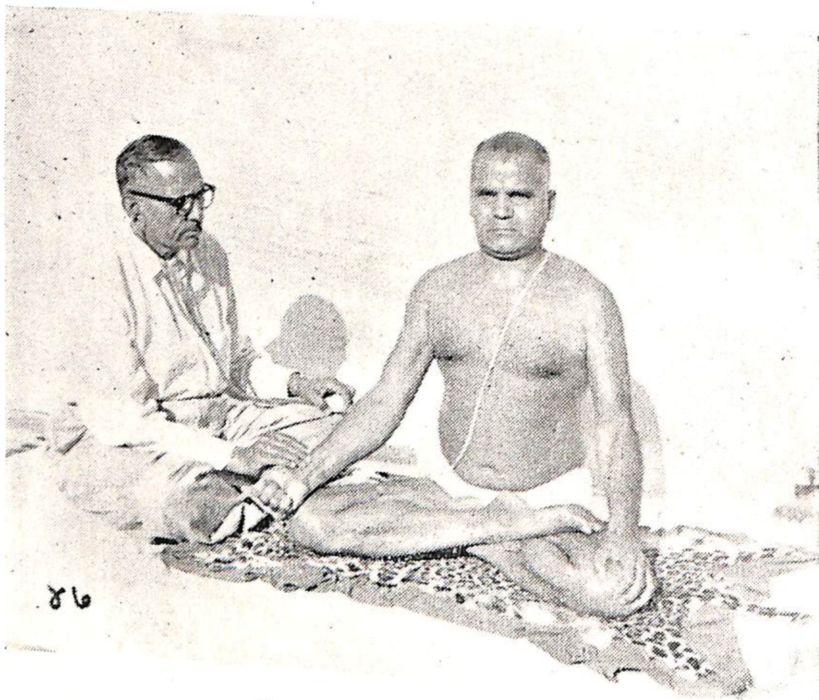
इसके इतने लाभ हैं—इसके अभ्यास से कुपित वात-कफ शान्त होते हैं, मेद छँटकर काया कृश होती है, शरीर सुडौल-बलिष्ठ, सुन्दर-यौवन प्राप्त हो जाता है; वर्षों पुराना-बिगड़ा जुकाम जाता रहता है, कण्ठ-फुफ्फुस-नासिका में चिपका कफ निवृत्त हो जाता है, प्राण को मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र की ओर इच्छापूर्वक गमन कराने की शक्ति आ जाने से कुण्डलिनी-जागरण में सहायता मिलती है।

(४४) **सूक्ष्म-श्वास-प्रश्वास प्राणायाम**—सुखासन से सीधे होकर बैठें; एक फुट लगभग दूरी पर तिपाई रखकर, उसपर थोड़ी-सी रुई नासिका के सामने रख लें। सामान्य रेचन करके देखें कि प्रश्वास से रुई हिलती है या नहीं (यह क्रिया निर्वात स्थान में करें)। प्रश्वास की जितनी लम्बाई से यह हिले, ५-७ दिन तक उसी दूरी पर रुई रखकर रेचन करें, उससे अधिक वेग से न करें; अब रुई को २ इंच अपनी ओर बढ़ा लें और रेचक को इतना लघु कर दें कि अब भी रुई हिले ही, उड़े नहीं। इसी प्रकार अभ्यास करते हुए इस स्थिति में आ जायँ कि नथुने से लगी रुई प्रश्वास-रेचन से स्थिर पड़ी रहे—हिले नहीं। इसके अभ्यास काल में लघु और स्वल्प आहार रखें। ध्यान रेचक-पूरक की दीर्घता-सूक्ष्मता-लघुता-ह्रस्वता बनाने में रहे, और देश, काल, संख्या में लगा मन अन्यत्र न जाय।

इसका विशेष लाभ है—प्राण की गति का सूक्ष्म-ह्रस्व होकर अभाव-सा हो जाना। इससे समाहित होने में अति सहायता मिलती है। प्राण-प्रत्यक्ष के साथ ध्यान की स्थिरता होती है।

(४५) **प्राणापान-संयुक्त प्राणायाम**—सिद्धासन से बैठकर, दोनों नथुनों से नाभि तक यथाशक्ति पूरक करके, जालन्धर बन्ध लगाकर कुम्भक कर लें; तत्पश्चात् मूलाधार से अपानवायु का उत्थान करके, नाभि में लाकर प्राण के साथ मिलाकर, दृढ़ता से मूलबन्ध लगा दें—गुदा का संकोच कर दें। प्राण-अपान को मिलाते समय उड्डियान का प्रयोग कर लें। दोनों के परस्पर संयोग से एक प्रकार का तेज प्रकट होने लगता है जो शरीर को देदीप्यमान-सा कर देता है; इस अवसर पर प्राणापान की गति को सम करने का प्रयत्न करते रहें; यत्नपूर्वक रोककर, पश्चात् रेचक कर दें। नित्य इस अभ्यास को बढ़ाते रहें।

इसका लाभ है—प्राण-अपान की समता करने में उत्पन्न संघर्ष से प्रकट हुआ तेज शरीर को दिव्य और तेजस्वी बना देता है; प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी-जागरण भी शीघ्र हो जाता है और इसकी प्रत्यक्षानुभूति भी यथासमय होने



४७--नाड़ी अवरोध-प्राणायाम

लगती है ।

(४६) **बाह्याभ्यन्तर-कुम्भक प्राणायाम**—स्वस्तिक आसन से बैठें । दक्षिण नथुने को बन्द करके वाम-नासा-पुट से शनैः-शनैः लम्बा पूरक करके मूलाधार तक प्राणवायु को भर दें । अब कुम्भक करके मूल बन्ध तथा जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक रखकर, दाएँ नथुने से रेचक करके बाह्य-कुम्भक करें । यथा-सम्भव बाह्य-कुम्भक रखने के पश्चात् पुनः वाम-नासा-पुट से पूरक, फिर कुम्भक और दायें से रेचक करें । इन बाह्य तथा आभ्यन्तर कुम्भकों के समय जालन्धर और मूल बन्ध अवश्य लगे रहें । इसी प्रकार दोनों कुम्भकों का अनुलोम-विलोम क्रम से अभ्यास करें । इसे **सहित-कुम्भक** भी कहते हैं ।

लाभ—इससे कुम्भक की मात्रा बढ़ती है, रेचक-पूरक दीर्घकाल तक होने लगते हैं, प्राण-निरोध बढ़ जाता है, अनेक श्वास-प्रश्वासों का एक श्वास बन जाता है और मनुष्य-साधक दीर्घायु हो जाता है । अन्य प्राणायामों से होने वाले लाभों के समान इससे भी लाभ होते हैं ।

(४७) **नाड़ी-अवरोध प्राणायाम**—पद्मासन से यथावत् बैठकर, दाएँ नथुने को बन्द करके वाम नथुने से पूरक करके प्राणवायु को मूलाधार तक यथाशक्ति भर दें । मुट्ठियों को बाँधकर दोनों घुटनों पर स्थापित कर दें । अब पूरक की हुई वायु को वक्षस्थल की ओर, यहाँ से दक्षिण बाहु की ओर संकल्प-बल से (आन्तरिक क्रिया द्वारा) प्रसारित करें—जब तक कि बाहु फूलकर कठिन और नाड़ी स्तब्ध न होने लगे, यह प्रयत्न करते रहें । पश्चात् कुम्भक करके नाड़ी को पूर्णरूप से स्तब्ध करने का प्रयास करें । जब तक नाड़ी पूर्णतया स्तब्ध न हो जाय, छोटे-छोटे पूरक तथा कुम्भक कर-करके अन्तःप्राण को बाहु में भेजते रहें । प्राणवायु के पूर्णतया बाहु में भर जाने पर, रक्त-संचार के रुक जाने से अन्त में नाड़ी स्तब्ध होकर लुप्त-प्राय हो जाती है । कुछ काल के अभ्यास से प्राण को बाहु में केन्द्रित करने की विधि समझ में आ जाती है । इस प्राणायाम को खड़े होकर भी किया जा सकता है । प्रदर्शन के लिए प्राण को प्रथम बाहु में भरा जाता है, शेष शरीर पूर्वस्थिति में जैसा का तैसा बना रहता है । कई बार रक्त-प्रवाह कुछ देर के लिए इतना रुक जाता है कि बाहु नीला, काला-सा पड़ जाता है ।

लाभ—प्राण पर इतना अधिकार हो जाता है कि इसे शरीर के किसी भाग में एकत्रित करके उसे इतना बलिष्ठ कर सकते हैं जो असाधारण कार्य-- कठिनतर कार्य करके भी न थकना, अत्यधिक भार उठा लेना, अति साहस के कार्य करके जनता को चकित कर देना, शेष गुण एकाङ्ग-स्तम्भ के समान हैं । दूसरे बाहु पर

भी ऐसा अभ्यास कर सकते हैं।

(४८) **सप्तव्याहृति प्राणायाम**—वीरासन से बैठकर दोनों नथुनों से शनैः-शनैः पूरक करते हुए एक बार सातों व्याहृतियों का मानसिक जप करें। अब कुम्भक इतनी देर तक करें जिसमें चार बार सप्तव्याहृतियों का जप हो जाय, और रेचक में इतना समय लगाएँ कि दो बार इन व्याहृतियों का जप हो सके। इस क्रम से एक प्राणायाम में सात बार सप्तव्याहृतियों का जप हो जाता है। इस क्रम में वृद्धि करते चलें। ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यम्——ये सप्त व्याहृतियाँ हैं।

लाभ—मन की चपलता शान्त होकर, धारणा, ध्यान, समाधि में मन लीन होने लगता है। मन की स्थिति बँधने लगती है, फलतः समाधि शीघ्र लगने लगती है। मन, बुद्धि की एकाग्रता सम्पादन के लिए यह उपयोगी है।

(४९) **उरस्थल-शुद्धि प्राणायाम**—पद्मासन से बैठकर दोनों नथुनों से पूरक करके, दक्षिण-नासापुट को दबाकर वाम छिद्र से धक्का देकर प्रश्वास को रेचक कर दें। पुनः दोनों नथुनों से पूरक करके दक्षिण-नथुने से धक्का देकर रेचन करें। शीघ्रता से अदल-बदल कर प्रश्वास को धक्के के साथ छोड़ते रहें।

लाभ—नासिका, कण्ठ, फुफ्फुसों में जमा कफ द्रवित हो-होकर निकलने लगता है जिससे ये स्थान शुद्ध, पुष्ट, स्वस्थ हो जाते हैं। इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा मार्ग स्वच्छ होकर खुल जाते हैं, दिव्य ज्योति प्रकट हो जाने से देह में सर्वत्र शान्ति-प्रसन्नता रहती है। मन एकाग्र, बुद्धि शान्त, इन्द्रियाँ स्थिर होती जाती हैं।

(५०) **शक्ति-प्रयोग प्राणायाम**—इस प्राणायाम में 'सहित-कुम्भक' अथवा 'केवली-कुम्भक' विशेष रूप से प्रयोग होता है—किंचित्-किंचित् पूरक करते हुए। साधक अथवा साधक-मण्डली को सामने बैठाकर, उनसे ऊपर चौकी आदि पर 'प्रयोगकर्त्ता' को बैठना चाहिए, इससे शक्ति-प्रयोग में सुविधा होती है। सिद्धासन से बैठकर अँगुलियों को सीधा रखते हुए, दक्षिणहस्त को कोहनी से मोड़कर अपने शिर से चार अंगुल-भर ऊपर उठाकर साधकों के सम्मुख रक्खें। किंचित् पूरक करके, कुम्भक रखकर, दया और दान की भावना के साथ, साधकों की प्रवृत्ति को दमन करने के संकल्प के साथ त्राटक-पूर्वक देखें। प्राण, मन, बुद्धि द्वारा शक्ति प्रदान करने की भावना को एकत्रित करके, अर्ध खड़े अपने हाथ से इन भावनाओं को प्रसारित करें, मानो वायु-लहरों में सम्मिश्रित हुई भावनाओं को साधकों के शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि पर बखेरकर, उन्हें बाह्य-व्यापार से रोककर, साधकों की योग्यतानुसार उन्हें आन्तरिक अनुभव प्राप्त करने की प्रेरणा दी जा रही है। इस

शक्ति का प्रभाव साधकों पर इस रूप में प्रकट होता है कि हस्तसंचालन-क्रिया से कर्मेन्द्रियों सहित देह की क्रिया, हिलने-जुलने का दमन होकर श्वास-प्रश्वास की गति दीर्घ-सूक्ष्म होकर 'सम' होने लगती है। नेत्रों की दृष्टि से ज्ञानेन्द्रियाँ अपना बाह्य-व्यापार त्यागकर शान्त हो जाती हैं। संकल्प से प्रेरित बुद्धि, मन को आन्तरिक-ज्ञान प्राप्ति में प्रेरित करने लगती है––और आन्तरिक ज्ञान की अनुभूति शनैः-शनैः होने लगती है।

१—प्रथम प्राणायाम में योगी को इतना व्यापार करना पड़ता है।

२––दूसरी बार, उसी उठाये हुए दक्षिण हाथ की अँगुलियाँ और अँगूठे को कुछ मोड़कर, इन के द्वारा अपने संकल्प से सूक्ष्म-ज्ञानेन्द्रियों सहित मन, बुद्धि को ब्रह्मरन्ध्र में गतिशील करके वहाँ के दर्शन तथा व्यापार में प्रवृत्त करना पड़ता है। तब संकल्प-प्रेरित ये 'करण' ज्ञान-व्यापार में प्रवृत्त हो जाते हैं।

३––तीसरे प्राणायाम से इस सूक्ष्म-शरीर को जिस विज्ञान-व्यापार में लगाया गया है, उसी में लगे रहने को बाधित किया जाता है। जो कुछ हम दिखाना चाहते हैं, वही कुछ देखे––अन्यत्र न जाय। इस समय भी हाथ के प्रयोग कई बार करने पड़ते हैं। जिससे मन अन्यत्र न भागे।

४––चौथी बार कुम्भक करते हुए त्राटक द्वारा, माला में पिरोए मनकों के समान सब साधकों को उसी स्थिति में स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है। दूर देशस्थ अभ्यासी पर, दिशा, देश जानकर 'शक्ति-प्रयोग' किया जाता है।

शक्ति-प्रयोग—रोग निवारण में भी प्रयुक्त होता है। उग्र ज्वर, पीड़ा तथा घातक रोगों से मुक्त करने के लिए प्रायः खड़े होकर, कुम्भक करके; दोनों हाथ अथवा दक्षिण हाथ की अँगुलियों को सीधा रखते हुए समस्त शरीर और विशेष रूप से पीड़ित पर स्पर्श करके, हाथ को प्रत्येक स्पर्श के पीछे झटक दिया जाता है। अपने संकल्प से रोगी को ऐसा चिन्तन करने की प्रेरणा दी जाती है कि—'मैं रोग-मुक्त हो रहा हूँ' तथा 'रोग दूर हो रहा है' ऐसी भावना स्वयं भी बनानी पड़ती है। समस्त आन्तरिक-शक्ति से, रोग को दूर किसी दिशा अथवा आकाश की ओर निकाल फेंका जाता है और आकाश से ही आरोग्यता को ग्रहण करके रोगी में प्रविष्ट किया जाता है। इस समस्त समय में पूरक, कुम्भक कई बार करना पड़ता है; इससे संकल्प में बल आ जाता है। ऐसा भी देखा गया है कि रोग इस रोगी को त्याग कर दूसरे व्यक्ति से जा चिपटा और आकाश की ओर नहीं गया। अति-वात्सल्य-भाव से किसी पर किए गये रोग-निवारक प्रयोग से, कभी-कभी यह रोग, शक्ति-प्रयोक्ता पर ही आक्रमण कर देता है और उसे यह कष्ट भोगना पड़ता है।

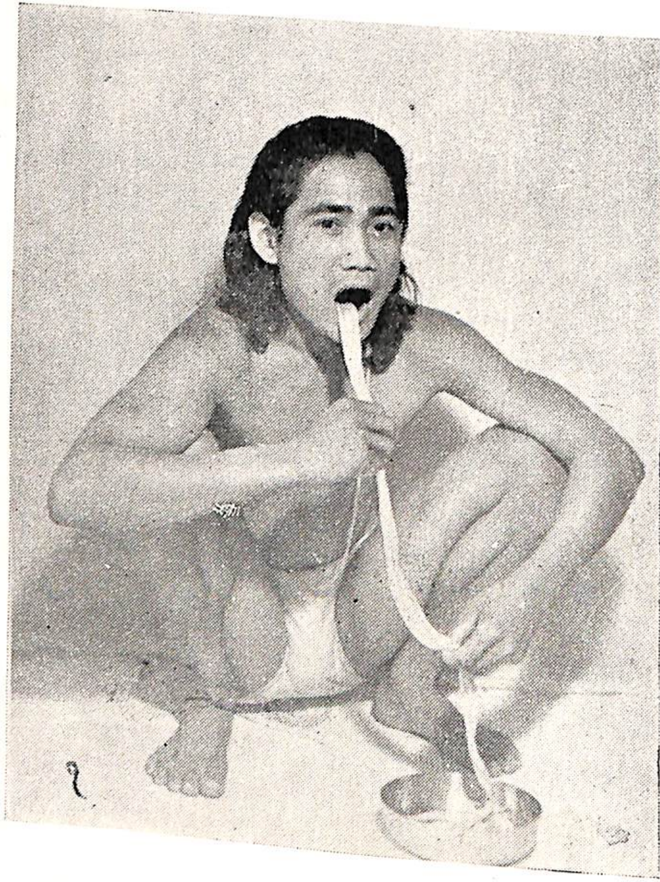
इन रोगों की आकृतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं, रोग के निकलते समय इन्हें देखा गया है। इसे देखकर ही यह पता लगता है कि रोग किधर जा रहा है या गया है। वेदना की अवस्था में रोगी का ध्यान उस स्थान से हटा दिया जाता है जिससे उसे वेदना की विस्मृति हो जाय, ऐसा भी करना पड़ता है। रोग-मुक्ति के लिए भी सदा कुम्भक साध कर ही प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा यह रोग कई बार मुक्ति-दाता को ही प्रभावित कर देता है। कुम्भक कर लेने पर, रोग को योगी के श्वास के साथ मिलकर अन्दर जाने का अवकाश नहीं मिलता, अतः रोग उसके शरीर पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रहता है।

यह अनुभूत तथ्य है कि कुम्भक करके प्रयोग करने पर जितनी सफलता मिलती है, उतनी बिना कुम्भक किये नहीं मिलती। बिना प्राणायाम के किया गया मानसिक प्रयोग निस्तेज-सा रहता है। किसी के ब्रह्मरन्ध्र में प्रयोग करते समय, पूरक करके प्राण को कण्ठ से ऊपर कपाल में ही रोककर शक्ति-प्रयोग करें; जब दूसरे के हृदय पर शक्ति-प्रयोग करना हो तो अपने हृदय में कुम्भक करें। इससे साधक के तद्-तद् देश पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

शक्ति-प्रयोग एक दोधारी खड्ग है; इसका प्रयोग अन्यत्र भी कर सकते हैं। यथा किसी की बुद्धि को भ्रान्त, विक्षिप्त, स्वेच्छानुसार नियोजित करके किसी कर्म की विस्मृति तथा किसी दूसरे कर्म में प्रवृत्त कर देना; विकृत बुद्धि को सुधारा भी जा सकता है।

शक्ति-प्रयोग के ऊपर-कथित सब लाभ हैं।

इस प्रकार ये ५० प्राणायाम हैं। साधक-वृन्द इनसे लाभ उठाने का प्रयास करें।



१––धौति-कर्म

षट्कर्म तथा मुद्राएँ

'षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ।।
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि ।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः ।।

—घेरण्ड सं०, उप० १, श्लो० १०, ११

योगी घेरण्ड जी का कथन है कि—शरीर का शोधन ६ कर्मों से होता है, आसनों से शरीर में दृढ़ता आती है; मुद्राओं से यह दृढ़ता स्थिर रहती है, प्राणायाम से शरीर में स्फूर्ति तथा हल्कापन आता है, प्रत्याहार से धीरता बढ़ती है, ध्यान-समाधि के द्वारा आत्मा आदि का प्रत्यक्ष होता है; तथा निर्विकल्प समाधि के द्वारा निर्लेप होकर उपासक मुक्त हो जाता है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि अन्तरङ्ग योग धारणा-ध्यान-समाधियों के सहकारी यम-नियमों के समान ही, ये षट्कर्म तथा मुद्राएँ भी योग में सहायक हैं—अत्युपयोगी हैं। उनका क्रमशः वर्णन करते हैं।

षट्कर्म—धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्।

—घेरण्ड, १-१२

(१) **धौति-कर्म**—अति कोमल तथा महीन मलमल आदि वस्त्र से, ४ अंगुल चौड़ाई और लगभग १५ हाथ (७½ गज़) लम्बाई की धौति (पट्टी) बना लें, इसे शीतकाल में केवल उष्णजल अथवा थोड़ा दूध और चीनी मिले जल में भिगो दें; अब उत्कट आसन से (उकरूँ) बैठकर समीप में जलपात्र में भीगी धौति के एक सिरे को मुख खोलकर कण्ठ में डालें और दक्षिण हाथ की मध्यमा और अनामिका अंगुलियों को मिलाकर इनके सहारे कण्ठ में धकेलें। वह दूध मिला उष्णजल एक-दो

घूंट पीकर धौति को एक-एक ग्रास के रूप में निगलने का यत्न करें; यदि वमन आकर निकल जाए तो दो-एक मिनिट ठहर कर उष्ण जल के सहारे पूर्ववत् फिर निगलने का यत्न करें। किसी को दो-एक दिन में सफलता हो जाती है, और कभी-कभी दो-चार दिन भी लग जाते हैं, शीघ्रता न करें और घबराएँ भी नहीं, एक बार दो हाथ धौति के कण्ठ से नीचे उतर जाने पर फिर नित्य ही, नीचे उतरने का क्रम आरम्भ हो जाता है। शीत काल में कुछ उष्ण जल धौति के साथ दो-दो घूंट के रूप में पीते रहने से धौति अन्दर जाते तथा बाहर आते समय कण्ठ में उलझती नहीं; यदि कभी असावधानी से उलझकर गाँठ आदि पड़ भी जाय तो उष्णजल के सहारे अन्दर कर लें अथवा वमन करके निकाल दें। अभ्यास हो जाने पर फिर जल पीने की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। जब अभ्यास की दृढ़ता हो जाए तब धौति करके नौलि घुमाकर फिर धौति को बाहर निकाल दिया करें। स्मरण रखकर धौति के एक सिरे पर १ हाथभर की दूरी पर गाँठ बाँध लें और इसे सदा बाहर रक्खें दूसरा, छोर अन्दर निगला करें। जब कभी धौति कण्ठ में अटककर बाहर न निकले तो थोड़ा स्नेह पान—कोसा घी, एरण्ड का तेल (कैस्टर ऑइल) आदि पी लेने से सरलता से अन्दर या बाहर को खिसकाई जा सकती है; समय पर घी, बादाम रोग़न, कैस्टर-ऑयल आदि जो भी मिल सके प्रयोग में ले आएँ। देखा है, कण्ठ में धौति अटकने की सम्भावना कम ही होती है। जब तक अभ्यास दृढ़ न हो तब तक तो इसे नित्य ही करें; फिर, आवश्यतानुसार करें; धौति कर लेने के पीछे इसे उष्णजल से कई बार धोकर इसमें लगे कफ को निकालकर, सुखाकर, तह करके वा गोल लपेटकर रखना चाहिए। अभ्यास बना रहे, अत: ऋतु परिवर्तन पर इसे कर लेना अभ्यास की दृढ़ता तथा स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टि से भी उत्तम होता है।

लाभ—कास-श्वास-प्लीहा-कुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः॥

—हठयोग० प्र०, उप० २, श्लोक २५।

खांसी, श्वास, दमा, तिल्ली के विकार, कुष्ठ तथा कफज २० रोग ज़ुकाम, फुफ्फुस विकार, दूषित पित्त आदि रोग नष्ट हो जाते हैं; आमाशय तथा पक्वाशय एवं जिगर, कण्ठ के विकार नष्ट होकर पाचन शक्ति बढ़ती तथा स्वास्थ्य सुधर जाता है। इसे रिक्त-उदर प्रात: करना चाहिए।

(२) **बस्ति-कर्म**—गुद-द्वार से जल खींचकर आँतों को नौलि के द्वारा धो कर इस जल को पुन: गुदा द्वार से निकाल देने का नाम 'बस्तिकर्म' है।

इसकी विधि है—किसी बड़ी नाँद वा टब में कूप जल अथवा कोई शुद्ध

जल भरकर, इस टब में उत्कट आसन से (उकरूँ) अर्थात् पैर के पंजों के भार, उठी एड़ियों पर नितम्ब (चूतड़) रखकर बैठें; और किसी धातु की अथवा पतले बाँस वा नरकुल वा लकड़ी की बनी, इतनी मोटी नली जो गुदा में सरलता से आ जाय, लगाकर, नौलि उठाकर आकुंचन करें (सिकोड़ें) जिससे कि जल ऊपर आँतों में पहुँचने लगे। यथेच्छ जल चढ़ाकर जल से बाहर निकलें और नौलि को दाएँ-बाएँ घुमाएँ, फिर बाईं ओर को घुमाते हुए आँतों का जल गुदा-द्वार से बाहर निकाल दें। नलकी बनाने में यह ध्यान रहे कि धातु की नलिका ४-५ इंच लम्बी हो, एक ओर से उसका छिद्र इतना हो जिसमें हाथ की छोटी अँगुलि तथा दूसरी ओर के छिद्र में मध्यमा अँगुलि चली जाए। पतली ओर से दो इंच नीचे १½ इंच चौड़ाई का छल्ला रँझवा लेना चाहिए जिससे नली गुदा में ऊपर न चढ़ जाए। अब पतला सिरा गुदा में चढ़ाकर—गुदा से पकड़कर बस्ति द्वारा जल खींचें। टब में जल इतना भरें कि बैठने पर नाभि तक जल आए। स्मरण रहे कि ये धौति, बस्ति, नेति, गज-करणी आदि सभी क्रियाएँ प्रातः रिक्तोदर ही की जाती हैं। नदी, तालाब आदि में देख लें कि जल में कीट तथा जोंकें न हों; जल बहता और शुद्ध हो। नलकी द्वारा जल-आकर्षण करने का अभ्यास हो जाने पर गुदा में मध्यमा अँगुलि के सहारे भी जल प्रविष्ट होकर चढ़ने लगता है; पश्चात् अभ्यास की दृढ़ता से बिना किसी सहारे के अपान के आकर्षण से ही जल गुदा से ऊपर चढ़ जाता है। आजकल अनीमा से यह कार्य लिया जाता है जो सबसे सरल है।

बस्तिकर्म के लाभ इस प्रकार हैं—

गुल्मप्लीहोदरं चापि वात-पित्त-कफोद्भवाः।
बस्ति - कर्म - प्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः॥
धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं, दद्याच्च कान्ति दहन-प्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म॥

—हठ० प्र०, उप० २, श्लो० २७, २८

तथा—

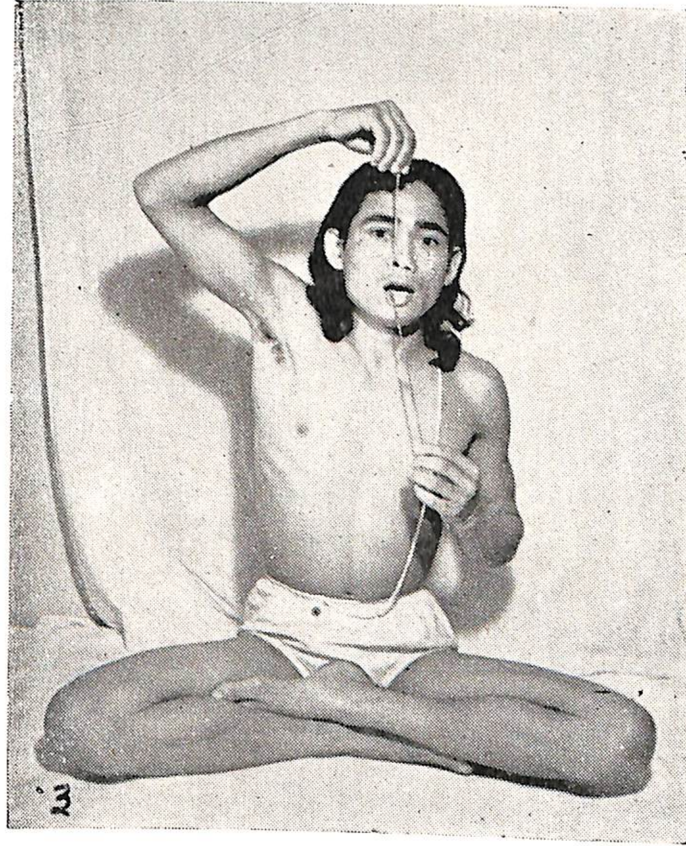
प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत्।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत्।

—घेरण्ड, १-४८

बस्तिकर्म उदरगत वायुगोला, जलोदर तथा वात-पित्त-कफज दोष तथा धातु-दोष—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्रज दोष—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के विकार और मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार के मलों को नष्ट कर-करके इन्हें निर्मलता

तथा प्रसन्नता प्रदान करता है। रजोगुण, तमोगुण का निवारण करके सात्त्विकता उत्पन्न करता, परितापों को हरण करता, जठराग्नि को प्रदीप्त करके त्रिदोष को सम रखता है। प्रमेह, उदावर्त, कुपित वायु को दूर करके देह को आत्मवशी बना कर कान्तिमान् बना देता है। इससे क्षुधा की वृद्धि, अँतड़ियों का शोधन, अपान की शुद्धि होकर कब्ज़ दूर हो जाता है; उदर सम्बन्धी विकार प्रायः नहीं होते। इसके कुछ दिनों के निरन्तर अभ्यास से मेद की वृद्धि मोटे हुए पेट घट जाते हैं तब साधक नौलि तथा बस्ति भी यथाविधि कर सकते हैं। कई दिन की समाधि लगाने से पूर्व बस्ति के द्वारा उदर का समस्त मल निकाल दिया जाता है, अन्यथा अँतड़ियों में रहा मल सड़कर शरीर को रोगी बना देता है। बढ़े हुए पित्त के निःसारण में बस्तिकर्म अति-उपयोगी है। परन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' को स्मरण रखते हुए इसे आवश्यकता पड़ने पर ही करें, अन्यथा कई विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं।

(३) **नेति-कर्म**—एक हाथ लम्बा, सवा इंच चौड़ा मलमल का टुकड़ा ले कर, चौड़ाई की ओर से इसे फाड़ें और आधी लम्बाई पर समाप्त कर दें; इस फाड़े भाग को रस्सी के समान बट लें। अब किसी छोटी कटोरी में मधु के छत्ते से बना शुद्ध मोम डालकर पिघला लें, इसमें रस्सी जैसा बटा हुआ भाग डालकर भिगो लें, फिर इसे निकालकर अँगुलियों से मोम लगे भाग पर फेरकर सम कर लें जिससे किसी भाग में मोम अधिक लगा रहकर नासिका-रन्ध्रों में व्रण-ज़ख्म न कर सके। मोम लगे भाग की कुछ नोक बना लें, जिससे नासिका में सरलता से नेति प्रविष्ट हो सके। अब इस नेति को गिलास में पानी भरकर भिगोकर समीप रख लें, ध्यान रहे मोमी भाग कहीं से मुड़कर टूट-सा न जाय। अब मोमी भाग को अँगुलियों में दबाकर, जिस ओर श्वास आता-जाता हो उस नथुने में शनैः शनैः प्रविष्ट करें, छींकें आने पर निकाल लें, और फिर प्रविष्ट करें। इस भाँति प्रथम ३-४ अँगुल प्रविष्ट करके छोड़ दें और शनैः शनैः इसी प्रकार करते हुए जब नेति कण्ठ तक पहुँचने लगे तब दक्षिण हस्त की तर्जनी और मध्यमा अँगुलियाँ कण्ठ में डालकर, कण्ठगत नेति को इनसे पकड़कर मुख से बाहर निकालने का प्रयत्न करें, मुख से निकालते समय नासिका से बाहर निकले भाग को वामहस्त के अँगुष्ठ और अँगुलि से पकड़कर नाक के अन्दर धीरे-धीरे धकेलते जायँ और दक्षिण हस्त से मुख से बाहर निकालते रहें। इसी प्रकार दूसरे नथुने से भी अभ्यास करें। इन क्रियाओं में शीघ्रता कदापि नहीं करनी चाहिए, अन्यथा कष्ट के साथ ही नाक में व्रण होकर रक्त निकल आने की सम्भावना हो जाती है। अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर नेति को धीरे-धीरे अन्दर-बाहर कोमलता के साथ खींचें-निकालें जैसे दधि-मन्थन के समय रस्सी को आगे-



३—नेति-कर्म

पीछे चलाते हैं।

नेतिकर्म के ये लाभ हैं—

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥

—हठयो० प्र०, २-३०

नेति, कपाल को शुद्ध करती, नासिका, कण्ठ के मल को निकालती, जुकाम नहीं होने देती, नज़ले को कण्ठ में गिरने से रोकती, शिर पीड़ा दूर करती, दृष्टि को बढ़ाती, मोतिया को रोकती तथा स्कन्ध से ऊपर के भाग में होनेवाले रोगों को नष्ट करती है।

(४) **त्राटक कर्म**—किसी निश्चित स्थान अथवा वस्तु पर नेत्र तथा ध्यान को स्थिर करना 'त्राटक' है। 'सिद्ध' आदि किसी आसन से सुखपूर्वक बैठें, फिर किसी कागज़ पर बनाए एक इंच भर के काले बिन्दु अथवा लिखे ॐ को दीवार पर लटकाकर, लगभग एक गज़ की दूरी से अपलक (पलकों को बिना झपकाए) दृष्टि से देखते रहें; जब नेत्रों में जलन होने लगे अथवा जल भरने लगे या पीड़ा होने लगे तब नेत्र मूँदकर शान्त बैठकर छोड़ दें। त्राटक के लिए पुष्प, निर्मल-स्थिर जलाशय, नक्षत्र, चन्द्रमा, किसी महापुरुष का चित्र, प्रिय लगनेवाला कोई इष्ट पदार्थ, मणि, हीरा, मोती, नीलम, पुखराज, दीपक, दर्पण तथा सूर्य का भी उपयोग किया जा सकता है; किन्तु सूर्य के तेज से दृष्टि को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है अतः तीव्र तेज पर त्राटक न करें। त्राटक करते समय दृष्टि तथा ध्यान दोनों उसी पदार्थ में रहें; तभी त्राटक में सफलता होती है। त्राटक का समय शनैः शनैः बढ़ाते रहें; इस समय संकल्प-विकल्पों को न उठने दें। शक्ति के अनुसार कई घण्टे भी त्राटक को बढ़ाया जा सकता है। अधिक उत्तम तो यह है कि नेत्र खुले हों परन्तु नेत्रों का विषय दृष्टि के सामने न हो; जैसे उन्मनीमुद्रा और शाम्भवीमुद्रा में ध्यान तो भीतर होता है, नेत्र खुले होते हैं, बाहर कोई लक्ष्य नहीं होता। इस प्रकार के त्राटक से दृष्टि क्षीण नहीं होती, चाहे कितनी देर करो।

इसके लाभ इस प्रकार हैं—

एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम्।
नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥—घेर० १-५६

तथा—**मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।**
यत्नतस्त्राटकं नित्यं यथा हाटकपेटकम् ॥—हठ० प्र०, २-३२

त्राटककर्म से शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होती है, नेत्रों के रोग नष्ट हो जाते हैं तथा

दृष्टि तीव्र होकर दूरदर्शिनी बन जाती है। तन्द्रा, निद्रा और आलस्य को दूर करता है; नेत्रों की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि दिन में तारे भी दीख जाते हैं तथा दूसरे दृष्टिपात से ही आकर्षित हो जाते हैं। बाह्यधारणा तथा बाह्यध्यान का बल विशेष रूप से बढ़ जाता है; मानसिक बल की भी वृद्धि होती है। पार्थिवीय, जलीय, आग्नेय पदार्थों में की जाने वाली धारणा त्राटक से ही शीघ्र सिद्ध होती है, त्राटक से ही शाम्भवी तथा उन्मनी मुद्राएँ सिद्ध हो सकती हैं। राजयोग तथा हठयोग में शीघ्र सफलता त्राटक से ही होती है, उभयत्र इसका समान मान है।

(५) **नौलिकर्म**—एक हाथ की चौड़ाई से भूमि पर पैर रखकर खड़े हों, अब सामने कुछ झुककर दोनों हथेलियाँ दोनों घुटनों पर रखकर, रेचक करके उड्डियान करें और मनोबल से तथा आभ्यन्तरिक कौशल से अपानप्राण को धकेल-धकेल कर उदर में नाभि के सामने अँतड़ियों को खड़ी करें; फिर खड़ी हुई अँतड़ियों को किसी एक पार्श्व में घुमाने का यत्न करें, फिर दूसरे पार्श्व में घुमाएँ। इस समस्त अवसर में रेचक करके बाह्य-कुम्भक अवश्य रखना चाहिए, इसके बिना नौलि को घुमाना कठिन होता है; नौलि बाह्य-कुम्भक से उठाकर शीघ्र घुमाई जा सकती है। स्थूलोदर व्यक्ति इसे नहीं कर सकते तथा बस्तिकर्म भी बिना नौलि के सिद्ध नहीं होता।

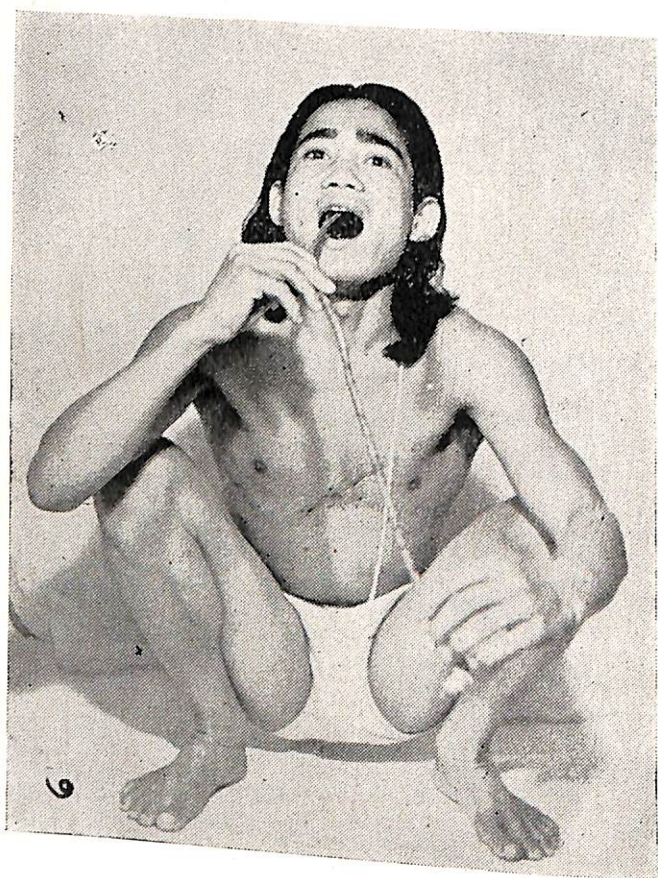
इसके इतने लाभ हैं—

मन्दाग्नि-सन्दीपन-पाचनादि-सन्धापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषिणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः।

—हठयोग० प्र०, २-३४

यह नौलि मन्दाग्नि को प्रदीप्त करती, आहार को भले प्रकार पचाती और साधक को सदा प्रसन्न रखती है। उदर पर छाया मेद छँट जाता है, अँतड़ियों में कोई विकार नहीं आता, कब्ज़ नहीं रहता, गुल्म रोग, गुर्दे की पीड़ा, उदर पीड़ा नहीं होती, यदि कभी-कभी हो तो नष्ट हो जाती है। मल-मूत्र, मूत्राशय, वीर्य के दोष नहीं होते हैं; शरीर में स्फूर्ति, प्राण में नवजीवन उत्पन्न कर देती है। यकृत् और तिल्ली कभी बढ़ नहीं पाते, जलोदर नहीं होता।

(६) **कपालभाति**—यथेष्ट आसन से बैठकर किसी एक नथुने से प्राण अन्दर भरें और बिना कुम्भक किए दूसरी ओर से शीघ्रता से निकाल दें; लोहार की धौंकनी के समान केवल रेचक-पूरक प्राणायाम शीघ्रता से करने को 'कपालभाति' कहते हैं। इसके दो भेदों में से यही अधिक उपयोगी है। किसी एक नथुने से रेचक वा पूरक करने के लिए दूसरा नथुना हाथ के अँगूठे तथा अँगुलियों से दबा लिया जाता



७--ब्रह्म दातुन

है—जैसा कि प्राणायामों में स्थान-स्थान पर कहा जा चुका है।

इसके इतने लाभ हैं—यह नाड़ियों को शुद्ध करती, मेद को घटाती, पाचन शक्ति, शारीरिक शक्ति, स्फूर्ति को बढ़ाती और विशेष रूप से कफज-दोषों का हरण करती है। प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी जागरण में सहायक होती है। वास्तव में यह केवल पूरक-रेचक प्राणायाम ही है, अतः धारणा, ध्यान में सहायक है।

षट्कर्मों का निरूपण करके इनके समान ही चार अन्य क्रियाओं का प्रतिपादन करते हैं जोकि इनके समान ही उपयोगी और ध्यानाभ्यास में सहायक हैं।

(७) **ब्रह्मदातन**—सूत के १०-१२ पतले तन्तु ४॥ हाथ लम्बाई के लगभग लेकर इन्हें रस्सी के समान बट लें, इसे फिर तिहरा करके रस्सी के समान बट लें। इस प्रकार यह रस्सी लगभग डेढ़ हाथ लम्बी हाथ की कनिष्ठिका (छोटी) अँगुलि के समान मोटी रस्सी बन जाती है; इसके एक सिरे पर अंगुलि फँसाने योग्य रस्सी का छल्ला-सा बना लेते हैं जो उदर में गई इस रस्सी को खींचकर निकालने के काम आता है। अब मधु के छत्ते से बना शुद्ध मोम किसी पात्र में पिघलाकर, उसमें इसे भिगोकर, हाथ से मसलकर चिकना बना लेते हैं, छल्ले से विपरीत सिरे को लगभग ½ इंच बिना मोम लगाए रखते हैं जिससे यह अंदर जाते हुए कष्ट न दे, चुभे नहीं। इसी का नाम ब्रह्मदातन है। यह ब्रह्मदातन कदलीपत्र के मध्यभाग से भी बनाई जाती है जो अति कोमल होती है और नित्य नई बनाकर की जाती है; प्रथम इससे ही अभ्यास करना चाहिए। तथा वटवृक्ष की दाढ़ी अथवा कीकर (बबूल) की कोमल शाखा की भी नित्य नई बनाकर की जाती है। किन्तु सूत्र की बना लेने पर नित्य नई दातन नहीं बनानी पड़ती—शीतल जल से धोकर रख लेते हैं और धो-धोकर करते रहते हैं।

विधि—प्रातः शौच से निवृत्त होकर, शीतल जल से भिगोकर, खड़े होकर वा उकरूँ बैठकर इस दातन का कोमल सिरा शनैः शनैः कण्ठ से नीचे उतारने का यत्न करें; इस समय वमन भी होगी, खाँसी भी आयेगी, नाक और नेत्रों से पानी भी निकलेगा, कण्ठ से कफ-थूक भी झड़ेगा, इनसे न घबराकर शनैः शनैः अन्दर ले जाने का यत्न करें। जब चार-छः अँगुल अन्दर जाने लगे तब ५-७ दिन में एक हाथ अन्दर ले जाकर, नाभि के आस-पास धीरे-धीरे घुमाएँ, फिर धीरे से ही छल्ले में अँगुलि फँसाकर बाहर खींच लें; इसके साथ लगे थोड़े से कफ को धोकर खूँटी पर लटका दें।

इसके लाभ ये हैं—

अम्ल-पित्त को निकाल फेंकती है, आमाशय-पक्वाशय-वक्षस्थल-कण्ठ को स्वच्छ कर देती, पाचन-शक्ति को बढ़ाती, कफ विकारों को रोकती; नेत्र विकारों

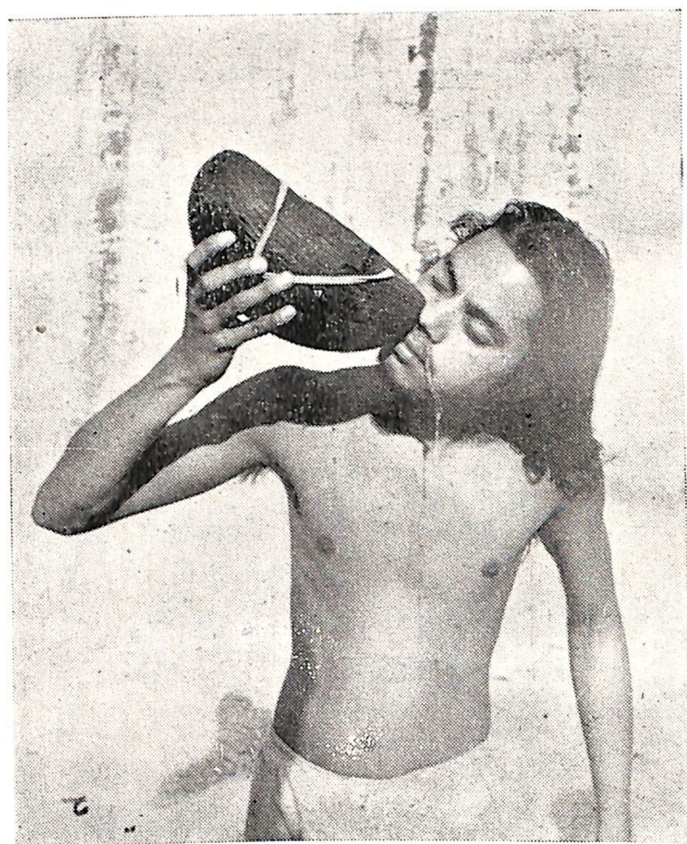
को दूर करके दृष्टि को बढ़ाती है। जुकाम प्रायः नहीं होता। शेष लाभ धौतिकर्म के समान हैं। इसे 'दण्डधौति' भी कहा जाता है।

(८) **जलनेति**—इसके कई प्रकार हैं। जैसे—१. मुख खुले शंख अथवा टूटी नलकी वाले लोटे में वा कमण्डल में जल भरकर (शीतकाल में कोसा तथा ग्रीष्म काल में कुछ शीतल), मुख को किंचित् ऊपर उठाकर, नासिका के एक छिद्र से टूटीदार लोटे वा शंख आदि का मुख लगाकर जल नाक में डालने लगें और अपना मुख खोल दें; मुख से जल स्वयं ही बाहर निकलने लगेगा। कमण्डल से नाक में छोड़ते जाएँ और मुख से निकालते जाएँ। एक नथुने से करके दूसरे नथुने से भी इसी प्रकार करें। अभ्यस्त हो जाने पर पात्र से नाक लगाकर वा चुल्लू में जल भर-कर नाक से खींच लिया जाता है। २. नाक साफ करके, मुख को न खोलकर नाक से जल पीते जाते हैं; जल के स्थान में दूध, घृत, बादाम रोग़न आदि का पान भी किया जा सकता है। ३. जल में थोड़ा-सा लवण मिलाकर पात्र में भर लें, मुख बन्द करके, पात्र का मुख नासिका के साथ लगाकर जल डालने लगें, मुख एक ओर को (विपरीत दिशा को) झुका लें, जल स्वयं दूसरी ओर से निकलने लगता है। जिस नासा छिद्र से कमण्डल की नली लगी हो उसे भलीभाँति अँगुलियों से दबा लें जिससे वायु इधर से प्रविष्ट न हो सके। बिना नमक के भी कर सकते हैं—जुकाम के दिनों में कोसे जल में लवण मिलाकर जलनेति करने से शीघ्र आराम हो जाता है।

इसके लाभ ये हैं—

कफज तथा पित्तज शिर पीड़ा, विकृत जुकाम, जुकाम जनित कण्ठ शोथ, शिर की साधारण पीड़ा, इसके नित्य करने से जाती रहती है; पित्त प्रकोप अथवा कफ के रुकने से हुई छाती की पीड़ा वा छाती का भार तथा कण्ठ, मस्तक, शिर में होनेवाले विकारों को, नेत्र विकारों को निवारण करने के लिए जलनेति अत्यन्त उपयोगी है। नित्य करनेवालों के नेत्र दुखते नहीं, ज्योति स्थिर रहती तथा बढ़ भी जाती है; मोतिया होने की सम्भावना कम होती है। शिर-मस्तिष्क, नेत्र सदा हल्के रहते हैं, नाक सदा स्वच्छ तथा चित्त प्रसन्न रहता है। जलनेति भी प्रायः प्रातःकाल निराहार ही की जाती है। जुकाम आदि के समय आवश्यकतानुसार कोसे वा ठण्डे जल से अन्य समय भी कर सकते हैं।

(९) **गजकरणी अथवा कुञ्जर-क्रिया**—प्रातः शौचादि से निवृत्त होकर, दो-तीन सेर जल में थोड़ा लवण मिलाकर, खड़े-खड़े आकण्ठ तक पी लें—अनिच्छा से भी पीते जाएँ; कई बार स्वयं ही वमन हो जाती है। अन्यथा आकण्ठ पीकर, आगे झुककर दोनों हथेलियाँ दोनों घुटनों पर टेककर उदर को आगे-पीछे हिलाकर



८--जल-नेति



वमन कर दें। शीतकाल में उष्ण तथा ग्रीष्म में साधारण जल प्रयुक्त किया जाता हैं। वमन यदि इस प्रकार स्वयं न हो, तो पूर्ववत् जल पीकर, झुककर, वामहस्त घुटने पर टेककर, दक्षिण हाथ की तर्जनी और मध्यमा अँगुलियाँ मिलाकर, इनके अग्रभाग को कण्ठ में डालें, और अग्रभाग से ही कण्ठगत छोटी जीभ को दबाकर उदर को हिला दें, नीचे झुकाए मुख से सम्पूर्ण जल इस प्रकार निकल जाता है; एक बार में न निकले तो फिर कण्ठ में पूर्ववत् अँगुलियाँ डालकर वमन कर दें। अभ्यास पक जाने पर फिर जब चाहें हो सकेगी—जैसे डकार (उद्गार) वा अपान स्वयं निकल जाता है ऐसा ही यहाँ भी होने लगता है। रबड़ की नली से पानी पी कर निकाल भी दिया जाता है, यह भी एक प्रकार है वमन का। एक विधि यह भी है—भोजन करके आकण्ठ जल पीकर वमन कर दी जाती है, इससे भुक्त-पीत समस्त आहार बाहर निकल जाता है। इसे 'वमन-धौति' भी कहते हैं; इस क्रिया को करके 'अग्निप्रसारण-प्राणायाम' के द्वारा रहा हुआ जल निकाल देना चाहिए।

इससे ये लाभ होते हैं—

इससे उदर तथा कण्ठ के रोग निवृत्त हो जाते हैं। जैसे—अपच, खट्टे उद्गार, वायुगोला, अफारा, छाती की जलन, धूम्र-सा उठना, उदर में गैस-सी बनना, अम्ल-पित्त, अजीर्ण, उदर का भारीपन, मितली आदि दूर होकर भूख चमक उठती है, शरीर हल्का और चित्त प्रसन्न रहता है।

(१०) **पवन बस्ति**—जलबस्ति में उपयुक्त होनेवाली नलिका चाँदी आदि किसी धातु की होनी चाहिए; शेष क्रिया जलबस्ति के समान है। शौच के लिए बैठने के समान ही बैठकर, नलिका गुदा में लगाकर, वायु को भी जल खींचने के समान खींचें; खींच लेने के पश्चात् बाहर निकालने के लिए आधा खड़े होकर सामने को झुकें और हथेलियाँ घुटनों पर रखकर नौलि-संचालन करके, उड्डियान बन्ध लगाकर, उदर पर दबाव डालकर, अपान छोड़ने के समान निकाल दें। अथवा मयूरासन वा सर्वाङ्ग-आसन अथवा दोनों ही आसन करके अपान के रूप में निकाल दें। अभ्यास की दृढ़ता पर वामहस्त की मध्यमा के सहारे ही पवन-बस्ति हो जाती है। एक अन्य विधि यह भी है—सीधे खड़े हों, फिर आगे को झुक-कर दोनों घुटनों पर हथेलियाँ धरकर, आँतों में नौलि करने के समान क्रिया करते हुए वायु उत्पन्न कर-करके निकालते जाते हैं; जैसे आमाशय में वायु उत्पन्न करके उद्-गार निकाले जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ भी किया जाता है।

पवनबस्ति से—अँतड़ियों के विकार दूर होकर कब्ज़ नहीं होने पाता, उदर हल्का तथा पाचनशक्ति तीव्र हो जाती है, वातजन्य शूल तथा अपान-विकार दूर

हो जाते हैं, उदर मुलायम रहता है।

ये उपरोक्त दशों क्रियाएँ शरीर का शोधन करके, शरीर को प्राणायाम तथा आसन करने के योग्य बना देती हैं; इनके प्रभाव से शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन इतने सध जाते हैं कि इनसे यथायोग्य-साधना कार्य लिया जा सकता है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान की सिद्धि में ये सहायक बनती हैं; इनकी सहायता से समाधि में दीर्घ-काल तक बैठा जा सकता है।

अब **प्राणोत्थान** तथा **कुण्डलिनी-जागरण** में सहायक १५ प्रकार की मुद्राओं का वर्णन करते हैं; इनसे षट्चक्र-विज्ञान में भी सहायता मिलती है।

(१) **महामुद्रा**—टाँगें सामने पसार कर बैठें और बायाँ पैर मोड़कर एड़ी को गुदा और उपस्थ के मध्य 'सीवन' में दृढ़ता से जमा दें; अब आगे झुककर पसारे हुए दक्षिण पैर के पंजे को दोनों हाथों की हथेलियों में जकड़ लें। फिर पूरक विधि से श्वास अन्दर भरकर, मूल तथा जालंधर बन्ध लगाकर यथाशक्ति बैठे रहें। कहीं पर तीनों बन्ध लगाने का विधान भी है। रेचक के समय प्राण को शनैः शनैः बाहर निकालें। इसके पश्चात् दूसरे पार्श्व से—दक्षिण पैर से इसी प्रकार करें और दोनों ओर से ५-६ बार कर लें। घेरण्ड संहिता में इसके ये लाभ लिखे हैं—

क्षयकासं गुदावर्तं प्लीहां जीर्णज्वरं तथा।
नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रानिषेवणात् ॥

—उप० ३, श्लो० ८

महामुद्रा के सेवन से क्षय से उत्पन्न खाँसी, गुदावर्त (गुदा के आस-पास होनेवाले फोड़े), बढ़ी हुई तिल्ली तथा पुराना ज्वर आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। तथा—

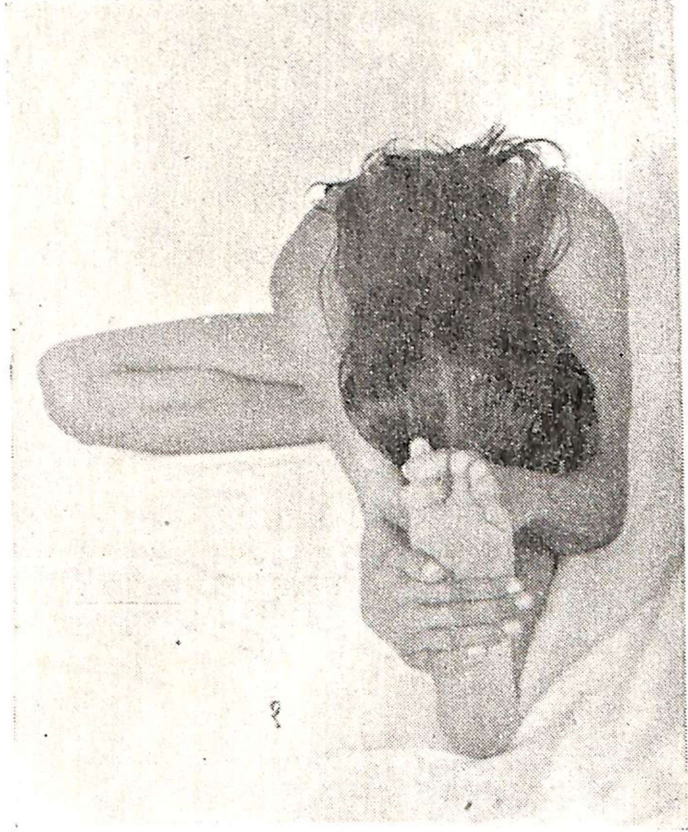
क्षय-कुष्ठ-गुदावर्त-गुल्माजीर्ण-पुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।

—गोरक्ष पद्धति

क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त, गुल्म, अजीर्णादि उदर के रोग तथा प्रमेह भी महामुद्रा के अभ्यास से नष्ट हो जाता है; इसके दीर्घकाल के अभ्यास से सुषुम्णा में प्राण का प्रवेश तथा प्राण का ऊर्ध्वगमन और कुण्डलिनी की जागृति होने लगती है।

स्मरण रहे—महामुद्रा में वाम तथा दक्षिण से करनेवाले रेचक-पूरक प्राणा-यामों की संख्या समान हो, न्यूनाधिक न हो।

(२) **महाबन्ध**—वामपाद की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्यभाग 'सीवन' में दृढ़ता से जमा लें और दक्षिणपाद को वाम जंघा पर रख लें; अब पूरक



१——महामुद्रा



४––खेचरी मुद्रा

करके जालन्धर बन्ध लगा दें। यथाशक्ति कुम्भक रखकर शनैः शनैः रेचक करें। कहीं-कहीं ऐसा संकेत मिलता है कि महाबन्ध को करते समय पार्ष्णि के द्वारा मूल-बन्ध को पुनः-पुनः ताड़न करता रहे, तथा महामुद्रा और महाबन्ध में कुम्भक के समय मन को सुषुम्णा में प्रविष्ट कर देने का विधान भी मिलता है; परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब साधक को इन दोनों पदार्थों के यथार्थ रूप का साक्षात्कार हो चुका हो। इसमें भी वाम तथा दक्षिण पार्श्व के रेचक-पूरक की संख्या भी समान रखनी चाहिए।

इसके ये लाभ हैं—कुण्डलिनी को यह शीघ्र जागृत कर देती है, प्राण का प्रवेश मूलाधार चक्र में शीघ्र होने लगता है, चक्र भेदन का पथ खुल जाता है। शेष लाभ महामुद्रा के समान हैं।

(३) **महावेध**—महाबन्ध मुद्रा में स्थित होकर पूरक करके कुम्भक कर लें, अब तीनों बन्ध लगाकर, दोनों हथेलियाँ भूमि पर दक्षिण-वाम ओर रखकर, वाम पाद सहित शरीर को इन पर उठा लें; अब एड़ी पर पुनः पुनः सीवन प्रदेश का ताड़न करें। दूसरा प्रकार यह है कि—पद्मासन लगाकर पूरक सहित कुम्भक करके भूमि से उठकर भूमि पर मूलाधार को पुनः पुनः ताड़न करें। क्योंकि पूर्वोक्त महावेध की क्रिया में जब शरीर को हाथों के सहारे उठाया जाता है तब मूलबन्ध स्थिर नहीं रहता, पद्मासन लगाकर करने से यह दोष नहीं आता अतः पद्मासन लगाकर करना ही उत्तम है। इसे भी पैर बदलकर करें; प्राणायामों की संख्या समान रहे।

लाभ ये हैं—

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धि-प्रदायकः।
बलीपलित-वेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः॥ —गोरक्ष सं०, १-४

इसके अभ्यास से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। बुढ़ापे में शरीर पर कहीं झुर्रियाँ नहीं पड़तीं, केश शीघ्र श्वेत नहीं होते, अङ्ग काँपते नहीं, कुबड़ापन नहीं आता, जठराग्नि तीव्र रहती है, प्राण सूक्ष्म होकर सुषुम्णा में गमन करने लगता है, तब इड़ा-पिंगला में प्राण संचार से समाधि भी लग जाती है। शरीर निश्चेष्ट-सा होकर मृतवत् हो जाता है।

(४) **खेचरी मुद्रा**—उत्कट आसन से (शौच-निवृत्ति के समान) बैठकर जीभ को जबड़े से जोड़नेवाले पतले तन्तु की जड़ पर, जीभ उठाकर, धार बनाए सेंधा नमक की डली से रगड़ें तथा नित्य प्रातःकाल ही जीभ को दोनों हाथों के अँगूठे और तर्जनी से दोनों पार्श्वों से, गाय के दोहने के समान ही दोहन कर्म करें। पश्चात् त्रिफले का चूर्ण लगाकर मलते रहें; अथवा कपड़े से भी दोहन किया जाता

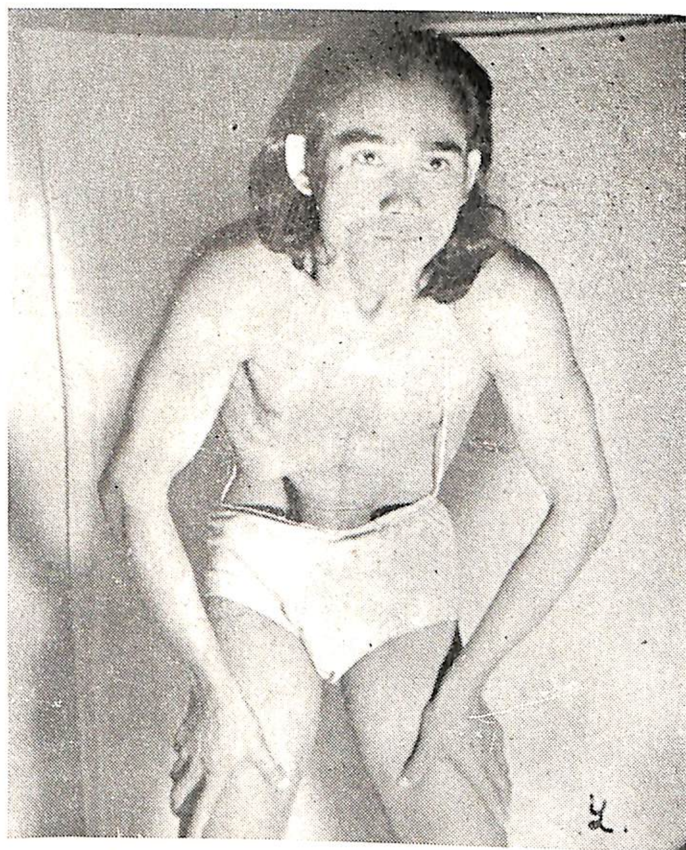
है। इसी प्रकार तब तक करते रहें जब तक जीभ निकालकर जिह्वाग्र भाग, नासाग्र को फिर नासिका के मध्य भाग को और अन्त में भ्रूमध्य को स्पर्श न कर लिया करे। फिर यह जिह्वा उलटकर कपाल-कुहर में जाने योग्य बन जाती है। जीभ को लम्बा करने की दूसरी विधि यह है कि—जीभ के निचले पतले तन्तु को, अपने गुरु के सामने अथवा स्वयं दर्पण में देखकर, नहीं तो किसी डाक्टर से थोड़ा-थोड़ा-सा ब्लेड आदि से काटते-कटवाते रहें तथा पूर्वोक्त प्रकार से दोहते रहें। ८-१० बार के छेदन तथा नित्य दोहन से जीभ उक्त रूप में लम्बी हो जाती है। छेदन क्रिया में शीघ्रता न करते हुए, सावधानी बर्तें, एक बार ही अधिक कटने से तोतलापन अथवा गूंगापन भी आ सकता है; एक-एक बाल के समान नित्य या दूसरे-तीसरे दिन करना चाहिए। इस छेदन-दोहन में ६ मास लगते हैं तब यह क्रिया पूर्ण होती है। जीभ दोहन के पश्चात् नित्य पद्मासन आदि सिद्ध किए आसन से भजन से पूर्व बैठकर कण्ठ के अन्दर कपाल को जानेवाले छिद्र में जीभ को उलटकर प्रविष्ट करने का उभय समय यत्न करते रहें। यहाँ जीभ प्रविष्ट हो जाने पर इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा के खुले द्वार बन्द हो जाते हैं और कपाल से ब्रह्मरन्ध्र से टपकने वाला मधुर-सा रस (उस समाधि-सी स्थिति में) इस स्थिति में जिह्वाग्र पर टपकता है; हठयोगी इसे अमृतपान करना कहते हैं। इसके लाभों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥

अर्थात् खेचरी मुद्रा का साधक सोमपान के अभ्यास से १५ दिन में मृत्यु को वश में करने योग्य बन जाता है; परन्तु यह ठीक है कि इसके अभ्यासी को तन्द्रा-निद्रा-आलस्य, भूख-पिपासा आदि द्वन्द्व अधिक बाधा नहीं देते; मन स्थिर रहता है, गम्भीरता आ जाती है। ध्यान-समाधि के लिए उपयोगी है।

(५) **विपरीतकरणी मुद्रा**—दोनों हथेलियाँ और सिर, भूमि पर बिछाए गद्दे आदि कोमल वस्त्र पर धरकर, पैरों सहित शरीर उठाकर, पादतल आकाश की ओर करके, शिर और हथेलियों पर तोल दें—शरीर सीधा रहे; इस स्थिति में यथाशक्ति रहें।

दूसरी विधि यह है—पीठ के बल भूमि पर लेटकर, कटि को हाथों का सहारा देकर, ग्रीवा तथा कन्धों पर शरीर को थोड़ा तिर्छा रखते हुए खड़ा कर लें (जैसे सर्वाङ्ग आसन में करते हैं); फिर जालन्धर बन्ध लगाकर दृष्टि पैर के अँगूठों पर स्थिर कर दें। प्रथम विधि से यह दूसरी विधि श्रेष्ठ है क्योंकि शिर पर अनावश्यक दबाव नहीं पड़ता है। इसके लाभ इस प्रकार हैं—



५--विपरीतकरणी मुद्रा

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने॥

—हठयोग० प्र०, उप० ३, श्लोक ८०, ८१

विपरीतकरणी के नित्याभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, आहार की मात्रा अधिक बढ़ने लगती है, अतः उचित मात्रा में भोजन करें अन्यथा बढ़ी हुई जठराग्नि देह के रसों और धातुओं का शोषण करने लगती है। नित्य थोड़ा-थोड़ा अभ्यास बढ़ाते जाएँ तब अधिक लाभप्रद होती है; बाल शीघ्र श्वेत नहीं होते, शरीर स्वस्थ रहता है।

(६) **वज्रोली-मुद्रा**——'कैथेटर' नाम की रबड़ की बनी एक विशेष नलिका कैमिस्टों की दूकानों से मिल जाती है, वह ४-५ नम्बर की, १४-१५ अँगुल लम्बी लें और उसके अग्रभाग में ४-६ अँगुल तक बादाम रोगन, घृत वा तिल का तेल लगाकर मूत्रेन्द्रिय के छिद्र में डालकर ऊपर मसाने की ओर प्रविष्ट करें——ले जाएँ; प्रथम दिवस २-३ इंच ही ले जाएँ। अब नित्य एक-दो इंच मसाने की ओर अधिक बढ़ाते चलें; यदि पीड़ा प्रतीत हो तो तुरंत बाहर निकाल लें। इसका अभ्यास हो जाने पर फिर ७-८ नम्बर का कैथेटर लेकर पूर्वोक्त रीति से चढ़ाएँ, अभ्यास हो जाने पर उकरूँ बैठकर नौलिक्रिया से अँतड़ियों को उठाकर, मूलाधार को सिकोड़ कर कैथेटर के द्वारा बाहर की वायु का आकर्षण करें (इसे 'फूत्कार' करना कहते हैं)। पश्चात्, इसका भी अभ्यास हो जाने पर १२ अंगुल के कैथेटर से अभ्यास करें और अब जल का पात्र लोटा-गिलास आदि भरकर, कैथेटर जल में डालकर फूत्कार विधि से जल को मसाने की ओर खींचें, यह जल अन्दर पहुँचकर मूत्र को साथ लेकर बाहर निकल आता है। जब रबड़ की इस नलिका से जल का आकर्षण भले प्रकार होने लगे तब लोहे वा चाँदी के कैथेटर से जलाकर्षण का अभ्यास कर लें, इससे सुविधा रहती है। जल के समान दूध, तेल का भी आकर्षण किया जा सकता है; ये द्रव पदार्थ मूत्राशय के सब मूत्र को साथ लेकर बाहर निकल आते हैं। इसे हम 'मूत्राशय' की बस्ति भी कह सकते हैं।

इसके लाभ ये हैं——जब कई दिनों तक समाधि में बैठा जाता है, उससे पूर्व वज्रोलि के द्वारा मूत्राशय को, बस्ति के द्वारा आँतों को, गजकरणी के द्वारा आमाशय-पक्वाशय को धोकर शुद्ध बना लेते हैं; इससे शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। तथा वज्रोलि करने से मूत्र और वीर्य सम्बन्धी दोष—मूत्रकृच्छ्र,

प्रमेह,स्वप्नदोष आदि नहीं होते। इसके यथार्थ तात्पर्य 'ब्रह्मचर्य रक्षा' को न समझ-कर कई हठयोगियों ने स्त्री-सम्पर्क से बल-पौरुष बढ़ाने के विषय में जो लिखा है वह श्रेय मार्ग के पथिकों के लिए सर्वथा वर्जित, घृणित, निन्दित, अनुचित कर्म है।

(७) **शक्तिचालिनी मुद्रा**--वज्रासन से बैठकर दोनों नथुनों से पूरक करके अन्दर अपान के साथ मिला दें। अब प्रयत्न करें कि अन्दरगत वायु सुषुम्णा के अन्दर प्रवेश करने लगे, उसके लिए अश्विनी-मुद्रा अर्थात् गुदा का संकोच-विकास करें---गुदा को ऊपर खींचें फिर ढीला छोड़ दिया करें। इस क्रिया से प्राण का प्रवेश सुषुम्णा में होने लगता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है। दूसरी विधि यह है--सुखासन से बैठकर हाथों से गुल्फों (गिट्टों) के समीपस्थ भाग को पकड़कर, उदर की ओर खींचें और नाभि से नीचे सीध में, मूत्रेन्द्रिय के मूल में स्थित 'कन्द-स्थल' को पीड़ित करें—दबाएँ। अब शक्तिचालिनी मुद्रा से कुण्डलिनी को जगावें। अब वज्रासन लगाकर 'भस्त्रा' प्राणायाम करें; इससे कुण्डलिनी का ऊर्ध्वगमन होकर मेरुदण्ड के अन्दर सुषुम्णा में चींटियों के रेंगने जैसा सुखद स्पर्श, स्तब्धता, कम्प आदि की प्रतीति होने लगती है।

इसका मुख्य लाभ यही है कि--शीघ्र ही प्राणोत्थान होकर कुण्डलिनी जागृत हो उठती है। जिसके फलस्वरूप चक्र-विज्ञान का मार्ग खुल जाता है; आलस्य-प्रमाद-जड़ता आदि दोष भाग ही जाते हैं।

(८) **योनि-मुद्रा**---सिद्धासन से बैठकर, हाथों के अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से नेत्रों को, मध्यमाओं से दोनों नथुनों को और अनामिका तथा कनिष्ठा से दोनों ओष्ठों को दबा लें; इससे पूर्व 'काकी मुद्रा' द्वारा श्वास को अन्दर खींचकर,उदरगत 'अपान' से मिलाएँ और उक्त रूप से सब द्वार बन्द करके ॐ का मानसिक जप करते हुए ऐसा दृढ़ संकल्प करें कि जागी हुई कुण्डलिनी चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रदल कमल में जा रही है।

इसका लाभ यह होता है कि—प्राण-अपान संयुक्त होकर कुण्डलिनी शक्ति को जगा देते हैं; दिव्य प्रकाश होने लगता है और चक्रदर्शन का उपक्रम बँधने लगता है। अन्त में सफलता, साधक के परिश्रम पर निर्भर करती है।

(९) **उन्मनी-मुद्रा**—पद्मासन पर स्थिरता से बैठकर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें; बिना किसी लक्ष्य के नेत्र खुले रहें और ध्यान आज्ञाचक्र में रहे। संकल्प-विकल्पों का अभाव करके स्तब्ध होकर बैठे रहें। ध्यान ब्रह्मरन्ध्र में भी रख सकते हैं।

दूसरी विधि यह है—नेत्र अर्धखुले रखते हुए दृष्टि को नासाग्र पर, अथवा

नासिका से १२ अंगुल की दूरी पर अलक्ष्य रूप में स्थिर कर दें; अब शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन की गति को रोकता हुआ, संकल्प-विकल्प का अभाव करता हुआ योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाय। इस मुद्रा के ये लाभ हैं—

इसके अभ्यास से शरीर की विस्मृति होने लगती है, प्राण-इन्द्रियाँ-मन मूर्च्छित से हो जाते हैं; प्रत्याहार अवस्था होकर बुद्धि स्थिर हो जाती है; तब समाधि होने लगती और ज्ञान-प्रकाश का उदय तथा ऋतम्भरा का आभास होने लगता है।

(१०) **शाम्भवी-मुद्रा**—अपने सिद्ध किए आसन से बैठकर समकाय-ग्रीव हो जाएँ और पलकों को बिना हिलाए, नेत्रों को खोलकर, अलक्ष्य रखकर खुले रखें। ध्यान, हृदय में स्थित लिङ्ग शरीर के पदार्थों में रखें; अथवा सर्वथा लक्ष्य-हीन रखते हुए खुले रखें। त्राटक का जितना अधिक अभ्यास होगा, उतनी ही सफलता इस शाम्भवी मुद्रा के करने में होगी। शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि इसी में है कि नेत्र खुले रहने पर भी बाह्य पदार्थों को नहीं देखते, ध्यान शरीर के अन्दर किसी लक्ष्य पर होता है; इससे हृदयस्थ पदार्थों का विज्ञान शीघ्र होने लगता है।

इसकी सिद्धि से उन्मनी मुद्रा के लाभ प्राप्त होते हैं; मन-बुद्धि शान्त होकर, योगी का ध्यान हृदय में प्रविष्ट होने लगता है तथा समाधि-सिद्धि के साथ हृदयगत अन्तःकरण के तत्त्वों का साक्षात्कार सुगम बन जाता है; देह की निश्चेष्टता से उत्पन्न देहाध्यास की स्थिरता से मन स्वयं लीन हो जाता और आनन्द बढ़ने लगता है। नेत्र मूँदकर ध्यान करने की अपेक्षा इस मुद्रा में स्थित होकर ध्यान करने का फल कई गुणा अधिक कहा गया है।

(११) **काकी-मुद्रा**—कटि तथा ग्रीवा को सम रखते हुए सिद्धासन पर बैठकर, ओष्ठों की सहायता से जीभ को काक-चञ्चुवत् बनाकर, इससे पूरक करके आन्तरिक कुम्भक करें; अब हाथ के अँगूठों से दोनों कान, तर्जनियों से दोनों नेत्र, मध्यमा और अनामिका से नासिका के दोनों छिद्र और कनिष्ठिका से मुख बन्द करें और यथाशक्ति कुम्भक रखकर दक्षिण नथुने से शनैः शनैः रेचक करें। इसी प्रकार समस्त क्रिया करके वाम-नथुने से प्रश्वास निकालें। इसे बार-बार करें।

इससे पित्त शान्त होकर अम्लपित्त के विकार नष्ट होते हैं, दिव्य ज्योति की उत्पत्ति तथा बाह्यनेत्र-दृष्टि की वृद्धि भी होती है।

(१२) **अश्विनी-मुद्रा**—सुखासन से बैठकर गुदा को अन्दर की ओर सिकोड़ें फिर बाहर को फैलाएँ—इस प्रकार निरन्तर संकोच-विकास करें। जैसे गौ-भैंस अथा विशेष रूप से अश्व (घोड़ा) मल त्यागते समय गुदा का आकुंचन

और प्रसारण करता है—इसी प्रकार कई मिनिट तक करें।

इस मुद्रा के अभ्यास से ये लाभ होते हैं—

प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी की जागृति शीघ्र होती है, मूलाधार चक्र की शुद्धि होकर इसके विज्ञान में सुगमता, यहाँ प्रकाश की उत्पत्ति भी शीघ्र होती है।

(१३) **त्रिबन्ध-मुद्रा**—यथाविधि पद्मासन से बैठकर, किंचित् पूरक करके, प्रश्वास को समान-प्राण के साथ मिलाएँ और मूलाधार से अपान को ऊपर उठाकर तीनों बन्धों को लगाते हुए, इस आन्तरिक वायु को सुषुम्णा में प्रविष्ट करने का प्रयत्न करें। इसी अवस्था में रहकर, दोनों हथेलियाँ दोनों पार्श्वों में दाईं-बाईं ओर भूमि पर रखकर, नितम्बों को उठा-उठाकर भूमि पर धीरे-धीरे पटकें—ऐसा कई बार करें। इसमें लगाने वाले बन्ध इस प्रकार लगाए जाते हैं—

(१) जालन्धर बन्ध, कण्ठ को दबाकर ठोड़ी को स्कन्धास्थियों के मध्य-स्थान 'हँसली' अथवा कण्ठ के नीचे स्थित गढ़े 'कण्ठ-कूप' में लगाते हैं जिससे कण्ठ-द्वार प्रायः बन्द-सा हो जाता है।

(२) उड्डियान बन्ध, उदर को सिकोड़कर नाभि को पीछे मेरुदण्ड के साथ लगा देने से बनता है।

(३) मूलबन्ध, गुदा सहित अण्डकोशों को दृढ़ता से ऊपर की ओर आकर्षित करने से लगता है।

ये तीनों बन्ध स्थान-स्थान पर आसन, प्राणायाम और मुद्राओं में प्रयुक्त होते हैं। त्रिबन्ध मुद्रा के लाभ ये हैं—

सुषुम्णा में प्राण शीघ्र प्रवेश करने लगता है, कुण्डलिनी शीघ्र चैतन्य होकर ऊर्ध्व गमन करने लगती है, चक्र भी धीरे-धीरे प्रकाशित होने लगते हैं।

(१४) **मातङ्गिनी-मुद्रा**—जल में खड़े होकर अथवा रहकर ही किसी टूटीवाले कमण्डल या किसी पात्र में जल भरकर, उसे नाक से लगा अन्दर खींचें और मुख से बाहर निकाल दें। पश्चात् मुख में जल भरकर मुख बन्द करके नासिका-छिद्रों से बाहर निकाल दें; मुख को जल से पूर्ण भरकर, प्राण से इसे (जल को) धक्का देकर, पिचकारी के समान दोनों नथुनों से निकाल दें। इस प्रकार कई बार करें। इस मातङ्गी-मुद्रा के ये लाभ हैं—

इससे मस्तिष्क, ब्रह्मरन्ध्र और नेत्रों को तृप्ति मिलती है, तथा इन अङ्गों के रोग—सिर पीड़ा, नेत्र दुखना, गले के अन्दर नज़ला गिरना, जुकाम आदि रोग नहीं होते; शेष लाभ जलनेति के ही समान हैं। शीघ्र केश न पकना, दृष्टि की स्थिरता, मुख पर तेज तथा कान्ति छा जाती है।

(१५) **योग-मुद्रा**—बद्धपद्मासन लगाकर रेचक करके बाह्य कुम्भक कर लें, अब तीनों बन्ध लगाकर, धीरे-धीरे सामने को झुकते हुए मस्तक को पृथिवी से लगा दें, वक्ष-स्थल ज़ितना झुक सके झुकाए रखकर, इसी स्थिति में अधिकाधिक रहें। पूरक करते समय शिर को उठा लें, पुनः रेचक पूर्वक बाह्य कुम्भक करते हुए पूर्व स्थिति में ठहरें—कई बार इसे दोहरा लें। इसके लाभ ये हैं—

शरीर स्वस्थ, प्रसन्न रहता है, नाड़ियों की शुद्धि, प्राणों की शक्ति में वृद्धि होती है, जठराग्नि प्रदीप्त, धारणा, ध्यान समाधि में प्रगति होती है; अन्तःकरण पवित्र बनता है।

हठयोगान्तर्गत षट्कर्म तथा उन मुद्राओं का वर्णन ही हमने किया है जो राजयोग के लिए उपकारी समझी हैं। ये सब बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग योग को शीघ्र सिद्ध कर देते हैं। शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण को ये शुद्ध करके आत्म-दर्शन की योग्यता साधक को प्रदान करते हैं।

ॐ

बहिरङ्ग-योग

पाँचवाँ अंग—प्रत्याहार

प्रत्याहार के निम्न लक्षण भी ग्रन्थों में मिलते हैं :—

(१) बहिरिन्द्रियाणां स्वविषयैर्मुख्येन अवस्थानं प्रत्याहारः ।

अर्थात् बाहरी स्थूल इन्द्रियों को निज विषयों से विमुख करके स्थिर करना, प्रत्याहार होता है। (२) विष्णु पुराण में—

इन्द्रियाणि प्रसक्तानि यथास्वं विषयेष्विह ।
आहृत्य यन्निगृह्णाति प्रत्याहारः स उच्यते ॥

स्व विषयों में प्रसक्त इन्द्रियों का निग्रह करना ही प्रत्याहार है।

(३) स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां 'प्रत्याहारः' ।

—योग० २-५४

हमें यह लक्षण अभीष्ट है—मान्य है। परन्तु—**'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।'** —योग, ३-७ इस सूत्र पर भाष्य है—**तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः, पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पंचभ्यः साधनेभ्य इति ।**

अर्थात् ये धारणा-ध्यान-समाधि तीनों क्रमशः सम्प्रज्ञात के अन्तरङ्ग अङ्ग हैं और धारण-ध्यान आदि की अपेक्षा ये यम आदि पाँचों बाह्य अङ्ग हैं। ऐसा ही वाचस्पति मिश्र आदि ने भी स्वीकार किया है। अतः सूत्रकार के मन्तव्य के अनुसार, ये यमादि पहले पाँच अङ्ग, अष्टाङ्ग योग के बाह्य अङ्ग हैं, इस प्रकार पाँचवाँ 'प्रत्याहार' भी बाह्य अङ्गों में सम्मिलित है। योग सूत्र, २-५४ में आए 'चित्त' पद का अर्थ हम 'बुद्धि' करते हैं; इस प्रकार सूत्रार्थ होता है—अपने-अपने विषयों के साथ सम्पर्क न करके, इन्द्रियों का बुद्धि के स्वरूप का अनुकरण-सा करना प्रत्याहार है। सूत्र में बुद्धि को चित्त में समाविष्ट करके 'चित्त' पद रख दिया है। हम अन्तःकरण चतुष्टय को—मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त के रूप में पृथक्-पृथक् मानते हैं; क्योंकि त्रिगुणों की तारतम्यता के कारण इनके निर्माण तथा गुण-कर्मों में भी स्पष्ट भेद

पाया जाता है। जैसे—बाह्य-स्थूल ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का विषय-ज्ञान के आदान प्रदान में ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सूक्ष्मेन्द्रियों के माध्यम से, मन तथा बुद्धि के साथ सीधा सम्पर्क होता है; यह समस्त क्रिया इस प्रकार होती है——स्थूल विषयों के ज्ञान को लेकर ये स्थूल इन्द्रियाँ कपालगत ज्योतिर्मय सूक्ष्म-इन्द्रियों के मन को देती हैं; मन, बुद्धि को समर्पित करता है; बुद्धि इन समस्त विषयों का निर्णय करके, इस निर्णय को सूक्ष्म बनाकर, नीचे हृदय में स्थित 'कारण शरीर' के अङ्गभूत चित्त को संस्कारों के रूप में भेजती जाती है; चित्त इन संस्कारों को संग्रह करता जाता है। इस क्रम-परम्परा में इन स्थूलेन्द्रियों का साक्षात् सम्पर्क मन-बुद्धि के साथ होता रहता है——चित्त तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं होती। एवं निदिध्यासन आदि के समय भी केवल सूक्ष्मेन्द्रियों के साथ ही मन-बुद्धि का व्यापार होता है, बाह्य इन्द्रियों पर इसका प्रभाव न पड़ने से उनमें किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती; इसका परिणाम यह होता है कि खुले होने पर नेत्र सामने उपस्थित रूप को नहीं देख पाते, श्रोत्र सुनते नहीं; हाथ हिल नहीं पाते, पैर चलने में असमर्थ रहते हैं, इत्यादि अवस्था योगी को प्राप्त होने लगती है। तब चित्त आत्मचिन्तन में व्यस्त हो जाता है अथवा निरुद्ध होकर शान्त हो जाता है, फलतः मन-बुद्धि भी शान्त हो जाते हैं; तब इन्द्रियाँ भी अपने स्वामियों को शान्त पाकर, स्वयं भी उनकी स्थिरता का अनुकरण करती हुई, आहार रूप विषयों को ग्रहण नहीं कर पातीं। इस प्रकार इन्द्रियों का आहार रूप अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न जोड़कर (ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने ज्ञान को ग्रहण न करना तथा कर्मेन्द्रियों का अपने कर्म-व्यापारों से निवृत्त हो जाना), शान्त बने मन-बुद्धि के समान शान्त हो जाना, यह प्रत्याहार का स्वरूप है। इस प्रकार योग दर्शनकार ने साधारण रूप से बाह्य-स्थूल इन्द्रियों के व्यापार को लेते हुए 'प्रत्याहार' की गणना भी बाह्य-अङ्गों में कर दी है। याज्ञवल्क्य-संहिता में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों इन्द्रियों के व्यापारों को ग्रहण करके आभ्यन्तरिक अङ्गों में ग्रहण किया है। पहले चार अङ्गों की सिद्धि न होने तक योगी को सूक्ष्म-इन्द्रियों तथा इन सूक्ष्म विषय पंचतन्मात्राओं का ज्ञान नहीं होता; इस ज्ञान के न होने से इनके व्यापारों का ज्ञान भी नहीं होता। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर और सूक्ष्मेन्द्रियों के व्यापारों को दृष्टि में न लाते हुए, उपर्युक्त लक्षण करने से प्रत्याहार, स्थूल-अङ्ग ही रह जाता है। अथवा——

इन्द्रियाणि स्वविषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन् इति प्रत्याहारः।

जब बुद्धि का बाह्य विषयों के साथ उपराग होता है तभी ये इन्द्रियाँ भी विषयों को ग्रहण करती हैं; बुद्धि के उपरत हो जाने पर ये इन्द्रियाँ भी उपराग-

रहित शान्त हुई बुद्धि का अनुकरण (नक़ल) करने लगती हैं—अर्थात् शान्त हो जाती हैं। मधुमक्खियों का दृष्टान्त भाष्यकार ने दिया है कि—ये शहद की मक्खियाँ अपनी 'रानी' का सदा अनुकरण करती है; जहाँ जाकर यह रानी-मक्खी बैठ जाती हैं शेष सभी मक्खियाँ इसे घेरकर बैठ जाती हैं; जब यह उठ खड़ी होती है शेष मक्खियाँ इसके पीछे गमन करती चली जाती हैं। इसी प्रकार इस बुद्धि का अनुकरण भी ये सभी इन्द्रियाँ करती हैं। योगी को चाहिए कि—

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद् ध्रुवम्।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथाऽऽत्मनि॥ —गोरक्ष-पद्धति

अर्थात् जैसे कछुआ अपने मुख, हाथ, पैरों को सिकोड़कर अन्दर छिपा लेता है। वैसे योगी भी प्रत्याहार बल से अपनी सब इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करे। बुद्धि तो विषयानुराग को त्यागकर आत्मानुसन्धान में लग जाती है, परन्तु इन्द्रियाँ बाह्यविषयों से विमुख होकर शान्त-मात्र हो जाती हैं। आत्मा के अभिमुख नहीं होतीं। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर सूत्र में—'अनुकार इव' शब्द दिए हैं—जिनका अभिप्राय स्पष्ट है कि ये बुद्धि की नकल-मात्र करती हैं—कर सकती हैं। बुद्धि के निरुद्ध हो जाने पर इन्द्रियों के विजय के लिए अन्य किसी भी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। जिस योगी की बुद्धि समाहित नहीं होती उसे सावधान किया गया है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। —गीता २-६०; तथा—
वशे यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। —गीता २-६१

अर्थात्—इन्द्रियाँ अति बलवान् हैं। विषयाभिमुख हुए पुरुष को क्षुब्ध कर देती हैं, और मन को भी बलात्हरण करके अपने अनुकूल कर लेती हैं—मन को भी साथ लगा लेती हैं। अतः बुद्धिमान् व्यक्तियों को इन्हें वश में रखना चाहिए। जिसकी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं उसकी बुद्धि भी स्थिर अथवा प्रतिष्ठित हो जाती है। अतः विद्वान् योगी विषयों में विचरण-शील इन्द्रियों को विचार से अथवा हठ या बल सें यत्नपूर्वक वश में रक्खें; तभी योगसिद्धि होती है। यदि एक इन्द्रिय भी विषय-गामिनी बन जायगी तब एक-छिद्रित घट में से जल चू जाने के समान ही, इस ज्ञानी योगी का बौद्धिक ज्ञान-विज्ञान क्षरित होने लगेगा। अतः गीता के आदेश को सदा दृष्टि में रक्खें—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

—गीता २–६७

अर्थात्—स्व-स्व विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों में से जिसके साथ लगकर मन विचरने लगता है, तब उस इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करने में संलग्न मन उस योगी की बुद्धि—ज्ञान को भी हर लेता है; जैसे झील अथवा समुद्र में चलती नौका को पथ-भ्रष्ट करके, झंझावात का प्रबल झोंका, नाविक सहित डुबो देता है—निश्चित स्थान पर नहीं लगने देता। इसी प्रकार विषयानुसारिणी एक इन्द्रिय का अनुसरण करता हुआ यह मन, बुद्धि को भी विचलित करके पथ-भ्रष्ट बना देता है। तथा

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

कठोपनिषद्, वल्ली२, अ० १, ५-६ मं०

एवम् **यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।**
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥

—कठोपनिषद्

अर्थात्—जिस मूढ़ मति का मन बुद्धि के वश में नहीं है उसकी इन्द्रियाँ भी वश में नहीं रहतीं, जैसे बलवान् किन्तु चपल घोड़े, बिगड़कर दुर्बल सारथि के वश में नहीं आते; इतस्ततः खड्ड-खाई में जा फेंकते हैं। परन्तु जो बुद्धिमान् व्यक्ति बलशाली होता है, जिसका मन उसके वश में है, उसकी इन्द्रियाँ वश में रहकर सधे-घोड़ों के समान, बुद्धि-सारथि के आदेशानुसार चलती हैं। जिसका बुद्धिरूपी सारथि सावधान है, मनरूपी लगाम उसके हाथ में अधिकारपूर्वक आई है, इन्द्रिय-रूप घोड़े भी उसके वश में ही रहते हैं। वे श्रेय-पथ के कठिन-दुर्गम पथ में सारथि के आदेशानुसार चलते हुए परम शान्त-विष्णु-पद में रथी—आत्मा को सुरक्षित ही पहुँचा देते हैं। यह उपनिषद् वचन इसी भाव को कह रहा है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

—कठ०, अ० ३, वल्ली २, मं० ६।

कठोपनिषद् के ये छन्द प्रकारान्तर से 'प्रत्याहार' का ही वर्णन कर रहे हैं; बिना इन्द्रिय-निरोध के भव-पाश से मुक्त होना सर्वथा ही असम्भव है। मानव के बन्धन के हेतु ये विषय, और विषयानुगामिनी इन्द्रियाँ ही हैं। जब तक पूर्णरूप से

इनपर आधिपत्य नहीं होगा तब तक प्रत्याहार की सिद्धि भी सम्भव नहीं होगी, तथा प्रत्याहार की सिद्धि के अभाव में योग-सिद्धि कैसे सम्भव बन सकती है ?

जिन विषयों का प्रत्याहार करना है, वे दो प्रकार के हैं—एक स्थूल, जिन्हें योग की भाषा में अदिव्य और दृष्ट भी कहते हैं; दूसरे सूक्ष्म, जिन्हें दिव्य और आनुश्रविक कहते हैं। इन दोनों प्रकार के विषयों से वैराग्य होना आवश्यक है; यदि योग सिद्धि के द्वारा आत्मा-परमात्मा को प्राप्त करके दुःखों से छूटना चाहते हैं। इन दोनों प्रकार के विषयों में नियोजित करनेवाले, मुख्य रूप से ये मन-बुद्धि हैं। विषयों में बने अनुराग का जब तक बुद्धि में से अभाव नहीं होगा, प्रत्याहार भी सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि विषयों में प्रवृत्ति का हेतु बुद्धिगत-विषयानुराग ही है। इसी आशय को लेकर योगदर्शनकार ने इस सूत्र की रचना की है :—

दृष्टानुश्रुविकविषय-वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। —योग, १-१५।

दृष्ट विषय हैं—जो इन स्थूल इन्द्रियों के भोग में आते हैं और संसार में सर्वत्र सबको दृष्टिगोचर होते हैं, तथा जिनका उपभोग नित्यप्रति भोगी से योगी तक और मूर्ख से विद्वान् तक करते हैं। जैसे—गन्ध-सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त पदार्थों को सूँघना; खाद्य-पेय पदार्थ जो छः रसों में से किसी न किसी रस से युक्त होते हैं उनका आहार करना; इसी प्रकार रूप तथा स्पर्शवान् पदार्थ—जिन क सभी उपयोग करते हैं। एवं जड़, जैसे धन-सम्पत्ति-अन्न-पान आदि ऐश्वर्य; तथा चेतन, जैसे माता-पिता, स्त्री-पुत्र, मित्र, शिष्य-गुरु, आदि और पशु-पक्षी आदि जीव-मात्र, ये दोनों प्रकार के पदार्थ भी दृष्ट हैं। दूसरे—आनुश्रुविक वे हैं जो वेद-शास्त्रों को पढ़ने और वृद्ध-मान्य जनों से सुनने में आते हैं; इन्हें सर्वसाधारण मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख सकते, केवल सम्प्रज्ञात-समाधि-सम्पन्न-योगी ही देख और जान सकता है। एवं जिनका सूक्ष्म शरीर के द्वारा उपभोग हो सकता है ऐसे दिव्य-शब्द, दिव्य-स्पर्श, दिव्यरूप-रस-गन्धात्मक हैं, जिन्हें दिव्य शरीर ही भोगता है। इनका सम्प्रज्ञात-समाधि-सिद्ध योगी भी उपभोग किया करते हैं, परन्तु वे योगी ही इनका उपभोग कर पाते हैं जिन्हें पंचतन्मात्राओं पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। इन दोनों प्रकार के भोगों की तृष्णा से निवृत्ति हो जाने की अवस्था का नाम 'वशीकार-संज्ञा' वैराग्य है। इन दोनों प्रकार के भोगों की भावना को लेकर ही, प्रत्याहार को बाह्य तथा आन्तरिक अङ्ग माना है; परन्तु प्रत्याहार की इस अवस्था में पहुँचने तक योगी को न तो सूक्ष्म-पंचतन्मात्राओं का ज्ञान होता है, न उनपर अधिकार ही होता है, तब वह भोगेगा क्या ? और उनसे विरक्त होकर तृष्णा का अभाव भी कैसे करेगा; जबकि योगी को उनका ज्ञान ही नहीं है। अतः स्थूल विषयों का स्थूल

इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध वा उपभोग होना मात्र अर्थ ही साधारण रूप से ग्रहण किया गया है, अतः इस रूप में प्रत्याहार योग का बाह्य अङ्ग ही माना जाने योग्य है, जैसा कि पतञ्जलि ने प्रतिपादित किया है।

वैराग्य चार प्रकार का है--१. यतमान-संज्ञक; बुद्धि में स्थिर राग-द्वेषादि की वृत्तियाँ ही इन्द्रियों को उनके विषयों में प्रेरित करती हैं; इन राग-द्वेषादि से उत्पन्न महान् क्लेशों का बुद्धि-द्वारा विचार कर-करके, दोष दर्शन के द्वारा बुद्धि को रोकना, जिससे बुद्धि विषय-तृष्णावश होकर, इन इन्द्रियों का विषयों में प्रवृत्त करना ही त्याग दे। इस प्रकार के प्रयत्न का अभ्यास करना 'यतमान-वैराग्य' है। २. व्यतिरेक-संज्ञक;—विषयों में दोषदर्शन का विचार करते-करते यह भी देखते जाना कि, निवृत्त हुए तथा विद्यमान बुद्धि के मलरूप दोषों में से इतने मल दूर हो गए हैं; इतने दूर हो रहे हैं, और इतने अभी दूर करने हैं। इस प्रकार निवृत्त तथा विद्यमान बौद्धिक-मलों की गणना करते हुए इन्हें पूर्णरूप से त्याग देने में प्रयत्न-शील बने रहना 'व्यतिरेक-संज्ञा' का वैराग्य है। ३. एकेन्द्रिय-संज्ञक—जिस समय ये राग-द्वेषादि दोष, वृत्तिरूप से बुद्धि को त्याग कर, संस्कार रूप से चित्तस्थ हो जायँ, परन्तु विषयों के सान्निध्य में इन्द्रियों के आने पर बुद्धि को पुनः पुनः क्षुभित करने का यत्न न करें; इसका यत्न करना, एकेन्द्रिय-संज्ञा का वैराग्य है। ४. वशीकार-संज्ञक—दोष-दर्शनाभ्यास से जब दिव्यादिव्य विषयों का सूक्ष्म-रूप, ये संस्कार चित्त से उठकर, वृत्तिरूप बनकर बुद्धि को विक्षुब्ध न करें; तथा विषयों के उपस्थित होने पर भी, शान्त बनी बुद्धि का अनुकरण करती हुई इन्द्रियाँ भी उधर प्रवृत्त न हों; इतनी उदासीनता जब चित्त-बुद्धि-मन-इन्द्रियों में आ जाय तब यह अवस्था 'वशीकार संज्ञा' वैराग्य के नाम से सम्बोधित की जाती है। ये चारों प्रकार के वैराग्य, प्रत्याहार सिद्धि में परम सहायक बनते हैं; इनके अनुष्ठान से इन्द्रियों का उत्कृष्ट प्रकार का वशीकरण हो जाता है।

प्रत्याहार के विषय में ऐसी मान्यता भी है कि--

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

अर्थात्—सब प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करते हैं, स्वभाव के विरुद्ध आचरण—निरोध इसीलिए सफल नहीं होता। दृष्टान्त यह है कि रसना की प्रकृति या स्वभाव ही रस को ग्रहण करना है, जैसे मिष्टान्न को खाकर, योगी हों अथवा भोगी उसे मीठा ही कहेंगे दोनों की रसना की अनुभूति उसे मीठा बतला रही है। जब तक कि रोग विशेष न हो, योगी की रसना मीठे को मीठा, खट्टे को खट्टा ही अनुभव करेगी, यह जल-महाभूत प्रधान रसना, अपने भूतजन्य स्वभाव के विप-

रीत नहीं जा सकती, तब इन्द्रिय-वशित्व का क्लिष्ट व्यापार क्यों किया जाय ? इसका सुन्दर तथा यथार्थ उत्तर गीताकार ने दिया है--

इन्द्रियस्येन्द्रियार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

—गीता, ३-३६ ।

अर्थात्—इन्द्रियों के अर्थ-विषयों में राग-द्वेष सदा रहते हैं; इष्ट—प्रिय विषयों में राग, एवं अनिष्ट—अप्रिय विषयों में द्वेष भाव रहता है। ये राग द्वेष सत्वगुण के विरोधी भाव हैं; अतः सात्विक वृत्तिवाले ज्ञानी और योगियों के शत्रुरूप हैं। इसलिए राग-द्वेष से बचता रहे, इनके वश में न होकर बुद्धि में विकार उत्पन्न न होने दे, राग-द्वेष को बुद्धि की 'वृत्ति' न बनने दे। इष्ट-अनिष्ट विषयों के लिए बुद्धि में बैठे राग-द्वेषात्मक भाव की निवृत्ति करता रहे; अर्थात् कड़वे पदार्थ की प्राप्ति पर उद्वेग तथा मीठे की प्राप्ति पर प्रसन्नता उत्पन्न न होने दे—ये दोनों कार्य-रसों की अनुभूति कर्म इन्द्रियों का है। इस अनुभूति के प्रभाव स्वरूप राग-द्वेष की वृत्ति बुद्धि में न उठने दे–अनासक्त रहे।

बुद्धि में राग-द्वेष पूर्वक ही विषयों का चिन्तन होता है, इस चिन्तन से रंजित हुई बुद्धि अनर्थों का मूल बनती है; राग-द्वेष, बुद्धि के विवेक को नष्ट कर देते हैं; परिणाम स्वरूप ज्ञानी वा योगी पथ-भ्रष्ट हो जाते देखे हैं। अपने पठनकाल का दृष्टान्त स्मरण हो आया। स्वामी भिक्षुजी हमारे साथ ही पढ़ा करते थे; उर्दू-अरबी, हिन्दी-संस्कृत के विद्वान्, शास्त्रार्थ में प्रवीण, प्रतिभाशाली, प्रसन्न-वदन, विरक्त, परन्तु चपल-बुद्धि के संन्यासी थे। बहुत वर्षों के पीछे वे मुझे धर्मशाला-पर्वत में श्वेत वस्त्रों में मिले; वार्तालाप करते हुए पता लगा कि वे अपना नाम-आश्रम बदलकर अब गृहस्थाश्रमी बन चुके हैं। ऐसा परिवर्तन 'राग' के कारण आया था। अतः राग-द्वेष के प्रभाव से बुद्धि को ज्ञान तथा बलपूर्वक बचाता रहे; इस अभ्यास से कालान्तर में वैराग्य की स्थिति उत्पन्न हो जायगी—जिससे प्रत्याहार-सिद्धि मिलेगी। एक आख्यान है, पराशर ऋषि एक बार नौका में बैठे नदी पारकर रहे थे; नाविक की यौवन-प्राप्त पुत्री भी उसी नौका में बैठी थी; मोह वश वे उस युवति पर आसक्त हो गए थे। इस प्रकार गगन में स्थित पुरुषों को भी ये राग-द्वेष भूमि पर ला पटकते हैं; अतः महाबली इन राग-द्वेष से बचते रहने में ही कुशल है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ —गीता, २-६४

अर्थात्—राग-द्वेष को लेकर ही इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों में

हुआ करती है; परन्तु जिनकी बुद्धि आत्मा के वश में हो गई है अथवा आत्मचिन्तन और ब्रह्मचिन्तन में लगी रहती है, ऐसे योगियों की बुद्धि में से ये राग-द्वेष भाग जाते हैं—इनका अभाव हो जाता है। उपनिषद् का कथन है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

—कठ० अ० २, वल्ली ६-१०

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

—कठ०, वल्ली ६-११।

अर्थात्—जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियों सहित मन स्थिर हो जाता है और बुद्धि में भी कोई चेष्टा नहीं होती; यह अवस्था सर्वोत्तम कही जाती है; ऐसी अवस्था का नाम ही योग कहा जाता है। ऐसी समाहित स्थिति को प्राप्त हुआ योगी जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। ये श्लोक भी 'प्रत्याहार' का ही वर्णन अपने शब्दों में कर रहे हैं। इस प्रकार यह प्रत्याहार, आभ्यन्तरिक योग साधना का प्रथम द्वार है; इसके सिद्ध होने पर धारणा-ध्यान-समाधि की सिद्धि शीघ्र हो जाती है।

प्राणायाम भी प्रत्याहार-सिद्धि में सहायक सिद्ध होता है। कोई एक साधक मन्त्र-जप में तल्लीन होना चाहता है; किसी एक विषय में बना अनुराग उसे स्मृति रूप में प्रकट होकर एकाग्रता नहीं होने देता। ऐसी अवस्था में जब हठ-बल-विचार भी सहायक न बन रहे हों, साधक प्राणायाम करना प्रारम्भ कर दे; जप-धारणा-ध्यान से प्राणायाम की प्रक्रिया स्थूल है, अतः इस क्रिया में लगे मन-बुद्धि पूर्व विचार को छोड़कर—भूलकर पुनः इस जप में सरलता से आ जायँगे। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं, इस कारण इन्द्रियाँ प्राणायाम से शीघ्र वश में आने लगती हैं; क्योंकि प्राण का सम्बन्ध सब इन्द्रियों के साथ है अतः प्राण-निरोध का प्रभाव इन्द्रियों पर भी पड़ता है, इसके प्रभाव से वे भी निरुद्ध हो जाती हैं और विषयों में गमन करती इन्द्रियाँ उधर नहीं जातीं। इस रूप में प्राणायाम इंद्रिय-निरोध में परम सहायक होता है। स्मृति आदि धर्म-निरूपक शास्त्रों में प्राणायाम की महिमा इसीलिए कही गई है; जैसे—

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्। —मनुः, ६-७१

जैसे स्वर्ण-रजत आदि धातुओं के दोष भट्टी में तपाने से दूर हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा प्राण-निरोध करने से विषयानुसारिणी इन्द्रियाँ,

विषयासक्ति को त्यागती जाती हैं। इसीलिए ऐसा निर्देश है कि—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्। —मनु: ६-७२

प्राणायाम के द्वारा राग आदि का नाश करे और धारणाओं के द्वारा पाप का, प्रत्याहार के द्वारा विषयों के प्रति बने इन्द्रियों के आकर्षण का—सन्निकर्ष का तथा ध्यान की प्रबलता से नास्तिकता, क्रोध, लोभ, असूया आदि दुर्गुणों का नाश करे। मनस्वी योगी को प्रत्येक इन्द्रिय के विषय को वश में करने का यत्न अति सावधानी से करना चाहिए। अन्यथा एक इन्द्रिय के विषय की प्रबलता भी महा कष्ट का कारण बन जाती है। जैसे—अमृतसर की घटना है, 'रामु' नाम के सन्त, महेश्वर के तालाब पर काम-जित् बनने के लिए २६ वर्ष तक खड़े होकर तपस्या करते रहे; जब इतने पर भी 'काम' पर अधिकार न पा सके तो नगर में एक कूप के पास खड़े होकर, पास से आती-जाती नारियों को हाथ के संकेत से बुलाता, मुख से कुछ बोलता नहीं था। ऐसी कुचेष्टा को देख बालक-युवा सभी उसे गालियाँ देते, ईंट, पत्थर, जूते तक मारते, पर वह प्रत्युत्तर में कुछ न कहता—न करता; विशेषता यह दिखाई देती थी कि इस मार-पीट से, गाली-गलौच से भी मुख पर कोई विकार न आता। एक दिन मैंने यह सब कुछ करने का कारण पूछा तो यह उत्तर दिया कि—**'कामजन्य संस्कारों के नाश के लिए'**। मैंने फिर कहा—ये तथा अन्य संस्कार भी, कुवासनायें तो विचार-ज्ञान से ही दूर हो सकती हैं; इस पर उसने कहा कि—उपस्थेन्द्रिय का संयम करते २६ वर्ष जब हो गए हैं और यह अधिकार में न आई तब यह गालियाँ-मार-पीट तथा अन्य सब प्रकार का कष्ट सहन करके इसपर विजय पाने की चेष्टा कर रहा हूँ; बुद्धि को 'सीख' दे रहा हूँ कि एक विषय के वश में होकर तो यह सब भोगना पड़ रहा है तब अन्य विषय जब प्रबलता पकड़ेंगे तब क्या गत बनेगी? इस उत्तर से तथा अन्य व्यवहार से, जैसे १० दिन बीत जाने पर भूखा रहकर कभी किसी से कुछ न माँगना, मौन रहना, कहीं न घूमना, शीत हो वा गर्मी किसी ने कपड़ा पहनाया उढ़ा दिया, तो पहन-ओढ़ लिया अन्यथा पड़े रहना आदि से मेरी उनमें अतिश्रद्धा होगई—वे सिद्ध से प्रतीत होने लगे। पहले तो नगर निवासी उन्हें पागल ही कहते रहे, पर उनके इस तपोमय शांत जीवन से प्रभावित होकर नगर-वासियों ने शलाखों वाला जंगला-सा बनवाकर उसमें बन्द कर दिया। इनकी बाह्य अवस्था पशु-सम हो गई थी—शौच के लिए जब नाली पर बैठा देते तो घण्टों हाथ धोते-धोते बीत जाते, पशुओं के चबच्चे में ही पानी पी लेते, हिन्दू-मुसलमान, भंगी-चमार जो कोई भी भोजन करा जाता, कर लिया करते—कहीं कोई भेद-

भाव नहीं दीखता था। जंगले में बन्द कर दिए जाने पर नीची दृष्टि किये बैठे-लेटे एक ही वाक्य जपते सुना गया **'चेतन है सो भ्रम में पड़ा हुआ है।'**—इस प्रकार एक-एक विषय पर विजय पाने के लिए, मैंने अनेक महात्माओं को कठिन तप करते देखा है। अतः विषयों के भोगों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति ही सब अनर्थों तथा क्लेशों की मूल है; इसीलिए गीताकार ने लिखा है—

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञान नाशनम् ॥ ——गीता ३-४१

हे भरत-ऋषभ! तू सर्वप्रथम इन इन्द्रियों को वश में करके, पापों में प्रवृत्त करने वाले पाप रूप काम (कामना-कामवासना) का दमन कर; क्योंकि यह ज्ञान —जड़-चेतन का सामान्य ज्ञान तथा विज्ञान—समाधि द्वारा साक्षात्कार किए अनुभव को नष्ट करने वाला है। तथा—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्। ——गीता, ३-४३

हे महाबाहु अर्जुन! तू इस काम रूपी बली शत्रु का नाश कर दे——यद्यपि यह सबको प्रिय लगता है। इन्द्रियों में दो अतिबलवती हैं, ज्ञानेन्द्रियों में रसना और कर्मेन्द्रियों में उपस्थ; यथासम्भव इन पर सर्वप्रथम विजय प्राप्त करना चाहिए। इनके विजित हो जाने पर दूसरी इन्द्रियों का विजय करना सरल होजाता है। एक वार कलमी शोरा, गंधक, नौसादर, फिटकरी, यवक्षार का तेल बनाया था, यह पाचनशक्ति वर्धक होता है। इसको शीशी में बन्द करके, रखकर मुझे इसकी स्मृति ही नहीं रही; कई वर्ष पीछे अचानक इसको देखा, यह तेज़ाब-सा बन गया था। मैंने इसकी दो बूँदें ही जीभ पर रखी थीं कि जिह्वा की रसना शक्ति ही समाप्त सी प्रतीत होने लगी; लगभग ४-५ मास तक किसी रस का ज्ञान ही नहीं हुआ, जो कुछ भी खाता था मिट्टी-सा लगता था। रसों की स्मृति भी लुप्त-सी होने लगी; तब ध्यान आया कि प्रत्याहार-सिद्धि तभी समझनी चाहिए जब इन्द्रियों की ऐसी दशा हो जाय; देख लिया था कि क्षुधा-निवृत्ति तो बिना स्वाद लिए भी हो जाती थी और सदा हो सकती है। इसी भाँति कर्मेन्द्रिय उपस्थ के विषय का विजय कर लिया जा सके तो आधा संसार विजित हो जाता है—ऐसा 'सन्त रामु' ने कथन किया था।

स्वेच्छाचारिणी इन्द्रियाँ नरक, तथा निगृहीत इन्द्रियाँ स्वर्ग देने वाली होती हैं। प्रत्याहार-सिद्धि का फल योग कहता है—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणम्। २-५५।

अर्थात् प्रत्याहार से इन्द्रियों पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। आशा है

कल्याण के इच्छुक पूर्वोक्त आचरण करके आत्मोद्धार करेंगे ।

उपसंहार—उपसंहार रूप से इस शास्त्र का तात्पर्य इस प्रकार कहा जा सकता है। लघु-सी कुटीर से लेकर महान् प्रासाद वा महल तथा विशाल दुर्गों के निर्माण के लिए दृढ़तर आधार-शिला अथवा नींव की जिस प्रकार आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भौतिक हों अथवा आध्यात्मिक-विभूतियों का प्रासाद वा दुर्ग निर्माण करने के लिए, अष्टाङ्ग-योग के 'यम-नियम' नींवरूप हैं—आधार-शिला हैं। यह भी प्रायः सभी जानते हैं कि नींव जितनी दृढ़ बनेगी, उसके ऊपर बनने वाला निर्माण में उतना ही सुदृढ़ तथा चिरस्थायी होगा। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए 'यम-नियमों' की गणना बहिरङ्गों में की गई है। परन्तु अदृश्य नींव के समान इनकी विशेष महत्ता है, और इनका परिपालन करना अनिवार्य है। क्योंकि इनके आचरण का प्रभाव 'आत्मदर्शन' पर पड़ता है। एवं यह भी सत्य है कि समस्त साधनाओं के लिए स्वस्थ देह, बलिष्ठ प्राण और सधी-इन्द्रियों की आवश्यकता है। इस बात को दृष्टि में रखकर आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के आचरण पर विशेष-बल दिया गया है। आसन जहाँ ध्यान-समाधि के काम में आते हैं उसी प्रकार ये अनेक आसन शरीर को विशेषरूप से स्वस्थ तथा बलिष्ठ बनाते हैं। परन्तु योग में प्रगति करने के लिए यह शारीरिक बल ही पर्याप्त नहीं होता। जब तक इसका मुख्य आहार प्राण, बलिष्ठ न हो। अतः प्राण को बलिष्ठ बनाने के लिए 'प्राणायाम' का आविष्कार किया गया। देह तथा मन के मध्य में प्राण, माध्यम हैं। ज्ञान-कर्म के सम्पादन का समस्त कार्य, प्राण से बना 'प्राणमय कोश' ही करता है। अतः मन के साथ भी प्राण का सम्बन्ध है, और देह में रहने वाली इन्द्रियों के साथ भी; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय में प्राण व्यापक है, शरीर में तो है ही। अतः प्राणायामों के अभ्यास से शारीरिक पुष्टि और शुद्धि के साथ इन्द्रियों की शुद्धि, पुष्टि, निर्मलता भी होती है, और मन पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है। इसीलिए सभी आप्तजन इस बात पर सहमत हैं कि यह मन यद्यपि महाशक्तिशाली, अव्याहतगति-युक्त, देश-काल को सीमित बना देने वाला, दिव्यादिव्य पदार्थों को ग्रहण करने में समर्थ—इनका रचयिता, इन्द्रियों का अधिराज, समस्त प्राणियों को नचाने वाला होकर भी अतिचपल तत्त्व है—इसे **'वायोरपि सुदुष्करम्'** कहा है। बिगड़ा हुआ विक्षिप्त मन, अपनी स्वामिनी 'बुद्धि' के निर्णय की अवहेलना करके मन-मानी करने पर तुल जाता है, उतारू हो जाता है जिससे मनुष्य अशान्त, किंकर्तव्य-विमूढ़, शोकाकुल हो जाता है। मन की दुर्दमनीय शक्ति का लोहा सभी उपासकों ने माना है। विनय-पत्रिका में तुलसीदास जी ने विनय की है—

मेरो मन हरि जू ! हठ न तजै ।
निसि दिन नाथ ! देहुँ सिख बहुविधि, करत स्वभाव निजै ।।
मैं हार्यो करि जतन विविध-विधि, अतिसै प्रबल अजै ।।
तुलसीदास बस होई तबहि जब, प्रभु प्रेरक बरजै ।। ८९ ।।

यहाँ पर ही तो इति-श्री नहीं है । परम आप्त यजुर्वेद में 'शिव संकल्प-मन्त्र' हैं, जिनमें मन की शक्ति का वर्णन करते हुए, इसे शिव संकल्प बनाने के लिए भगवान् से प्रार्थना की गई है। परन्तु धन्य हैं वे महाभाग जिन्होंने इसे भी 'किंकर' बना डाला है ।

योग ही ने कहा है कि—प्रथम साधन **'प्राणायाम'** से प्रकाश पर पड़ा आवरण हट जाता है, और मन धारणाओं में—निश्चित किये स्थान में ठहरने लगता है। (योग, २-५२, ५३)। और दूसरा साधन है—**'अभ्यास तथा वैराग्य'** (१-१२), इससे तो मन, बुद्धि, चित्त तक निरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार साधनाओं से वशीकृत मन, परम कल्याणकारी बन जाता है और अपनी प्रजा—इन्द्रियों का शासक भी ।

शासक का अनुकरण ही प्रजा प्रायः किया करती है, ऐसा ही देखने में आता है । इसी परम्परा में हम देखते हैं कि इन्द्रियाँ सुपथ पर तभी चल सकती हैं जब मन सुसंस्कृत हो, मन तभी सुसंस्कृत तथा सुपथगामी होगा जब बुद्धि विवेक-सम्पन्न हो, बुद्धि तब ही उत्कृष्ट तथा मन को सुपथगामी बना सकेगी जब चित्त स्वयं आत्मा के अधीन रहकर विवेक-वैराग्य युक्त होगा । इस बहिरङ्ग योग का अधिकार इन्द्रिय तथा मन तक सीमित है; अतः प्राणायाम-वशीकृत मन, प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों पर वशित्व प्राप्त कर लेता है। इन्द्रियों पर इतना अधिकार हो जाना जिससे इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारिणी न होकर, कल्याण पथ पर सधे-अश्वों के समान मानव-देह रूप रथ को ले चलें, यही प्रत्याहार का स्वरूप है। प्रत्याहार-सिद्धि के लिए इन्द्रिय दमन को प्रथम साधन कहा जा सकता है, यह स्थूल साधन है। बाह्यजगत् से स्थूल भोग सम्पादन करने के लिए ही इन्द्रियों को बाह्यमुखी बनाया गया है; इन्हें बाहर से भला-बुरा जैसा भी विषय-ज्ञान रूप भोग मिलता है उसे लेकर ये भोक्ता की ओर दौड़ पड़ती हैं; अनादिकाल से यह मनुष्य अपनी भोग-लिप्सा इन्द्रियों द्वारा पूर्ण तृप्त करता आया है अतः इनका बहिर्गमन का स्वभाव अतिदृढ़ हो गया है। इस स्वभाव में शिथिलता 'दमन' से आती है । इन्द्रिय-दमन पूर्ण सफल उपाय नहीं है अतः इन्द्रिय-शमन का उपाय ग्रहण किया जाता है; क्योंकि दमन की अवस्था में अपने स्वभाव वश उच्छृङ्खल घोड़ों के समान, दमन की रज्जु

तुड़ाकर ये अपने चारे—विषयों की ओर प्रायः दौड़ती रहती हैं। जैसे रोगी यह जानता हुआ भी कि अमुक रसयुक्त पदार्थ मुझे हानि करेगा, स्वादवश खा लेता है और रोग को बढ़ाता चला जाता है। किसी विषय की ओर अनावश्यक रूप से आकर्षित होकर सेवन करते रहना प्रायः दुर्बल देह तथा उच्छृङ्खल इन्द्रियों के कारण होता है। अतः इन्द्रियों की उच्छृङ्खलता को शान्त करने के लिए विवेक की भी आवश्यकता होती है। मन तथा इन्द्रियों की स्वामिनी बुद्धि जब विषय-दोष-दर्शन से विषयानुराग त्यागने लगती है—तब मन-इन्द्रियों पर भी इस उपरति का प्रभाव पड़ने लगता है और चित्त पर भी। विषय-दोष दर्शन के अभ्यास की दृढ़ता से बुद्धि, बाह्य विषयों से विरक्त तथा अन्तःज्ञान की ओर जितनी अनुरक्त होती जाती है, प्रत्याहार का बाह्य रूप उतना ही सिद्ध होता जाता है। परन्तु प्रत्याहार की पूर्ण सिद्धि तभी हो सकती है जब कि विषयों की उपस्थिति होने पर भी—इन्द्रिय रूप घोड़े अपने आहार रूप विषयों की ओर न भागें।

परन्तु एक अन्य वस्तु भी है जो प्रत्याहार-सिद्धि में बाधक बना करती है, उसे 'प्रारब्ध' कहते हैं। जन्मान्तरों से एकत्रित हुईं, इन्द्रियों के आहार रूप विषयों के रसास्वाद की वासनाएँ चित्त रूपी भण्डार में सुरक्षित पड़ी रहती हैं। वे निमित्त पाकर यदा-कदा जागरित हो-होकर बुद्धि-मन के द्वारा इन्द्रियों को बलात् विषयोन्मुख बनाती रहती हैं; तब मनुष्य हानि-लाभ को समझते हुए भी प्रवृत्ति में फँसकर दुष्कर्मों में प्रवृत्त रहता है। दुर्योधन के कथनानुसार—**'देवेन केनापि हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'** की वास्तविकता यह है कि यह प्रारब्ध संस्कार रूपी 'देव' है जो कर्म-विपाक के अनुसार प्रत्येक जीव को दुष्कर्म की ओर प्रेरित करता है और इस भोगलिप्सा को मनुष्य इन्द्रियों द्वारा पूर्ण करता है। इस भोग-लिप्सा के जाग्रत् होने पर बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी-तपस्वियों का ज्ञान-ध्यान-तप निष्फल हो जाता देखा गया है। यहाँ पर बुद्धि को बाह्यविषयों में दोष-दर्शन के अभ्यास से फिर अन्दर से विषय-लिप्सा निवृत्त हो जाती है। योग का आदेश है—ध्यान बुद्धि के द्वारा निश्चय करके विषयों की स्थूल वृत्तियों को त्यागें—नष्ट करें (२-११) और संस्कारों को प्रसंख्यान की अग्नि से दग्ध बीज बना दें (२-१०)। इस दोहरे उपाय से प्रत्याहार शीघ्र सिद्ध होता है।

धारणा-ध्यान-समाधि संयम द्वारा प्राप्त योग-विभूतियों का प्रासाद निर्माण करने के लिए, प्रत्याहार रूपी दृढ़ नींव की आवश्यकता है; अतः लौकिक अभ्युदय के इच्छुक और पारलौकिक मोक्षार्थियों के लिए प्रत्याहार सिद्धि की प्राप्ति आवश्यक है।

इत्यलम्।

ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१५	स्थौर्य	स्थैर्य
४	२१	यम दशः	यमा दश
१३	५	'प्राणधान्निवृत्ति'	'प्राणाघातान्निवृत्ति'
१४	५	नियर्ण	निर्णय
१७	७	घातकाः	घातकः
१८	४	दृष्म्ट,	दृष्टम्,
१८	२१	इतिराणि	इतराणि
३०	११	स्वस्व	स्वस्य
३४	२	अहिंसायां	अहिंसया
३४	२२	विषयान् ध्यायतो	ध्यायतो विषयान्
३६	२३	इमा ञ्च मा च	इमाञ्च माञ्च
३६	३०	सेवन्ते	सेव्यन्ते
३७	१५	गोरक्षा पद्धति	गोरक्ष पद्धति
३७	२६	भवेद् वशी	भवद्वशी
३६	२६	विषयणां	विषयाणां
४०	२१	च भुक्त्वा	च दृष्टवा च भुक्त्वा
४३	१६	चार्चनम्	तथार्चनम्
४४	१६	गाजनी	गाचनी
४४	२८	शुचि	शुद्धि
४५	१६	याचक	पाचक
४७	२३	लपस्यामहे	लप्स्यामहे
४८	१४	कश्चिदा	काचिदा
४८	३१	कट	कटु
५०	१७	व्रतानिश्चैव	व्रतानि चैव
५०	१७	सान्तपादीनि	सान्तपनादीनि
५	१२	इष्ट वस्तुषु	दृष्टवस्तुषु
५७	१	सिद्धिर्शुद्धि	सिद्धिरशुद्धि
६०	१२	परगगुरु	परमगुरु
६२	३	धृति जियते	धृतिमान्नियते
६२	४	माप्नोति उत्तमाम्	माप्नोत्यनुत्तमाम्
६३	३	मन्येतत्त्ववित्	मन्येत तत्त्ववित्
६३	२०	शम्भुवश्च	शम्भुश्च

६३	२१	स्तोंत्रर्दव	स्तोत्रैर्दव
६५	१	योयस्त्रयो	योगास्त्रयो
६६	१८	भगवत—	भगवद्-
६६	२०	चेत्सा	चेतसा
६८	२०	आशा है।	आशा है,
७१	१	जानुवोरन्तरे	जानुनोरन्तरे
७५	७	सुषम्ना	सुषुम्णा
७९	५	कुम्भ	कुम्भक
७९	१९	पाष्णी	पार्ष्णि
९१	६	जलोद,	जलोदर,
९७	३	आशा	आकाश
९८	३	पर परस्पर	पर रख कर परस्पर
१०७	२१	नहीं हूं	नहीं—अधिक से अधिक १५-२०मिनट
१०७	२९	शीर्षा	शीर्षासन
१०८	२९	इन	सूर्य नमस्कार की इन
१०९	३३	स्पूर्ति	स्फूर्ति
११२	१३	पूर्वोचान	पूर्वोत्तान
११४	५	यथा	यथाशक्ति
१२१	३	प्रायः	यथाशक्ति
१२६	६	रखें	वर्त्तें
१२९	१	अष्टवक्र	अष्टावक्र
१३७	१३	वनाकर	बनाता,
१४०	१०	इससे	इसे
१६०	८	पूर्वक	से
१६१	१४	प्राणों	प्राणों के
१६३	१	तोलांगूल	तोलांगुल
१६७	१०	कुम्भक	सहित-कुम्भक
१७१	१२	करके	सीधा करके
१८१	२	श्वास	प्रश्वास
१८१	४	स्फर्ति	स्फूर्त्ति
१९१	९	अकुञ्चन	आकुञ्चन
२०२	३१	नः	पुनः
२०६	१३	उज्जायी	उज्जयी
२४१	२०	१२ अंगुल	१२ नम्बर
२४३	१०	लिंग शरीर	कारण शरीर

